वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

SW-12

भारतीय सामाजिक समस्याएँ: अवधारणा ,कारण एवं परिणाम

Indian Social Problems: Concept, Causes and Consequences

अनुक्रमणिका

इकाई की क्रम संख्या एवं नाम	पृष्ठ संख्या
1. सामाजिक समस्या : अवधारणा एवं सिद्धांत	1-13
2. अपराध	14-24
3. बाल - अपराध	25-36
4. मादक पदार्थों का उपयोग	37-49
5. निरक्षरता	50-63
6. युवा व छात्र असंतोष	51-76
7. असमानता :लिंग, जाति एवं वर्ग	77-90
8. भ्रूण हत्या	91-101
9. घरेलू हिंसा	102-113
10. बाल विवाह	114-123
11. विधवावस्था की समस्याएं	124-140
12. श्रमिकों की समस्याएँ : संगठित और असंगठित क्षेत्र	141-162

सामाजिक समस्याओं की अवधारणाएँ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.01 प्रस्तावना

1.02 सामाजिक समस्या अर्थ, व्याख्या एवं अवधारणा

1.03 सामाजिक समस्याओं के प्रकार

1.04 सामाजिक समस्याओं की प्रकृति : व्यक्तिगत एवं सामाजिक

1.05 व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या में अन्तर

1.06 सामाजिक समस्याओं के कारण

1.07 सामाजिक समस्याओं के प्रमुख सिद्धान्त

1.08 सामाजिक समस्याओं का समाधान

1.09 सारांश

1.10 बोध–प्रश्न

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.12 ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप –

1. सामाजिक समस्या की अवधारणा , उसका अर्थ एवं परिभाषा को समझना सकेंगे |
2. सामाजिक समस्या के कारणों एवं उसके प्रमुख सिद्धान्तों के –बारे में जान जायेंगे।
3. सामाजिक समस्या के निवारण के उपायों से अवगत हो जायेंगे |

1.01 प्रस्तावना

वस्तुत: एक नवीन विषय के रूप में समाजशास्त्र के उद्भव, विकास एवं परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सामाजिक समस्या की अवधारणा ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। यहाँ पर यह लिखना उचित होगा कि समाजशास्त्र का विकास समस्यामूलक परिवेश एवं परिस्थितियों का अध्ययन करने एवं इनका निराकरण करने के प्रयासों के रूप में हुआ है। सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में सामाजिक विचारकों का ध्यान शहज रूप से इसलिए आकर्षित हुआ है क्योंकि ये सामाजिक जीवन का अविभाज्य अंग है। मानव समाज न तो कभी सामाजिक समस्याओं से पूर्ण मुक्त रहा है और न ही रहने की सम्भावना निकट भविष्य में नजर आती हे, परन्तु इतना तो निश्चित है कि आधुनिक समय में विद्यमान संचार की क्रान्ति तथा शिक्षा के प्रति लोगों की जागरूकता के

फलस्वरूप मनुष्य इन समस्याओं के प्रति संवेदनशील एवं सजग हो गया। सामाजिक समस्याओं के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने में जन संचार के माध्यम, यथा–टेलीविजन, अखबार एवं रेडियो ने अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। मुख्यत: टेलीविजन पर प्रसारित विभिन्न चैनलों के कार्यक्रमों तथा स्थानीय, प्रादेशिक एवं अन्तर्राज्यीय अखबारों की भूमिका प्रशंसनीय है।

मानव समाज में संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक भिन्नताएं पाई जाती है। 'परन्तु भिन्न भिन्न समाजों में इनका स्वरूप प्रकृति एवं गहनता अलग–अलग होती है। सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध समाजशास्त्र विषय के अन्तर्गत विद्यमान गत्यातक एवं परिवर्तन विषय से सम्बद्ध रहा है।

यहां पर यह लिखना समीचीन होगा कि जो समाज जितना अधिक गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील होगा उसमें उतनी ही अधिक समस्याएं विद्यमान होंगी। समाज का ताना–बाना इतना जटिल है कि इसकी एक इकाई में होने वाला परिवर्तन अन्य इकाईयों को भी प्रभावित करता है। इस परिवर्तन का स्वरूप क्या होगा' एवं इसके प्रभाव क्या होंगे?, यह समाज की प्रकषति पर निर्भर करता है। विभिन्न युगों में सामाजिक परिवर्तन की गति अलग–अलग रही। इसलिए भिन्न–भिन्न समाजों में सामाजिक समस्याओं की प्रकृति एवं स्वरूप भी अलग–अलग पाये जाते हैं। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन अति तीव्र गति से हो रहा है। इस तरह बदलते आधुनिक समाज के स्वरूप ने सामाजिक समस्याओं में बेतहाशा वृद्धि की है। मानव समाज इन सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन करने के लिए सदैव प्रयासरत रहा है, क्योंकि सामाजिक समस्याएं सामाजिक व्यवस्था में विघटन पैदा करती हैं जिससे समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाता है।

समाजशास्त्र मानव समाज को निर्मित करने वाली इकाईयों एवं इसे बना(रखने वाली संरचनाओं तथा संस्थाओं का अध्ययन अनेक रूपों से करता है समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक विचारकों ने अपनी रूचि के अनुसार समाज के स्वरूपों, संरचनाओं, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है। समस्या विहीन समाज की कल्पना करना असम्भव सा प्रतीत होता है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज अनेक सामाजिक समस्याओं से पीड़ित है जिनके निराकरण के लिए राज्य एवं समाज द्वारा मिलकर प्रयास किये जा रहे हैं। भारतीय समाज की प्रमुख समस्याओं में जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, बेरोजगारी, असमानता, अशिक्षा. गरीबी, आतंकवाद, घुसपैठ, बाल श्रमिक, श्रमिक असंतोष छात्र असंतोष, भ्रष्टाचार, नशाखोरी, जानलेवा बीमारियां दहेज प्रथा, बाल विवाह, भूर्ण बालिका हत्या. विवाह विच्छेद की समस्या, बाल अपराध, मद्यपान, जातिवाद, अस्पृश्यता की समस्या ये सभी सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत आती है।

सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए यह अत्यावश्यक है कि इनकी प्रकृति को समझा जाए एवं स्वरूपों की व्याख्या की जाए। भिन्न–भिन्न सामाजिक समस्याओं के मध्य पाए जाने वाले परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण एवं अनुर्शोलन कर हम इन समस्याओं के व्यावहारिक निराकरण के लिए एक नई सोच प्रस्तुत कर रोकते हैं।

1.02 सामाजिक समस्या : अर्थ, व्याख्या एवं अवधारणा

सामाजिक समस्याओं को समाजशास्त्रियों ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से समझाने का प्रयास किया है। इन सभी विद्वानों ने सामाजिक समस्या के विभिन्न स्वरूपों को निम्न परिभाषाओं केआअधार पर समझने का प्रयास किया हैं।

1. **अरनोल्ड एम. रोज** लिखते है कि सामाजिक समस्या एक ऐसी अवस्था है जो किसी समूह के द्वारा स्वयं के सदस्यों के लिए असंतोश के उद्गम के रूप में पाई जाती है तथा इसमें उन विकल्पों को मान्यता प्रदान की जाती है जिसके द्वारा कोई समूह अथवा इसका सदस्य किसी ने किसी प्रकार का

परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित होता है। इसे (सामाजिक परिस्थिति / अवस्था) सामाजिक समस्या इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि यह सामाजिक परिवेश में ही पाई जाती है और इसके उत्तरदायी कारक सामाजिक 'परिवेश में ही विद्यमान रहते हैं।

2. **पॉल एच. लेडिस** के अनुसार सामाजिक समस्याएं व्यक्तियों के कल्याण से सम्बन्धित अपूर्ण आकांक्षाए होती है। सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में लेंडिस का अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति की इच्छाएं, आवश्यकताएं अथवा आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती तब वे सामाजिक समस्याओं का स्वरूप ले लेती हैं।
3. **रिचर्ड सी. फुलर** एवं रिचर्ड मेयर्स का कथन कि व्यवहार के जिन मानदण्डों अथवा परिस्थितियों को किसी समय विशेष में समाज के अधिक सदस्य अवांछनीय स्वीकार करते हैं, सामाजिक 'समस्याएं कहलाते है। इन विद्वानों की मान्यता है कि इन समस्याओं के निराकरण तथा कार्यक्षेत्र को सीमित करने के लिए सुधारात्क नीतियों, कार्यक्रमों एवं सेवाओं की अपरिहार्यता होती है।
4. **रोब अर्ल एवं जी. जे. सेल्जनिक** सामाजिक समस्या के संदर्भ में लिखते हैं कि यह (सामाजिक समस्या) मानवीय सम्बंधों को खतरनाक तरीके से प्रभावित करती है और समाज के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर देती है तथा अनेक लोगों की आशाओं पर तुषारापात करती है।
5. **क्लेरेंस मार्श केस** लिखते हैं कि. सामाजिक समस्या का अभिप्राय किसी ऐसी सामाजिक परिस्थिति से है जो किसी भी समाज में योग्य अवलोकनकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करती है तथा सामुहिक अथवा सामाजिक क्रियाविधि के द्वारा समाधान निकालने का प्रयास करती है।
6. **फ्रांसिस ई. मेरिल** तथा एच. डब्ल्यू एल्डरिज सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति के संदर्भ में लिखते हैं कि सामाजिक समस्याएं उस अवस्था में जन्म लेती है जब गतिहीनता के कारण काफी संख्या में लोग स्वयं की अपेक्षित भूमिकाओं के निर्वहन में असमर्थ होते हैं।
7. **शेपर्ड तथा केस** के अनुसार सामाजिक समस्या समाज की कोई भी एक ऐसी सामाजिक दशा होती है जिसे समाज के बहुत बड़े भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अवांछनीय तथा ध्यान देने योग्य समझा जाता है।
8. **मेरी ई.वाल्श एवं पॉल एच.** फर्फ का मत है कि सामाजिक समस्याएं सामाजिक आदर्शो का विचलन है जिनका निराकरण सामूहिक प्रयासों से ही सम्भव हो सकता है।
9. **पॉल बी हॉर्टन एवं जीराल्ड आर. लेस्ती** लिखते है कि सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो अनेक व्यक्तियों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है तथा जिसका हल समूह द्वारा सामूहिक क्रिया द्वारा निकाला जाता है।
10. **रोबर्ट के. मर्टन एवं निस्वेत** का मत है कि सामाजिक समस्या व्यवहार का एक ऐसा रूप है जिससे समाज का एक बड़ा भाग व्यापक रूप से स्वीकृत तथा अनुमोदित मानदण्डो का उल्लंघन मानता है।
11. **वींन वर्ग** ने सामाजिक समस्या के निम्नलिखित घटकों का उल्लेख किया है : –
    1. वे व्यवहार प्रतिमान जिन्हें समाज के अधिकांश लोग आपत्तिजनक मानते हैं, आपत्तिजनक सामाजिक समस्या कहलाती है।
    2. सामाजिक समस्याएं समय, परिस्थिति, काल एवं सामाजिक दृष्टिकोण के आधार पर परिवर्तित हो जाती है।
    3. जनसंचार के माध्यम–दूरदर्शन, समाचार पत्र–पत्रिकाएं, रेडियो, चलचित्र, सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में समाज में जागृति पैदा करने में अहम भूमिका का निर्वहन करते हैं।

4. सामाजिक समस्या सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य सापेक्ष होती है।
5. सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण सामाजिक सम्बन्धों पर इसके प्रभाव को मद्देनजर रखते हुए किया जाता है।

फुल्लर सामाजिक समस्या के विश्लेषण में तीन तत्वों को प्रधानता प्रदान करते हैं –

1. चेतनता : चेतनता से तात्पर्य समाज के अधिकांश लोगों की यह मान्यता एवं विश्वास है कि समाज की अमुक दशा या परिस्थिति, समाज में मान्यता प्राप्त मानदण्डों एवं संस्थागत प्रतिमानों के प्रतिकूल व्यवहार है तथा इसके निराकरण एवं उन्मूलन हेतु समुचित प्रयासों की आवश्यकता होती है, अन्यथा यह समाज का विघटन कर सकती है।

2. नीति निर्धारण : समाज में सामाजिक समस्या के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने के पश्चात इसके निराकरण एवं उन्मूलन के लिए लोगों से सुझाव मांगे जाते हैं तथा कमेटियों की स्थापना की जाती है। इनके द्वारा सुझाए गए अनेक सुझावों में से कतिपय सुझावों के व्यावहारिक पक्षों को मद्देनजर रखते हुए, वर्णित सामाजिक समस्या के समाधान, निराकरण एवं उन्मूलन के वांछित प्रयास किए जाते हैं एवं उक्त विषय में स्पष्ट नीति निर्धारित की जाती है।

3. सुधार : सामाजिक समस्या के उपयुक्त साधन निर्धारित करने के पश्चात इन्हें व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त किया जाता है तथा वांछित कार लाने के प्रयास किए जाते हैं।:-

सामाजिक समस्या की उपर्युक्त वर्णित परिभाषाओं के अनुशीलन से निम्नांकित निष्कर्ष स्थापित किए जा सकते हैं –

1. सामाजिक समस्या एक ऐसी अवस्था है जो सापेक्षिक रूप से अनेक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है।
2. सामाजिक समस्या को समाज के अधिकांश लोगों द्वारा सामूहिक कल्याण के लिए खतरा माना जाता है।
3. सामाजिक समस्या सम्पूर्ण समाज के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न करती है।
4. यह एक ऐसी कष्टप्रद अवांछनीय दशा है जो व्यक्ति एवं समाज के विकास में ,बाधा उत्पन्न करती है।
5. सामाजिक समस्या के प्रति अधिकांश लोग जागरूक होते हैं तथा इसके निराकरण हेतु सजग प्रयत्नशील रहते हैं।
6. सामाजिक समस्या के निराकरण हेतु समाज द्वारा वांछित प्रयास किए जाते हैं. कम इसके नियन्त्रण के लिए विशष्टीकृत संस्थागत अभिकरण पाए जाते हैं।
7. सामाजिक समस्या के विषय में लोगों का यह दृढ़ विश्वास होता है कि समाज यह दशा सामाजिक मूल्यों का पतन कर देती है।
8. सामाजिक समस्या के अस्तित्व में आने के पश्चात् इसका निराकरण करने के लिए अनेक सुझावों में से किसी एक को स्वीकार कर तदनुरूप साधनों को प्रयुक्त किया जाता है जिससे कि इसको समूल रूप से नष्ट किया जा सके।

सार रूप में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक समस्याऐं किसी भी समाज की वे दशाएँ एवं परिस्थितियाँ हैं जो समाज के अस्तित्व, परस्पर अन्तनिर्भरता, सुदृढता तथा स्थापित मूल्यों के लिए खतरा उत्पन्न करती हो। सामाजिक समस्याएं सामूहिक कल्याण में बाधा उत्पन्न कर समाज को सचेतन एवं जागरूक बनाती हैं तथा इसके निराकरण एवं समाधान हेतु वांछित प्रयास किये जाते हैं।

1.03 सामाजिक समस्याओं के प्रकार

जोन जे. केन ने सामाजिक समस्याओं को दो भागो में विभाजित किया है :–

1. प्रकट सामाजिक समस्याएं
2. प्रच्छन्न/गुप्त सामाजिक समस्याऐं

1. प्रकट सामाजिक समस्या :–

प्रकट सामाजिक समस्या एक ऐसी अवांछित सामाजिक अवस्था है जिसके " राज्य अथवा निजी अभिकरणों अथवा दोनों के द्वारा उपचारात्मक प्रयास किए जाते हैं। आमजन को प्रकट सामाजिक समस्या के प्रति जागरूक एवं सजग बना दिया जाता है और लोगों को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक दशा समाज के अस्तित्व एवं मूलभूत व्यवस्थाओं के सुचारू रूप से संचालन के लिये खतरा। अपराध, बाल अपराध मद्यपान, बेरोंजगारी, जनसंख्या, विस्फोट, निर्धनता आदि सामाजिक समस्याओं को इस श्रेणी में समाविष्ट किया जाता है।

2. प्रच्छन्न / गुप्त सामाजिक समस्या:

गुप्त सामाजिक समस्या समाज की वह अवांछित दशा होती है जिसके निराकरण के लिये किसी ने प्रकार का उपचारात्मक प्रयास नहीं किया गया है, तथापि वह समाज के लिये खतरा होती। वस्तुत: प्रच्छन्न सामाजिक समस्या वास्तविक रूप में, यथार्थ के धरातल पर जो समाज को किसी भी प्रकार का खतरा तो पैदा नहीं करती परन्तु समाज का एक वर्ग इसे समाज के अस्तित्व के लिये भयावह अनुभूत करता है। यह तब तक सामाजिक समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होती जब तक इसके प्रति लोगों में जगषित एवं जागरूकता पैदा नहीं की जाती और इसके उन्मूलन के लिए सामूहिक प्रयास नहीं किये जाते परन्तु, जब इन समस्याओं के प्रति समाज में जागरूकता उत्पन्न हो जाती है तब ये प्रकट सामाजिक समस्याओं का रूप ले लेती है तथा इनके समाधान एवं निराकरण हेतु समाज द्वारा वांछित प्रयास किए जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लिखित करना उपयुक्त होगा कि अस्पृश्यता, सतीप्रथा, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह, असमानता सदियों से अप्रकट सामाजिक समस्याएँ थीं, परन्तु धीरे–धीरे समाज में जागरूकता आने के पश्चात् निजी संगठनों एवं समाज के पुरोधाओं ने इनके समाधान एवं उन्मूलन के लिए सामूहिक प्रयास किए।

1.04 सामाजिक समस्या की प्रकृति : व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या

सामाजिक समस्या की अवधारणा को असंदिग्ध एवं स्पष्ट रूप से समझने के लिए व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या के भेद को जानना अपरिहार्य है व्यक्तिगत समस्या का तात्पर्य उस अवांछित अवस्था एवं परिस्थिति से होता है जो व्यक्ति के– समग्र व्यक्तित्व के विकास एवं अध्ययन में बाधा उत्पन्न करती है जिसके परिणाम स्वरूप उसके व्यक्तित्व में विघटन होने लगता है। लैमटं का मत है कि व्यक्तिगत समस्या वह परिस्थिति अथवा प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपना व्यवहार को समाज के अनुरूप स्थिर नहीं रख पाता। सामाजिक भूमिकाओं के चयन की प्रक्रिया में उसे असमंजस एवं भ्रम व्याप्त रहता है तथा उसके व्यक्तित्व में असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है। वह संस्कृति द्वारा निर्धारित मानदण्डों एवं प्रतिमानों की अपेक्षाओं के अनुरूप पालना नहीं कर पाता जिससे उसके व्यवहार में विचलन तथा दृष्टिगोचर होता है। ई.आर.मॉवरर अपनी कृति Disorganization Personal and Social मै लिखते हैं कि व्यक्तिगत समस्या व्यक्ति के उन व्यवहारों का. प्रतिनिधित्व करती है जाए संस्कृति द्वारा मान्य मापदंडो एवं प्रतिमानों के प्रतिकूल होते हैं तथा समाज उन्हें अस्वीकृति प्रदान करते है।

1.05 व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या में अन्तर

1. व्यक्तिगत समस्या का प्रत्यक्ष सम्बन्ध एवं प्रभावक्षेत्र व्यक्ति विशेष तक सीमित रहता है। यह व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाती हैं। व्यक्तिगत समस्या के समाधान हेतु व्यक्ति को ही प्रयास करना पड़ता है। सामाजिक समस्या का सम्बन्ध एवं प्रभाव क्षेत्र सम्पूर्ण समाज अथवा उसके एक बड़े भाग से होता है तथा इसके निवारण के लिए समाज सामूहिक रूप से प्रयत्नशील रहता है। यह समाज की निरन्तरता की भांति दीर्घ अवधि तक विद्यमान रहती हैं तथा इनके निवारण के पश्चात भी, ये समाज में किसी न किसी मात्रा में पाई जाती हैं।

2. व्यक्तिगत समस्या के जन्म के लिए व्यक्ति अथवा सीमित लोग ही उत्तरदायी होते हैं तथा इसका प्रभाव एवं परिणाम व्यक्ति तक ही सीमित रहता है। दूसरी ओर सामाजिक समस्या का जन्म समाज अथवा उसकी किसी इकाई द्वारा होता है। सामाजिक समस्या के परिणाम सम्पूर्ण समाज अथवा उसकी किसी इकाई से सम्बन्धित लोगों को ही प्रभावित करते हैं।

3. व्यक्तिगत समस्या व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व के विकास एवं उन्नयन में बाधा उत्पन्न करती है जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व में विघटन एवं असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है परन्तु सामाजिक समस्या समाज की संरचना एवं संगठन को अव्यवस्थित कर देती है जिसमें समाज के विकास एवं प्रगति में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

निम्नांकित चार्ट द्वारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या के विभेद का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ये परस्पर पृथक हैं, वरन इन दोनों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये एक दूसरे से प्रभावित होती है तथा प्रभावित करने के साथ–साथ एक दूसरे को जन्म भी देती है।

क्र. स.	आधार	व्यक्तिगत समस्या	सामाजिक समस्या
1.	उत्पत्ति	व्यक्तिगत समस्या के लिए व्यक्ति स्वयं अथवा कुछ व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं।	सामाजिक समस्या के उद्भव के लिए समाज की सामाजिक इकाईयाँ यथा– समूह, समुदाय, जाति अथवा कुछ सदस्य जिम्मेदार होते हैं।
2.	नुकसान	व्यक्तिगत समस्या सम्बन्धित व्यक्ति को ही नुकसान पहुंचाती है।	सामाजिक समस्याऐं समाज की कुछ इकाईयाँ या सम्पूर्ण संसार को नुकसान पहुंचाती है।
3.	प्रभाव क्षेत्र	व्यक्तिगत समस्या का सम्बन्ध एवं प्रभाव क्षेत्र व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहता है।	सामाजिक समस्या का सम्पूर्ण समाज अथवा इसकी इकाईयाँ को प्रभावित करता है।
4.	प्रभाव की प्रकृति	व्यक्तिगत समस्याएँ प्रभावित व्यक्ति के व्यक्तित्व का विखण्डन कर उसके व्यवहार को समाज के मानदण्डों एवं प्रतिमानों के प्रतिकूल बनाती हैं।	सामाजिक समस्याएं उस परिस्थिति में उत्पन्न होती है जब समाज के अधिकां शलोग समाज द्वारा स्वीकृत संस्थागत साधनों एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों को अस्वीकृत कर देते हैं।

5.	**लक्ष्य एवं साधन**	व्यक्तिगत समस्याओं में व्यक्ति संस्थागत साधनों एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों को त्याग देता है।	सामाजिक समस्याएं उस परिस्थिति में उत्पन्न होती है जब समाज के अधिकां शलोग समाज द्वारा स्वीकृत संस्थागत साधनों एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों को अस्वीकृत कर देते हैं।
6.	**बाधा क्षेत्र**	व्यक्तिगत समस्या व्यंक्ति के व्यक्तित्व में असंतुलन उत्पन्न कर उसकी प्रगति एवं विकास में बाधा पैदा करती है।	सामाजिक समस्या समाज की प्रगति एवं विकास मे बाधा उत्पन्न करती है।
7.	**कालावधि**	व्यक्तिगत समस्या का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन काल तक ही सीमित रहता है। अत: यह सीमित अवधि तक ही विद्यमान रहती है।	सामाजिक समस्या दीर्घ अवधि तक समाज में विद्यमान रहती है। इसका अस्तित्व समाज में तब तक बना रहता है जब तक इसका निराकरण एवं उन्मूलन नहीं किया जाता। इन समस्याओं की समय अवधि, इनकी प्रकृति और निराकरण के उपायों की तीव्रता पर आधारित होती है।
8.	**समाधान**	व्यक्तिगत समस्या से निजात पाने के लिये व्यक्ति एवं उससे सम्बन्धित कुछ लोग ही प्रयासरत रहते हैं।	सामाजिक समस्या का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के अस्तित्व से सम्बद्ध होता है। इसीलिए इसके समान, निराकरण एवं उन्मूलन के लिए समाज अथवा समाज द्वारा निर्धारित अभिकरण एवं संस्थायें प्रयासरत रहती है।

1.06 सामाजिक समस्याओं के कारण

सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति अनेक कारकों एवं कारणों से होती है। समस्या की प्रकृति को समझकर ही कारणों का पता लगाया जा सकता है। यहाँ पर हम प्रमुख समाज वैज्ञानिकों के विचारों को उल्लिखित करने का प्रयास करेंगे।

रोबर्ट ए. निस्वेत ने सामाजिक समस्या के उद्भव के मूल में चार प्रमुख कारणों का उल्लेख किया हैं। ये निम्न प्रकार से हैं :–

1. संस्थाओं में संघर्ष
2. सामाजिक गतिशीलता
3. व्यक्तिवादी दृष्टिकोण
4. व्याधिकीय परिस्थिति

रॉब एवं सेल्जनिक ने सामाजिक समस्याओं के पांच प्रमुख कारणों को अपनी पुस्तक मेजर सोश्यिल प्रोब्लम्स में उल्लिखित किया है। ये निम्न प्रकार से हैं :–

1. संगठित समाज के लोगों की पारस्परिक सम्बन्धों को सुचारू रूप से संचालित एवं नियमित करने की क्षमताओं का ह्रास होना।
2. समाज की संस्थाओं में विचलन का पाया जाना।
3. समाज के सदस्यों द्वारा समाज के मानदण्डों एवं नियमों का उल्लंघन करना।

4. समाज के मानदण्डों एवं मूल्यों का उचित रीति से एवं सम्यक रूप से सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरण नहीं होना।
5. समाज के अधिकांश सदस्यों की आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं की संरचना में तारतम्यता का अभाव होना।

पॉल लैंण्डिस ने सामाजिक समस्याओं के चार प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं –

1. व्यक्तिगत समायोजन में असफलता का पाया जाना।
2. सामाजिक समस्या का त्रुटिपूर्ण होना।
3. संस्थागत समायोजन में असफलता का विद्यमान रहना।
4. सामाजिक नीतियों में संस्थागत विलम्बन का पाया जाना।

1.07 सामाजिक समस्याओं के प्रमुख सिद्धान्त

समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक समस्याओं के मूल में पाए जाने वाले मूलभूत तत्वों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन कर वस्तुनिष्ठ विश्लेषण एवं सार देने का प्रयास किया है। यद्यपि, भिन्न–भिन्न सामाजिक समस्याओं का अलग–अलग आधार होता, तथापि इसमें परस्पर सम्बन्ध भी पाया जाता है। सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रमुख हैं –

1. सामाजिक विघटन का सिद्धान्त (Theory of Social Disorganization)
2. सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)
3. मूल्य संघर्ष का सिद्धान्त (Value Conflict Theory)
4. वैयक्तिक विचलन का सिद्धान्त (Theory of Pesanal Deviation)

1. सामाजिक विघटन का सिद्धान्त (Theory of Social Disorganization) :

समाज वैज्ञानिकों का मत है कि सामाजिक विघटन सामाजिक समस्याऑ का हेतु। रोनाल्ड एल. वारेन ने इस विचारधारा को प्रस्थापित किया हैं। वारेन के अनुसार सामाजिक विघटन एक ऐसी स्थिति है जिसमें मतैक्य की कमी, संस्थाओं के एकीकरण का अभाव और सामाजिक नियंत्रण के साधनों में हास पाया जाता है। ' समाज के अधिकांश सदस्यों में मतैक्य विद्यमान नहीं रहता तथा इसके कारण समूह के लक्ष्यों के सम्बन्ध में मतभेद एवं परस्पर विरोधी भावनात्मक विचार पाए जाते हैं। लोगों के लक्ष्य समाज सम्मत मानदण्डों के अनुरूप नहीं होते हैं। समाज में इस प्रकार की स्थिति भिन्न–भिन्न सामाजिक संस्थाओं की कार्य संचालन प्रणाली में बाधा उत्पन्न करती है जिसके कारण इन संस्थाओं में परस्पर तनाव एवं संघर्ष पैदा हो जाता है जिससे ये संस्थाएँ तालमेल के अभाव में एक दूसरे के प्रतिकूल कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार समाज में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो समाज के सदस्यों को समाज के मानदण्ड एवं प्रतिमानों के अक्त आचरण करने से रोक देती है। जब समाज के अधिकांश सदस्य समाज के नियमों के विरूद्ध आचरण करने लगते हैं तब यह स्थिति समाज के समुख सामाजिक समस्या के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस विचारधारा के समर्थकों की मान्यता है कि प्राचीनकाल के समाज साल्ले रूप से स्थिर एवं साम्यवादी थे। इन समाजों में व्यक्ति की परिस्थिति एवं भूमिका स्पष्ट थी तथा परम्परागत रूप से लोग समाज के मानदण्डों, प्रतिमानों. मूल्यों, परम्पराओं एवं रीति–रिवाजों की अनुपालना कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें व्यक्तियों के क्रिया कलाप एवं मूल्यों में समन्वय तथा सामंजस्य था। सामाजिक संस्थाओं में एकीकरण विद्यमान था। समाज की संस्थाएं परस्पर तालमेल के साथ संगठनात्मक रूप से लक्ष्यों की प्राप्ति करती थी। इन समाजों में सामाजिक परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत धीमी होती है।

शनैः–शनै: समाज में परिवर्तन की गति बढ़ती गई। अंततोगत्वा एक ऐसी सामाजिक स्थिति का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें या तो पुरानी मान्यताएं एवं क्रियाविधि समाप्त हो गई अथवा उन्हें अनुपयोगी समझकर उपेक्षित कर दिया गया। समाज के सदस्य प्रचलित साधनों के स्थान पर नवीन साधनों को प्रयुक्त कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न होने लगे। व्यवहार के परम्परागत नियमों का समाज में प्रभाव क्षीण हो गया। जिसके परिणामस्वरूप समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियमित एवं नियंत्रित करने की शक्ति लगभग समाप्त हो गई। समाज के सदस्य समाज की परम्पराओं. प्रतिमानों एवं मूल्यों का उल्लंघन करने लगे। सामाजिक क्रियाओं और सामाजिक मूल्यों में संघर्ष हो गया। नवीन नियमों को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया गया। समाज के: सदस्यों के व्यवहार अनियंत्रित हो गए। इस प्रकार की स्थिति सामाजिक विघटन का परिचायक है, जो कि अनेक सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। **थोमस एवं जनानिकी** का मत है कि सामाजिक विघटन के फलस्वरूप अनेक सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है क्योंकि सामाजिक विघटन की अवस्था में समाज के सदस्य अपनी इच्छानुसार लक्ष्यों एवं साधनों को प्रयुक्त करते हैं। **वारेन** भी इस सिद्धान्त से सहमत हैं। इनका मत है कि सामाजिक विघटन समाज की ऐसी स्थिति है जिसमें अव्यवस्था, मतभेद, टकराव एवं शिथिल सामाजिक नियंत्रण पाए जाते हैं। सामाजिक संस्थाओं में तालमेल का अभाव रहता। सामाजिक विघटन की स्थिति में समाज में अनेक सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है।

रोबर्ट फेरिस, वालस फर्फे इत्यादि समाज वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त जो एकांगी माना है। **रोबर्ट फेरिस** का मत है कि यह सिद्धान्त उस परिस्थिति की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता जिसमें सामाजिक समस्याएं जन्म लेती हैं। कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि समाज में विघटन के अभाव में भी अनेक समस्याऐं उपस्थित रहती है।

2. सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धान्त (Theory of Cutural Lag): –

परिवर्तन संसार का अटल नियम है। संस्कृति के विभिन्न आयामों में परिवर्तन समान गति से नहीं होता। संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन की असमान दर सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है। विलियम एफ. ऑगबर्न ने संस्कृति के दो प्रकार बताये हैं।

1. भौतिक संस्कृति
2. अभौतिक संस्कृति।

ऑगबर्न का मत है कि किसी भी समाज की संस्कृति के भौतिक पक्ष में परिवर्तन तीव्र गति से होते हैं जबकि अभौतिक पक्ष संस्कृति में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत रूप से धीमी होती है। इस प्रकार अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन. भौतिक संस्कृति की तुलना में विलम्ब से होता है। इसी को ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बन की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। सांस्कृतिक विलम्बन की उपकल्पना में तीन आधारभूत तथ्य निहित हैं –

1. संस्कृति के अनेक पक्ष अथवा आयाम भिन्न–भिन्न दरों के अनुसार परिवर्तित होते हैं।
2. संस्कृति के भौतिक पक्ष अभौतिक अमूर्त / वैचारिक पक्षों की तुलना में अधिक तीव्र गति से परिवर्तित होते हैं।
3. भौतिक परिवर्तनों को अंगीकार करने और उनके अनुरूप सामाजिक संस्थाओं के विकसित होने के मध्य विलम्बन ही सामाजिक समस्याओं के जन्म के लिए उत्तरदायी होता है।

वर्तमान समय के आधुनिक औद्योगिक समाजों में संस्कृति के भौतिक पक्षों में परिवर्तन क्रांतिकारी गति से हो रहे हैं परन्तु इन परिवर्तनों के अनुरूप संस्कृति के अमूर्त स्वरूप में परिवर्तन धीमी गति से हो रहे हैं। इस प्रकार भौतिक एवं अभौतिक पक्ष में होने वाले परिवर्तनों के मध्य सामंजस्य स्थापित नहीं हो रहा है। यह स्थिति

सांस्कृतिक विलम्बन की ही है। सांस्कृतिक विलम्बन की स्थिति समाज में संक्रमण काल का परिचायक होती है। इस कारण समाज में संघर्ष देखने को मिलता है जो कि सामाजिक समस्याओं के जन्म के. लिये उत्तरदायी होता है।

सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धान्त समाज में विद्यमान उन सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करने में समर्थ है जिनका उद्भव भौतिक एवं अभौतिक संस्कृतियों के भिन्न–भिन्न परिवर्तनों के कारण होता है। अन्य कारणों रो उत्पन्न सामाजिक समस्याओं की व्यवस्था करने में यह सिद्धान्त विफल रहता है।

3. मूल्यों में संघर्ष का सिद्धान्त (Value Conflict Theory):–

मूल्य वे सांस्कृतिक एवं व्यक्तिगत आदर्श हैं जिनके द्वारा वस्तुओं अथवा घटनाओं की तुलना की जाती है, तथा ये वे लक्ष्य एवं उद्देश्य भी हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित करते हैं। क्यूबर, हार्पर, वॉल्लर इत्यादि समाज वैज्ञानिकों का मत है कि सामाजिक समस्याएँ विभिन्न मूल्यों में टकराव, अस्वीकृति, मतभेद एवं संघर्ष के कारण जन्म लेती है। समाज में एकरूपता, संगठन, व्यवस्था एवं संतुलन बनाए रखने के लिए मूल्य अपरिहार्य हैं। प्रत्येक समाज की एक संस्थागत मूल्य व्यवस्था होती है जो इसके सदस्यों के व्यवहारों, सामाजिक क्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों को नियमित, नियंत्रित, निर्देशित एवं संचालित करती है। समाज के लक्ष्यों की पूर्ति किन साधनों से होगी, इसका निर्धारण सामाजिक मूल्य ही करते हैं। समाज की कार्यप्रणाली, रीतियां, पारस्परिक सम्बन्ध, संगठन, स्वतंत्रता, नियंत्रण इत्यादि मूल्यों द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

मूल्य परिवर्तनशील होते हैं। समाज में भिन्न–भिन्न समूहों, समुदायों एवं संस्थाओं के अलग–अलग मूल्य पाए जाते हैं। मूल्यों के भेद के कारण अथवा मूल्यों के सामान्य अर्थो के बदल जाने से सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है। एक ही मूल्य के संबंध में व्यक्तियों. समूहों, वर्गो तथा पीढ़ियों में जब मतभेद हो जाते हैं तब वे सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। मूल्यों के अनुरूप ही उनके भिन्न–भिन्न साधन एवं लक्ष्य होते हैं। जब इन साधनों एवं लक्ष्यों में तनाव, टकराव एवं संघर्ष होता है तब ये सामाजिक समस्या पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ पूंजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ एवं इसके लिए आवश्यक साधन जुटाना होता है, जबकि साम्यवादी व्यवस्था के मूल्य ठीक इसके विपरीत होते हैं। अत: इन दोनों व्यवस्थाओं पूंजीवादी एवं साम्यवादी' के मूल्यों में टकराव एवं संघर्ष के परिणामस्वरूप सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है।

क्यूबर एवं हार्पर का मत है कि सामाजिक समस्याओं का मूल कारण दो पीढ़ियों में पाए जाने वाला मूल्यों क्र संघर्ष है। प्रौढ़ पीढ़ी एवं युवा पीढ़ी के मूल्यों की भिन्नता के कारण इनमें टकराव उत्पन्न होता है जो कि सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है। फुल्लर की मान्यता है, कि जब समाज के सदस्यों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बढ़ जाता है और अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर ये लोग अपने कर्तव्यों की पालना उचित रीति से नहीं कर पाते तब सामाजिक समस्याऐं पैदा हो जाती हैं। वॉल्लर का मत है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति संगठन सकी (व्यक्तिवादी लोकाचार) और मानवतावादी लोकाचार (समूहवादी लोकाचार) के संघर्ष के कारण होती है।

मूल्य संघर्ष के आधार पर हम सभी प्रकार की सामाजिक समस्याओं को नहीं समझ सकते क्योंकि– समाज में अनेक ऐसी सामाजिक समस्याऐं भी होती हैं जिनका मूल्यों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

4. वैयक्तिक विचलन का सिद्धान्त (Thgory of Personal Eviation)

वैयक्तिक विचलन के सिद्धान्त के अन्तर्गत उन व्यक्तियों कीं प्रेरणाओं, व्यवहार एवं क्रिया–विधि का वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक अध्ययन किया जाता है जिनके कारण सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है। विपथगमन से संबंधित व्यक्ति समाज में समस्याओं को जन्म देने में महती भूमिका का निर्वहन करते हैं। **मार्शल वी. क्लीनार्ड बिपथगामी** व्यवहार को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि विपथगामी व्यवहार समूह के मानदण्डों एवं आदर्श मानकों का उल्लंघन ही है। विपथगामी व्यवहार एक ऐसा व्यवहार है जो एक विशिष्ट प्रकार से निर्धारित होता है। समाज इस व्यवहार के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यह प्रतिक्रिया जिसमें समाज के मानक एवं आदर्शो का

उल्लंघन करते वालों को विशिष्ट दण्ड दिया जाता है, विपथगामी व्यवहार के अध्ययन में महत्वपूर्ण आयाम हैं। यहाँ पर यह लिखना समीचीन होगा कि विपथगमंन व्यवहार के अन्तर्गत केवल उन्हीं व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो समाज द्वारा पूर्णत: अस्वीकृत तथा अमान्य हों एवं जो किसी समूह अथवा समुदाय की सहनशीलता की सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं। इस प्रकार के व्यवहारों के अन्तर्गत वैश्यावृत्ति अपराध, मद्यपान. मादक दवाईयों का सेवन, मानसिक विकृतियाँ, अस्पृश्यता. महिलाओं पर अत्याचार. इत्यादि को समाविश्ट किया जाता है।

वाल्टर बी. मिलर विपथगामी व्यवहार को सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत सीखा गया व्यवहार मानते हैं। विपथगामी व्यवहार निष्पादित करने वाला व्यक्ति समूह "द्वारा मान्य एवं स्वीकृत सांस्कृतिक मानकों, आदर्शो एवं मूल्यों के प्रतिकूल / विपरीत मानकों, आदर्शो एवं मूल्यों को सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत सीखता है और इसे अपने व्यक्तित्व में समाहित कर लेता है। मिलर,' का मत है कि निम्न श्रेणी के लोगों को समाज सम्मत आदर्शो के अनुरूप जीवनयापन के अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते इसीलिए ये लोग आपराधिक विकल्पों का सहारा लेते हैं। डेविड माटजा, मिलर के इस मत से पूर्णत: असहमत हैं। कोई भी व्यक्ति समाज में विपथगामी व्यवहार इसलिए करता है कि वह समाज द्वारा मान्य एवं स्वीकृत नियमों की पालन करने में असमर्थ हो जाता है तथा इन नियमों के पालन में असफल भी हो जाता है। विपथगामी व्यवहार करने वाले वे लोग होते हैं जिनका समाज के सम्मत मानदण्डों के अनुरूप सामाजीकरण नहीं होता।

सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित उपर्युक्त वर्णित चारों सिद्धान्त –एक विशिष्ट दृष्टिकोण से तथा विशिष्ट परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत किसी भी सामाजिक समस्या को समझने।(एवं समझाने का प्रयास करते हैं क्योंकि प्रत्येक सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के विशिष्ट कारण एवं कारक होते हैं। वस्तुत: जिसकी भी सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के अनेक कारक एवं कारण होते हैं। प्रत्येक सामाजिक समस्या अन्य सामाजिक समस्याओं से अन्तर सम्बन्धित एवं एक विशिष्ट संरचनात्मक तानेबाने में दबी हुई होती है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि प्रत्येक सामाजिक समस्या की उत्पत्ति समाज से ही होती है।

1.08 सामाजिक समस्याओं का समाधान

सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में यह प्रश्न इनके निवारण से सम्बन्धित है। इन समस्याओं का निवारण किस प्रकार किया जा सकता है?, तथा क्या इन सामाजिक समस्याओं का हल सम्भव है, इस प्रश्न. के प्रत्युत्तर में सकारात्मक दृष्टिकोण को अपनाया जा सकता है। सामाजिक समस्याओं के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से हमें पता चलता है कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति स्थायित्व एवं संतुलन बनाए रखने के लिए भिन्न–भिन्न समाजों ने अपनी–अपनी सामाजिक समस्याओं को यथा सम्भव हल करने का प्रयास किया है। किसी भी सामाजिक समस्या का हल सामाजिक समस्या की प्रकृति और तीव्रता पर निर्भर करता हैं। अगर कोई सामाजिक समस्या इस प्रकार की है जिसका समाधान त्वरित गति से करना अपरिहार्य है तो समाज के मूर्धन्य लोगों ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए वांछित हल प्रस्तुत किए हैं और समस्या की तीव्रता को कम करने का भरसक प्रयास भी किया है। परन्तु समाज में उन साधनों की कमी अवश्य देखी जा सकती है जो समस्या को पूर्ण रूपेण निस्तारण करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु निम्नांकित तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

1. बहुकारकबादी दृष्टिकोण (Multipal Factor Perspective) :–

समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। यह एक अमूर्त एवं जटिल व्यवस्था है। अत: किसी भी सामाजिक प्रघटना की पृष्ठभूमि में अनेक कारक निहित होते हैं। इसी तथ्य को मद्देनजर रखते हुए हम कह सकते हैं

कि सामाजिक समस्याओं के मूल में अनेक कारक विद्यमान रहते हैं। बेरोजगारी, बाल विवाह, भिक्षावृत्ति, मद्यपान, छात्र–असंतोष इत्यादि सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु, बहुकारकवादी दृष्टिकोण को अंगीकार करना चाहिए। किसी भी सामाजिक समस्या के वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक समाधान हेतु अनेक कारकों पर बल देने के कारण इस मत को बहुकारकवादी दृष्टिकोण के नाम से अभिहित किया जाता है।

2. पारस्परिक सम्बद्धता (Inter–Relatedness) :–

सामाजिक समस्याऐं परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं तथा इनके अनेक कारण होते हैं जो एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित होते हैं। किसी के सामाजिक समस्या का स्वतंत्र रूप से अन्य समस्याओं से सम्बन्धित हुए बिना पृथक अस्तित्व नहीं होता। प्रत्येक सामाजिक समस्या अनेक समस्याओं का अन्तर संबंधित परिणाम होती है। इसीलिए किसी भी सामाजिक समस्या के निराकरण के लिए अनेक परस्पर कारकों तथा कारणों का वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ उपागमों द्वारा समाधान खोजना अपरिहार्य है। उदाहरण के लिए, बेरोजगारी की समस्या के मूल में अन्य सामाजिक समस्याएं यथा जनसंख्या वृद्धि, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली, लघु एवं कुटीर उद्योगों का पतन इत्यादि जिम्मेदार हैं। ये परस्पर सम्बन्धित भी हैं। बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए, इसके मूल में विद्यमान अनेक समस्याओं का निराकरण करना अति आवश्यक है।

3. सापेक्षिता (Relativity) :–

सामाजिक समस्याएं स्थान, काल, समाज एवं संस्कृति सापेक्ष होती हैं, अर्थात किसी भी समाज में किसी निश्चित समयावधि में कोई दी हुई एक क्रिया या व्यवहार सामाजिक समस्या हो सकती है। आज भारत में जिस स्थिति अथवा दशा को एक सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार किया जाता है वह किसी कालावधि में एक समस्या नहीं थी। उदाहरण के लिए भूतकाल में अस्पृश्यता एवं छूआछूत एक सामाजिक समस्या नहीं मानी जाती थी, परन्तु वर्तमान में इसे एक गम्भीर सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार वर्तमान में जिस स्थिति को हम एक सामाजिक समस्या मानते हैं, सम्भव है वही स्थिति आने वाले भविष्य में सामान्य दशा बन जाए और समाज उसे समस्या नहीं माने।

उपर्युक्त वर्णित तीनों दृष्टिकोणों के द्वारा किसी भी सामाजिक समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है, परन्तु समस्याविहीन समाज की कल्पना करना असम्भव सा प्रतीत होता है। यद्यपि दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा किसी भी सामाजिक समस्या की उग्रता एवं तीव्रता पर अंकुश लगाया जा सकता है।

सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूंढने में कठिनाईयों का सामना भी करना पड़ता है। हेरी एम. जोनसन की मान्यता है कि शक्तिशाली मनोभाव तथा निहित स्वार्थो द्वारा समर्थित सामाजिक संरचना, सामाजिक समस्याओं का समाधान निकालने में बाधा उत्पन्न करते हैं। समाज में सामाजिक समस्या की उपस्थिति से कुछ शक्तिशाली लोगों के हितों की पूर्ति होती है। सतही तौर पर ये लोग समस्या के निस्तारण में रूचि दिखलाते हैं परन्तु आन्तरिक रूप से समस्या के बने रहने की आकांक्षा भी करते हैं। अनेक लोग दीर्घ अवधि तक किसी दीर्घ को समस्या के रूप में स्वीकार ही नहीं करते।

सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की अपरिहार्यता :– सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के निम्नलिखित तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं –

1. सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के द्वारा समाज वैज्ञानिकों की भूमिका का पता चल जाता है।
2. सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के द्वारा ही लोगों को बताया जा सकता है कि अमुक अवांछनीय सामाजिक स्थिति उनके दैनिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है।

3. सामाजिक अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात होता है कि सामाजिक समस्याओं की जड केवल सामाजिक विचलन ही नहीं हैं वरन् अनेक बार सामाजिक अपेक्षाओं को पूरा करने, से भी सामाजिक समस्याऐं पैदा होती हैं।

1.09 सारांश

उपर्युक्त वर्णित इकाई में आप सामाजिक समस्या की अवधारणा से परिचित हुए होंगे। इस इकाई में सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के प्रमुख कारक–कारण एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों का भी वर्णन किया गया है। उक्त अध्याय को पढ़ने के बाद आप समझ पाए होंगे कि किस प्रकार एक सामाजिक समस्या अनेक सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित होती है तथा सामाजिक समस्या किस प्रकार समाज की व्यवस्था, स्थायित्व एवं संतुलन के लिए खतरा पैदा कर सकती है। जहां भी समाज है वहां पर सामाजिक समस्या तो विद्यमान रहेगी ही समस्याविहीन समाज की कल्पना करना असम्भव सा प्रतीत होता। भारतीय समाज में अनगिनत सामाजिक समस्याएं है। सामाजिक समस्या की प्रकृति, मूलभूत कारक एवं कारणों को समझकर इसके समाधान के लिए प्रयास किए जा सकते है।

1.10 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समस्या से आप क्या समझते है?
2. सामाजिक समस्या की अवधारणा स्पष्ट कीजिए?
3. सामाजिक समस्या से सम्बन्धित कोई दो सिद्धान्त लिखिए?।

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. W Wallace Weaver: Social Problems
2. Roab Earl and G.J.Selznick : Mojor Social Problems
3. Paul H Landis : Social Prblems
4. Paul B.Horton and Gerald R Leslie: The Sociology of Social problems
5. Marry E. Walsh and Paul H. Furfey : Social Problems and Social Action
6. E.R. Mowrer : Disorganization – Personal and Social
7. Alex lnkles : what is Sociology
8. Elliott and Merrill : Social Disorganization
9. Martin H. Newmeyer : Social Problems and the Changing Society
10. Noel Timms: A sociological Approach to Social Problems
11. Robert E.L.faris: Socila Disorganization.

इकाई - 2

अपराध : अवधारणा, अपराधियों का वर्गीकरण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.01 प्रस्तावना

2.02 अपराध का अर्थ एवं परिभाषा

2.03 अपराध की सामाजिक दृष्टि से व्याख्या

2.04 अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र के मध्य सम्बन्ध

2.05 भारत में अपराध की प्रमुख विशेषताएँ

2.06 अपराधी किसे कहते है?

2.07 अपराधियो का वर्गीकरण

2.08 सारांश

2.09 बोध प्रश्न

2.10 शब्दावली

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अपराध का अर्थ, परिभाषा तथा अपराध की अवधारणा समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में अपराध के प्रमुख लक्षणों एवं विशेषताओं को समझ सकते है।
- अपराधी किसे कहते हैं तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा दिया गया अपराधियों का वर्गीकरण समझ सकते है।
- वर्तमान समय में सामाजिक साँचा चरमरा रहा है। वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी के प्रभाव के फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। हमारा समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। यदा–कदा किशोरों के आचरण एवं व्यवहार में आक्रामकता एवं हिंसा की झलक दिखाई दे रही है। समाज में बड़े पैमाने पर सामाजिक प्रतिमानों का विचलन हो रहा है। अपराध की उठती हुई तरंगें जनता में भय पैदा कर सकती हैं। प्रस्तुत इकाई में अपराध का अवधारणात्मक विवेचन करने का प्रयास किया गया है। विद्वानों द्वारा विभिन्न आधारों को ध्यान में रखकर अपराधियों का वर्गीकरण किया है। अपराधी की आयु उद्देश्य, अपराध की प्रवृत्ति व परिस्थितयाँ आदि वर्गीकरण के प्रमुख आधार हैं। अपराधियों का उचित वर्गीकरण हमें उनकी प्रवृत्तियों

उद्देश्यों, प्रकृति आदि को समझने में मदद कर सकता है। अपराध के सिद्धान्तों के निर्माण में भी अपराधियों का वर्गीकरण एक महत्वपूर्ण पहलू है।

2.01 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज में हर काल में ऐसे लोग मौजूद रहे हैं, जो समाज द्वारा स्वीकृत नियमों और आदर्शो के विपरीत व्यवहार करते रहे है। किसी भी समाज से पूर्णतया अपराध का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है। अपराध का समाज से चोली दामन का सम्बन्ध रहा है। समाज के उदय के साथ अपराध का भी जन्म हुआ। अत. जब तक समाज रहेगा, अपराध भी रहेगा। अपराध की मात्रा कम या अधिक हो सकती है।, समाज के विकास एवं उसकी जटिलता में वृद्धि के साथ–साथ अपराध की दर भी बढ़ी है। भारत जैसे विकासशील देश की बजाय अमेरिका जैसे विकसित देश में अपराध की दर अधिक देखने को मिलती है।

प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक संरचना और व्यवस्था को बनाये रखने था सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ नियमों, प्रथाओं, रूढ़ियों, जनरीतियो एवं सामाजिक मानदण्डो को विकसित करता है। इनमें से कुछ के विपरीत आचरण करने पर समाज के लोगों द्वारा निन्दा की जाती है। कुछ नियमों का उल्लंघन अनैतिक माना जाता है, वहीं व्यवहार के कुछ प्रतिमानों का उल्लंघन करने पर समाज द्वारा कठोर दण्ड दिया जाता है। यद्यपि अपराध एक सार्वभौमिक तथ्य है, किन्तु फिर भी समय स्थान, और परिस्थिति के अनुसार इसकी अवधारणा बदलती रहती है। एक ही कार्य एक स्थान पर अपराध माना जाता है, किन्तु दूसरे स्थान पर उसी कार्य के लिए पुरस्कार दिया जाता है। साधारण परिस्थितियों में यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति की हत्या कर देता है, तो उसे आजीवन कारावास या मृत्यु दण्ड की सजा दी जाती है। जबकि युद्ध में ज्यादा से ज्यादा संख्या में दुश्मनों को मारने वाले व्यक्ति को वीरता के पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है। अपनी जाति के बाहर विवाह करना कभी अपराध माना जाता था, आज नहीं। प्राचीन समय में सती प्रथा, बाल–विवाह, दहेज प्रथा किसी समय उचित एवं सम्मानीय व्यवहार माने जाते थे, किन्तु आज इस प्रकार के व्यवहार कानूनी रूप से दण्डनीय है। हिन्दुओं में किसी समय एक से अधिक पत्नी रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक था, किन्तु वर्तमान में वह कानूनी रूप से अपराध की श्रेणी में आता है। राज्य के विकास के साथ–साथ अपराध की अवधारणा २यष्ट होती चली गई। अति प्राचीन समय में और आज भी ग्रामीण लोगों एवं आदिम समाज में यह विश्वास प्रचलित है कि अपराध ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन है। यदि कोई व्यक्ति समाज के लोगों की नजर से बच भी जाये, तो मीर वह इस लोक या परलोक में ईश्वर से अवश्य दण्ड पायेगा। धर्म एवं नैतिकता से भी अपराध का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। नैतिक दृष्टि से अपराध को ऐसा कार्य समझा गया, जिसे नीतिशास्त्र अनैतिक मानता है। सामाजिक दृष्टि में अपराध में समाज के नियमों का उल्लंघन होता है और उससे समाज को हानि होती है। 20वी शताब्दी में। अपराध के प्रति तार्किक एवं सामाजिक दृष्टिकोण विकसित हुआ, जिससे अपराध को समाज विरोधी कार्य माना गया। राज्य के हाथ में शक्ति आने के साथ–साथ व्यक्ति के व्यवहारों को राज्य के नियमों से जोड़ दिया गया तथा ऐसे सभी कार्य जिनसे राज्य के नियमों का उल्लंघन होता है, अपराध माने जाने लगे। इस प्रकार समय–समय पर अपराध का सम्बन्ध धर्म, नैतिकता, समाज और राज्य से जोड़ा जाता रहा है। यही कारण है, कि अपराध की व्याख्या समय स्थान और परिस्थिति के अनुसार अलग–अलग प्रकार से की जाती रही।

2.02 अपराध : अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वे सभी व्यवहार जो समाज विरोधी हैं, अपराध कहलाते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अपराध की परिस्थितियों पर ज्यादा बल दिया जाता है। जिसमें यह जोड़ने का प्रयास किया जाता है, कि वे

कौन सी परिस्थितियाँ है जो व्यक्ति को अपराध के लिए प्रेरित करती है। इह व्याख्या अपराध के परिणामों पर बल नहीं देती है इसीलिये इसका सम्बन्ध दण्ड के बजाय सुधार से ज्यादा है। अपराध की कानूनी व्याख्या अपराध के परिणाम और दण्ड से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई।

पॉल टप्पन ने अपराध की परिभाषा करते हुए कहा कि यह एक कार्य या है, जो दण्ड कानून का उल्लंघन करता है और जो बिना किसी सफाई और औचित्य के किया जाता है। "इस परिभाषा में निम्न पाँच बिन्दुओं पर बल दिया गया है –

1. अपराध में किसी क्रिया को किया जाये या किसी क्रिया को करने में होनी चाहिये, अर्थात् किसी व्यक्ति को उसके विचारो के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता।
2. क्रिया स्वयं की इच्छा से होनी चाहिये और उस समय की जानी चाहिये, जबकि कर्ता का अपने कार्यो पर नियन्त्रण हो।
3. क्रिया साभिप्राय होनी चाहिए, चाहे अभिप्राय सामान्य हो अथवा विशेष। एक व्यक्ति का विशेष अभिप्राय चाहे दूसरे व्यक्ति को गोली मारना व उसे जान से मारना न हो परन्तु उससे इस जानकारी की आशा की जाती है कि उसकी क्रिया से दूसरे को चोट लग सकती है या उनकी मृत्यु हो सकती है।
4. यह क्रिया फौजदारी कानून का उल्लंघन होनी चाहिए, जिससे कि सरकार अभियुक्त के विरूद्ध कार्यवाही कर सकें
5. वह क्रिया बिना किसी सफाई या औचित्य के की जानी चाहिए। इस प्रकार यदि सिद्ध हो जाता है कि क्रिया आत्मसुरक्षा के लिए या पागलपन में की गई थी तो उसे अपराध नहीं माना जायेगा चाहे उससे दूसरों को हानि हुई हो या चोट लगी हो। कानून की अनभिज्ञता को ज्यादातर बचाव या सफाई नहीं माना जाता है।

हालज़िरोम का कहना है, कि ‘‘अपराध कानूनी तौर पर वर्जित और साभिप्राय कार्य है। जिसका सामाजिक हितों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। जिसका अपराधिक उद्देश्य है ओर जिसके लिए कानूनी तौर से दण्ड निर्धारित है। "इस प्रकरण आपकी दृष्टि से किसी कार्य को अपराध नहीं माना जा सकता, जब तक उसमें निम्न पाँच विशेषताएँ नहीं हो :

1. वह कानून द्वारा वर्जित हो
2. वह साभिप्राय हो,
3. वह समाज के लिए हानिकारक हो,
4. उसका अपराधिक उद्देश्य हो
5. उसके लिए कोई दंड निर्धारित हो।

अपराध की परिभाषा गैर कानूनी और सामाजिक शब्दों में भी की गई। माउरेर ने अपराध को एक 'असामाजिक कार्य' कहा है काल्डेवल का कहना है कि ' वे कार्य या उन कार्यो को करने में चूक जो समाज में प्रचलित मानदण्डों की दृष्टि से समाज के कल्याण के लिये इतने हानिकारक हैं, कि उनके संबंध में कार्यवाही किसी निजी पहल शक्ति या अव्यवस्थिति प्रणालियों को नहीं सौंपी जा सकती। परन्तु वह कार्यवाही संगठित समाज द्वारा परीक्षित प्रक्रियाओं के अनुसार की जानी चाहिए। ' थार्सटन सेलिन (।9706) ने इसे मानकीय समूहों के व्यवहार के आदर्श प्रतिमान का उल्लघंन माना है। मार्शल क्लिनार्ड (।957:22) का मानना है, कि मानदंडो के सभी विचलन अपराध नहीं होते। आपने तीन प्रकार के विचलन बताये है :

1. सहन किये जाने वाले विचलन
2. विचलन जिसकी नरमी से निंदा की जाती है और

3. विचलन जिसकी कड़ी निन्दा की जाती है। आप तीसरे प्रकार के विचलन को अपराध मानते है। इसे एक उदाहरण द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है। गाँधीजी ने न केवल स्वंय जाति व्यवस्था के प्रतिमानों का उल्लंघन किया, बल्कि उन्होंने दूसरों को भी इन्हें नहीं मानने के लिए प्रेरित किया। इसके बावजूद भी गाँधीजी को 'विचलित व्यक्ति' नहीं माना गया, क्योंकि उनका विचलन समाज के हित में था, जो विचलन समाज को हानि पहुँचाता है उसका ही कड़ा विरोध होता है।

2.03 अपराध की सामाजिक दृष्टि से व्याख्या

किसी व्यवहार को सामाजिक दृष्टि से अपराध ठहराने के लिए सदरलैण्ड ने तीन बातों पर बल दिया है:

(अ) एक मूल्य जिसे एक समूह या उसके किसी भाग द्वारा महत्वपूर्ण माना जाता हो।

(ब) इस समूह में एक दूसरे भाग का होना जो कि उस मूल्य के अधिक या विरोध में हो और इस कारण उसके लिए घातक सिद्ध हो,

(स) एक सुस्पष्ट या उचित दण्ड व्यवस्था का होना जिसे कि उस मूल्य आदर करने वाले मूल्यों का अनादर करने वालों पर लागू करें।

टाफ्ट ने सामाजिक दृष्टि से अपराध में दो बातों को सम्मिलित किया है –

(अ) सामाजिक दृष्टि से वे कार्य अपराध है, जिन्हें करने की समाज द्वारा मनाही है। ऐसे कार्य समाज द्वारा पाप, अनैतिक दुराचार एवं परम्पराओं को तोड़ने वाले समझते जाते है। समाज द्वारा निषेध (कार्यो को करने वाले को समाज अनौपचारिक रूप से दण्ड देता है, जैसा–उसका अपमान करना, मजाक उडाना सामाजिक बहिष्कार करना आदि। ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी गिर जाती है। अपराध की गंभीरता का मूल्यांकन अपराधी क्रिया के समाज पर पड़ने 'वाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है।

(ब) सामाजिक दृष्टि से अपराध व्यक्ति के भूतकाल के कार्यो की अपेक्षा भविष्य के कार्यो से अधिक सम्बन्धित है। कानूनी व्यक्ति को उसकी भूतकाल की अपराधी क्रियाओं के लिए अधिक दण्ड देता है। उसमे बदले की भावना दिखाई देती है, जबकि सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध एक ऐसी क्रिया है जो भविष्य समाज के लिए हानिप्रद हो सकती है।

टाफ्ट के शब्दों में "सामाजिक दृष्टिकोण से दण्ड को उद्देश्य हिसाब को बराबर करना नहीं है और न ही अपराधी से बदला लेना है, अपितु इस सम्बन्ध में निश्चित होना है, कि वह अपने अपराधों को दोहरायेगा नहीं। दण्ड को तभी व्यवहार में लाया जायेगा, जबकि पुनरावृत्ति को रोकने का वही' एकमात्र रास्ता हो या जब यह आशा हो कि दण्ड दूसरे को अपराध करने से रोकेगा।

यहाँ इस इकाई में अपराध की सामाजिक और कानूनी अवधारणा उल्लेख किया है। कई बार सामाजिक एवं कानूनी दृष्टिकोण से किसी एक ही कार्य को अपराध माना जाता है, किन्तु कई बार इन दृष्टिकोणों से टकराव पाया जाता है। मृत्युभोज सामाजिक दृष्टि से अपराध नहीं है, किन्तु कानूनन अपराध है। अन्तर्जातीय विवाह कानूनी दृष्टि से अपराध नहीं है, किन्तु सामाजिक दृष्टि अर्थात जातीय नियमों के अनुसार अपराध है। चोरी सामाजिक एवं कानूनी दोनों ही दृष्टि से अपराध है।

2.04 अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र के मध्य सम्बन्ध

आजकल अपराधशास्त्र में छ: प्रश्न महत्वपूर्ण है. जॉक यंग (1974) अनुसार छ: प्रश्न निम्न प्रकार से है:

1. एक व्यक्ति के अपराधी व्यवहार की किस प्रकार व्याख्या की जी जाती है? क्या अपराध करते समय अपराधी को स्वयं की इच्छा से कार्य करता हुआ समझा जाता है या यह माना जाता है, कि वह ऐसी शक्तियों से बाध्य हो जाता है जो उसके नियंत्रण से बाहर हैं।
2. सामाजिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली को कैसा समझा जाता है? क्या समाज में व्यवस्था को विशाल बहुमत की स्वीकृति पर आधारित माना जाता है या वह अधिकांश जबरदस्ती से थोपा हुआ।
3. अपराध की परिभाषा कैसी की जाती है? क्या अपराध को कानूनी ' का उल्लंघन माना जाता है या उसे ऐसा व्यवहार माना जाता है, जो एक विशेष समुदाय की संहिता का उल्लंघन करता है।
4. अपराध के विस्तार ओर वितरण को कैसे देखा जाता है? 'क्या अपराध को एक सीमित तथ्य के रूप में लिया जाता है जो कि कुछ ही व्यक्ति करते हैं या विस्तृत तथ्य माना जाता है, जिसे जनसंख्या का एक बड़ा अंश करता है।
5. अपराध के कारणों की व्याख्या कैसे की जाती है? क्या अपराध के कारण प्रमुखतया व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्थित होते हैं या अपराध को अधिक विस्तृत समाज, जिसमें वह व्यक्ति रहता है, की उपज समझा जाता है।
6. अपराधियों के बारे में क्या नीति है? क्या अपराधी को दण्डित करने की नीति उपयुक्त है या अपराधी के उपचार की नीति को स्वीकार किया जाता है।

2.05 भारत में अपराध की प्रमुख विशेषताएँ

1. भारत में पिछले चार वर्षो में (।995–।998) औसतन प्रतिवर्ष हुए कुल अपराधों में से भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत लगभग।726 लाख संज्ञेय अपराध होते हैं, जैसे– चोरी, लूट या डकैती, हत्या, दंगा, अपहरण, धोखाधड़ी, विश्वास भंग आदि शामिल हैं तथा लगभग **4494** लाख अपराध स्थानीय ओर विशेष कानूनों के तहत होते है। जैसे मोटर व्हीकल एक्ट, प्रोहिबिशन एक्ट, गैम्बलिग एक्ट, एक्साइज एक्ट, आर्म्स एक्ट, स्पेशन ऑफ इम्मोरल ट्रेफि एक्ट, ओपियम एक्ट, रेलवे एक्ट आदि क्राइम इन इण्डिया (।998:5)। इस प्रकार हमारे देश में अपराध की दर ज्यादा ऊँची नहीं है। औद्योगिक समाजों में अमरीका में अपराध की दर सबसे ज्यादा है। यह एक वर्ष में संपूर्ण जनसंख्या की 4 प्रतिशत या 5 प्रतिशत हावर्ड बेकर, भारत में यह दर कुल जनसंख्या की केवल 0.67 प्रतिशत है।
2. प्रतिवर्ष पुलिस द्वारा छानबीन किये हुए लगभग 74 लाख आईपीसी. और 5। लाख विशिष्ट कानून मामलों में से लगभग 27 प्रतिशत मामले संज्ञेय अपराधों के है। और लगभग 73 प्रतिशत अपराधों के मामले स्थानीय ओर विशेष कानूनों के तहत होते हैं
3. 1998 (129 एवं 140) प्रति एक लाख जनसंख्या में संज्ञेय अपराध की दर लगभग 180 है।
4. कुल संज्ञेय अपराधों में से लगभग एक चौथाई 23 प्रतिशत आर्थिक अपराध हैं, जिनमें 16.2 प्रतिशत चोर, 6.7 प्रतिशत सेंध लगाकर चोरी, 1.3 प्रतिशत लूटमार, 0.5 प्रतिशत डकैती से संबन्धित हैं 1998 (15 एवं 30) संपत्ति से जुड़े हुए अपराध व्यक्तियों के विरूद्ध अपराधों 14.5 प्रतिशत हत्या, अपहरण से ज्यादा हैं।
5. स्थानीय और विशेष कारणों के अन्तर्गत अपराधों के लिए गिरफ्तार किये गये कुल व्यक्तियों में से 69 प्रतिशत तीन कानूनों के अन्तर्गत पकड़े जाते हैं, प्रोहिबिशन एक्ट 556 प्रतिशत, गेम्बलिग एक्ट 1.9 प्रतिशत, और एक्साइज एक्ट 11.5 प्रतिशत। बचे हुए 31 प्रतिशत आर्म्स एक्ट, रेलवेज एक्ट, एस.आईट. एक्ट, ओपियम एक्ट आदि के तहत गिरफ्तार किये जाते है।

6. कुल संज्ञेय अपराधों में से लगभग 38 प्रतिशत चार हिन्दी भाषीय उत्तरी राज्यों उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और राजस्थान में होते हैं ओर लगभग 27 प्रतिशत चार दक्षिणी राज्यों. तमिलनाडू कर्नाटक, आधप्रदेश और केरल में होते है।
7. प्रतिवर्ष लगभग 17.8 लाक्ष संज्ञेय अपराधों के लिए लगभग 26.6 लाख व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते हैं यानि प्रत्येक 10 किये गये अपराधों के लिए औसत व 15 व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते है। दूसरी और स्थानीय और विशेष कानूनी के अन्तर्गत किये गये प्रत्येक नौ अपराधों के लिए 10 व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते है।
8. लगभग 85 प्रतिशत अपराधी ऐसे संज्ञेय अपराध करते हैं। जिनके लिए उन्हें छ: महीने से कम का करावास होता है।
9. महिलाओं की बजाय पुरूषों में अपराध की दर ज्यादा है 95 प्रतिशत अपराधी– पुरूष और 5 प्रतिशत महिला है।
10. शहरी अपराधियों का अनुपात ग्रामीण अपराधियों से कम है।
11. अपराध की दर निम्नतम सामाजिक आर्थिक समूहों में सबसे ज्यादा है।
12. अपराध की दर सबसे अधिक 51.2 प्रतिशत 18–30 वर्षो के आयु समूह में हे।
13. अपराधिक गतिविधियों के लिए बड़े पैमाने पर संगठनों का विकास हो रहा है। अवैध चीजों और सेवाओं के नियन्त्रण और वितरण को अधिक संगठित किया जा रहा है – जैसे पदार्थ की तस्करी, भारत व अरब देशों में वेश्यावृति के लिए लड़कियाँ भेजना, सोने की तस्करी। इसके अलावा माफिया गिरोहों के विभिन्न वैध व्यापार की गतिविधियों जैसे–कोयले की खानों, संघों के नियंत्रण के लिए संगठित प्रयास होते हैं।

इस प्रकार इन विशेषताओं व आँकडों को बताने के पीछे हमारा यह उदेश्य था, कि वर्तमान समय में समाज में सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार होने की प्रेरणाएँ कमजोर हो रही है। सामाजिक संबधो ओर सामाजिक बंधनों में शिथिलता आ रही है। हमारे समाज के प्राय: सभी वर्गो में बढ़ रही है। युवाओं, किसानों, औद्योगिक श्रमिकों, छात्रों, सरकारी कर्मचारियों और अल्पसंख्यकों में अंशति पैदा हो रही है। यह अशान्ति कुण्ठाओं और तनावों को बढ़ाती है। जिससे सामाजिक व वैधानिक मानदण्डों का उल्लंघन होता है। इस प्रकार हमारे समाज में विद्यमान उप व्यवस्थाओं और संरचनाओं का संगठन और कार्यप्रणाली अपराध में वृद्धि के लिए उत्तरदायी है।

2.06 अपराधी किसे कहते हैं

सामान्य रूप से अपराधी उसे माना जाता है जो समाज के नियमों की अवहेलना करता है, अनैतिक और धर्म के विरूद्ध कार्य करता है, तथा राज्य के नियमों के विरूद्ध आचरण करता है। इलियट और मैरिल का कहना है, कि "तकनीकी तौर पर अपराधी वह हैं जो दण्डनीय दुर्व्यवहार करें। "टाफ्ट भी ऐसे व्यक्ति को अपराधी मानते हैं जिसने कानून निविह व्यवहार किया है। कुछ लोगों का मानना है कि अपराधी मानसिक रूप से अयोग्य और भावात्मक रूप से अस्थिर व्यक्ति है, उसका परिस्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं, हो पाता है, उसमें नैतिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा का अभाव होता है। कानूनी रूप से उस व्यक्ति को अपराधी माना जाता है, जिसको न्यायालय ने दोषी ठहराया है तथा दण्ड की आज्ञा दी है।

अपराधियों के अध्ययन में अपराधी की कानूनी परिभाषा को ही स्वीकार किया गया है। कोई भी कानून यह नहीं बताता, कि कोई व्यक्ति कितने समय तक अपराधी कहलायेगा। अपराध करने के दण्ड पाने की अवधि तक या आजीवन।

टाफ्ट ने एक व्यक्ति को अपराधी स्वीकार करने के लिए निम्नलिखित आधार बताये है :

1. उपयुक्त आयु :

किसी भी व्यक्ति को अपराधी घोषित करने से पूर्व उसकी आयु का भी रखा जाता है। सामान्यतया किसी भी देश में 6–7 वर्ष से कम आयु के बालकों द्वारा किया गया समाज कार्य अपराध नहीं माना जाता, क्योंकि यह माना जाता है कि इस आयु तक बच्चें में अपराध भावना उदय नहीं पाता, वह अच्छाई और बुराई में अन्तर नहीं कर पाता। अत: व्यक्ति को तभी अपराधी माना जा सकता है जब उचित अनुचित की भावना का विकास हो जाये।

2. स्वैच्छिक क्रिया :

किसी भी व्यक्ति को उसका समय अपराधी माना जा सकता है जब उसने इच्छा से कानून विरोधी कार्य किया जो, न कि किसी दबाव के कारण। एक व्यक्ति रात्रि में ताला खोलने को घर से उठा ले जाता है और उसे किसी के यहाँ तिजोरी खोलने के लिए कहता है, ऐसा नहीं करने पर गोली से उड़ाने की धमकी देता है। ऐसी स्थिति में यदि वह तिजोरी का ताला खोलता है, तो उसका यह अपराध नहीं माना जायेगा, क्योंकि यहाँ उसे अपराध के लिए बाध्य किया गया है। दबाव का निर्णय, ही करता है।

3. अपराधी इरादा:

अपराधी कार्य व्यक्ति द्वारा जान बूझकर अपराधी इरादे से किया गया हो, यद्यपि लापरवाही और कानन के प्रति अनभिज्ञता क्षमा योग्य नहीं है।

4. अपराध वैज्ञानिक रूप से राज्य के लिए हानिप्रभ होना आवश्यक है –

कोई भी व्यक्ति तभी अपराधी कहा जा सकता है, जब उसके द्वारा किया गया कार्य कानून की दृष्टि से राज्य के लिये हानिकारक हो। व्यक्ति के विरूद्ध किया गया कार्य अपराध की श्रेणी में नहीं आता है। उसे दुष्कृति कहा जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के बाद हम यह समझ सकते हैं कि, कानूनी दृष्टि से अपराधी वह है जिसने इच्छापूर्वक बुरी नीयत से ऐसा कार्य किया हो जो दण्डनीय है।

2.07 अपराधियों का वर्गीकरण :

अपराध की ही भाँति अपराधाशास्त्रियों ने अपराधियों का भी विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। कुछ वर्गीकरण निम्नलिखित है :

1. सदरलैण्ड का वर्गीकरण :

ई.एच.सदरलैण्ड ने अपराधियों को दो भागों में बाँटा है :

(अ) निम्नवर्गीय अपराधी

ये वे व्यक्ति होते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती, दरिद्र या गरीब है, मजदूरी करते हैं और धन के अभाव में न्याय प्राप्त करने में असमर्थ हैं अत: वे जल्दी ही पुलिस की निगाह में आ जाते है।

(ब) सफेद पोश अपराधी

सफेद पोश अपराधी प्रतिष्ठित एवं उच्च वर्ग के होते हैं आर्थिक लाभ के लिए अपराध करते हैं, तथा साधन सम्पन्न होने के कारण पकड़ में नहीं आते एवं दण्ड से बच जाते है।

सदरलैण्ड का कहना है कि "श्वेतवसन अपराध प्रतिष्ठित एवं उच्च सामाजिक प्रस्थिति धारण करने वाले व्यक्ति द्वारा उसके व्यवसाय के दौरान किया जाता है। सदरलैण्ड की इस परिभाषा में दो बातों पर बल दिया गया है

(अ) सफेद पोश अपराधी समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं,

(ब) ये व्यक्ति अपने व्यवसाय के दौरान ही अपराधी कार्य करते है। जैसे डॉक्टर भ्रूर्ण के लिंग की जाँच में मदद करे या प्राध्यापक पैसा लेकर प्रायोगिक परीक्षा में ज्यादा अंक देने का कार्य करें तो वह सफेद पोश अपराध कहलायेगा।

क्लीनार्ड (1952) का कहना है कि "कानून का वह उल्लंघन जो मुख्यत: व्यापारियों. पेशेवर व्यक्तियों एवं राजनीतिज्ञों जैसे समूहो में उनके व्यवसाय के सम्बन्ध में पाया जाता है।"

सदरलेण्ड ने सफेद पोश अपराध की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई है

1. सफेद पोश अपराध समाज के उच्च सामाजिक आर्थिक वर्ग के सदस्यों द्वारा किया जाता है।
2. इस प्रकार का अपराध व्यक्ति अपने व्यवसाय के दौरान ही कानून को तोड़कर करता है।
3. इस प्रकार के अपराधी सामर्थ्यवान होते है। अत: कानून तोड़ने पर भी इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती है।
4. इस प्रकार के अपराधी इस प्रकार के अपराधी अपने उच्च पद के कारण अपने फायदे के कानून बनवाने के लिये संसद सदस्यों एवं कानून निर्माताओं पर दबाव डालते हैं और ऐसे कानूनों के पारित होने का विरोध करते है जो उनके हितों के अनुकूल न हों।
5. सफेद पोश अपराधी इस प्रकार का दिखावा करता हैं, कि उन्हें समाज और समाज कल्याण में विशेष रूचि है। इसके लिये वे सार्वजनिक संस्थाओं से अपना संपर्क रखते हैं, उन्हें चन्दा देते हैं जिससे कि ये संस्थायें उनका गुणगान करें और उनके विरूद्ध प्रचार न करे।
6. सफेद पोश अपराधी अपने धन व पद के कारण न्यायाधीशो को पक्ष में कर लेते हैं उनसे संपर्क रखते हैं। उन्हें भेंट देते रहते हैं ताकि अवसर आने पर उनसे पक्ष में निर्णय करा सकें।
7. सफेद पोश अपराधियों पर कोइ कानूनी कार्यवाही इसलिए नहीं हो पति। क्योंकि उनके विरूद्ध कोई संगठित कदम नहीं उठाये जाते तथा उनके द्वारा पहुँचाई गई हानि कई भागों में बँट जाती।
8. सफेद पोश अपराध प्रकृति के होते है। जिनका उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा धन कमाना और भौतिक सुख सुविधाएँ प्राप्त करना होता है।
9. सफेद पोश अपराध विश्वासघात पर आधारित है। साहूकार लोग में अशिक्षित लोगों के कम पैसा देकर अधिक पर हस्ताक्षर करा लेते हैं। अनपढ़, गरीब एवं लोगों के विश्वास का साहूकार नाजायज फायदा उठाते हैं।
10. सफेद पोश अपराध कानून को लागू करने में भेदभाव पर आधारित है। देश में सभी लोगों के लिए समान रूप से कानून बने होने के बावजूद भी धनी, प्रतिष्ठित एवं से संपर्क रखने वाले व्यक्ति कानून का उल्लंघन करने पर भी साफ बच जाते है।
11. इस प्रकार के अपराध प्रमुखतया चिकित्सको, कानून वेत्ताओं, शिक्षाअधिकारियो, व्यापारियों, संसद सदस्यों, राजनेताओं, इंजीनियरों व उद्योगपतियों आदि के द्वारा किये जाते है।

2. अलेक्जेण्डर और स्टॉक ने अपराधियों को दो भागों में बाँटा है :

(अ) आकस्मिक अपराधी. वे अपराधी जो आकस्मिक रूप से एक एक से अधिक अपराध करते हैं।

(ब) दीर्घकालिक अपराधी. जो व्यक्ति बार–बार वे पेशे के 'रूप में अपराध को अपनाते हैं, दीर्घकालिक अपराधी कहलाते है। इनके तीन प्रकार है

सामान्य अपराधी : ये सामाजिक परिस्थितियों के कारण अपराधी बनते हैं तथा इनका सामान्यीकरण भी त्रुटिपूर्ण होता है।

मनस्तापी अपराधी :. ये मनौवैज्ञानिक कारणों से अपराधी बनते हैं। इस प्रवृत्तियों का दमन न होने के कारण इनका समाजीकरण नहीं हो पाता है। इनका व्यक्तित्व संघर्षमय हो! जाता है और ये अपराध करते हैं।

शरीर विकृत अपराधी : इस कोटि के अपराधी शारीरिक विकलांता के कारण बनते हैं। ये शारीरिक दोषों से युक्त होते हैं, जिससे इनमें मानसिक हीनता आ जाती। इसी ये अपराधी कार्य करते है।

3. लोम्ब्रोसो का वर्गीकरण :

लोम्बोसो ने अपराधियों को प्रमुखतया चार भागों में बाँटा है –

(अ) जन्मजात अपराधी :

ऐसे अपराधियों में जन्म से ही कुछ शारीरिक लक्षण ऐसे होते हैं, जिनके पर उन्हें पहचाना जा सकता है। अपने 15 विभिन्न शारीरिक लक्षणों का उल्लेख किया है तथा कहा कि इनमें से पाँच ल क्षण भी किसी व्यक्ति में पाये जाते है तो वह अवश्य अपराध करेगा। आपका मानना था कि विशेषताएँ व्यक्ति को आनुवंशिक रूप से प्राप्त होती है।

(ब) पागल अपराधी :

इस श्रेणी में वे अपराधी आते हैं जो किसी न किसी बीमारी से ग्रस्त होते हैं, उनका मस्तिष्क दुर्बल जाता है। वे मानसिक असन्तुलन के कारण अपराध करते हैं।

(स)आवेग युक्त अपराधी :

इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो शीघ्र ही आवेग के वशीभूत हो जाते हैं, जिनमें मामूली बात पर मानसिक तनाव पैदा हो जाता है तथा जो शीघ्र ही घातक हमला कर बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति यौन तृप्ति की लालसा के कारण भी अपराध करते हैं।

(द) आकस्मिक अपराधी :

इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते है जो शारीरिक व मानसिक देशों से ग्रसित नहीं होते वरन् परिस्थितिवश अपराध करते हैं। इन अपराधियों की लोम्नोसो ने तीन उपभागों में बाँटा है.

(य) असली या नकली अपराधी :

ऐसे व्यक्ति खतरनाक नहीं होते वरन् ये आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अनपेक्षित परिस्थितियों के कारण ही अपराध करते है।

(र) आदतन अपराधी :

ये व्यक्ति जन्मजात अपराधी तो नहीं होते, किन्तु प्रतिकूल वातावरण के कारण अपराध करते है।

(ल) अपराधीसम :

इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो जन्ममात अपराधी और ईमानदार व्यक्ति के बीच के होते। परीक्षण करने पर ऐसे व्यक्ति आत्मसत पाये गये।

4. हेज का वर्गीकरण :

हेज ने अपराधियों को चार भागों में बाँटा हैं.

(अ) **प्रथम अपराधी :** जो पहली बार अपराध करता है।

(ब) **आकस्मिक अपराधी :** जो कभी–कभी परिस्थितियों के दबाव में आकर अपराध करता है।

(स) आदतन अपराधी : जो आदत के वशीभूत होकर अपराध करते हैं, चाहे उन्हें लाभ हो या न हो।

(द) पेशेवर अपराधी : जो आजीविका के साधन के रूप में अपराध करते है' और अपराध ही जिनका व्यवसाय बन जाता है। वे या तो अपने लिए या किसी संगठन के लिए अपराध करते हैं। एक गिरोह के रूप में अपराध करने वाले पेशेवर अपराधियों की संख्या वर्तमान में तेजी से बढ़ती जा रही है।

इस प्रकार अपराधियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट होता है कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों को ध्यान में रखकर अपराधियों का वर्गीकरण किया है। किन्तु किसी ने भी अपराधियों का सर्वमान्य वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया। अपराधियों के वर्गीकरण के प्रमुख आधारों से अपराधी की आयु, उद्देश्य, अपराध की प्रवृत्ति एवं परिस्थितियाँ आदि मुख्य हैं। अपराधियों को उचित वर्गीकरण हमें उनकी प्रवृतियों, उद्देश्यों, प्रकृति आदि को समझने में मदद करता है। अपराध में सिद्धान्तों के निर्माण में भी अपराधियों का वर्गीकरण एक महत्वपूर्ण पहलू है।

2.08 सारांश

इस प्रकार इस संपूर्ण इकाई में आपने यह जाना कि अपराध क्या है तथा अपराधियों के' प्रकार कौन कौन से हैं। आपने यह भी समझ लिया होगा कि अति प्राचीन काल से अपराध के लिए प्रेत–आत्माओं के प्रभाव तथा दैवीय कारणों को उत्तरदायी माना जाता था। अवधारणाओं की दृष्टि से अपराध एक जटिल प्रघटना है। प्रत्येक समाज के कुछ मूल्य, आदर्श, नियम व परम्पराएँ होती है। जिनका उल्लंघन करना अपराध होता है और उल्लंघन करने वाला व्यक्ति अपराधी कहलाता है। इसका अर्थ है' कि अपराध व्यक्ति के विचलनकारी एवं अनैतिक व्यवहार होते है जिनका निर्धारण समाज द्वारा किया जाता है। चूंकि प्रत्येक समाज के अलग–अलग सिद्धान्त व मान्यताएँ होती है। जो समय स्थान व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। अत: अपराध की अवधारणा भी भिन्न–भिन्न समाजों के अनुरूप भिन्न –भिन्न होती है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों को ध्यान में रखकर अपराधियों का वर्गीकरण किया है किन्तु किसी ने भी अपराधियों का सर्वमान्य वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है। वर्गीकरण के प्रमुख आधारों में अपराधी की आयु उद्देश्य अपराध की प्रवृत्ति एवं परिस्थितियाँ आदि प्रमुख हैं। अपराधियों का उचित वर्गीकरण हमें उनकी प्रवृत्तियों, उद्देश्यों, प्रकृति आदि को समझने में योग देता है।

2.09 बोध प्रश्न

1. अपराध से आप क्या समझते हैं?
2. अपराध की कानूनी एवं सामाजिक अवधारणा में क्या अन्तर हैं?
3. भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में अपराध की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।
4. अपराधी किसे कहा जाता है? अपराधियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है?

2.10 शब्दावली,

अपराध : व्यक्ति के वे आचरण अपराध माने जायेंगे, जो निश्चित उद्देश्यानुसार किये गये हों। जिनसे वैधानिक हानि पहुँचे और जिसके 'कानून में दण्ड की व्यवस्था हो।

पाप : पाप धार्मिक दृष्टि से कार्यो का उल्लंघन है। जैसे – झूठ बोला पाप। पाप के साथ धार्मिक अथवा आध्यात्मिक मान्यताएँ 'जुडी हुई।

दुराचार : दुराचार का अर्थ हैं, वे कृत्य जो व्यक्ति को दुष्मार्ग की ओर ले जाते हैं तथा व्यक्ति का चारित्रिक 'पतन करते हैं। जैसे – जुआ खेलना, शराब पीना आदि।

अनैतिकतता : अनैतिकता से आशय ऐसे कार्यो से है, जो स्वयं की अन्तरात्मा के विपरीत किए गये व्यवहार हैं और जो नैतिक दृष्टि से भी मान्य नहीं हैं। जैसे – पत्नी के अलावा किसी अन्य स्त्री के साथ सम्बन्ध रखना।

दुस्कृति : व्यक्ति के विरूद्ध किये गये कार्य को दुस्कृति कहा जाता। इसमें वैयक्तिक हानि का उद्देश्य जुड़ा हुआ है।

श्वेतबस्त्रधारी अपराध : श्वेतवसन अपराध प्रतिष्ठित एवं उच्च सामाजिक?क प्रस्थिति धारण करने वाले व्यक्ति द्वारा उसके व्यवसाय के दौरान किया जाता है।

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

- आहूजा, राम, अपराधशास्त्र, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1999।
- आहूजा, राम, क्रिमिनालॉजी रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2000।
- आहूजा, राम, सामाजिक समस्याएँ, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2000।
- गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा डी.डी, भारतीय सामाजिक समस्याएँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा 2007।
- टप्पन. पॉलस क्राइम, जस्टिस एण्ड करेक्शन 1960 मेकग्राथ हिल,न्यूयार्क 1960।

इकाई - *3*

बाल अपराध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.01 प्रस्तावना

3.02 बाल अपराध की अवधारणा

3.03 बाल अपराध के प्रकार

3.04 बाल अपराध के कारण

3.05 बाल अपराध के सिद्धान्त

3.06 बाल अपराध के उपचार की विधियाँ

3.07 बाल अपराध को रोकने के उपाय

3.08 सारांश

3.09 बोध प्रश्न

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप-

- बाल अपराध की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- बाल अपराध के प्रकारों से अवगत हो सकेंगे।
- बाल अपराध के कारणों से अवगत हो सकेंगे।
- बाल अपराध को रोकने के उपायों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.01 प्रस्तावना

वर्तमान समय में अपराधी व्यवहार के क्षेत्र में जिन समस्याओं को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है, उनमें से बाल अपराध की समस्या प्रमुख है। यह एक ऐसी समस्या है जो मूलत: पारिवारिक एवं सामुदायिक विघटन की देन है। विश्व के लगभग सभी देशों के बाल अपराधियों की संख्या में निरंतर वृद्धि चिन्ता का एक विषय है क्योंकि जिन बालको पर देश या राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है, अगर वही असामान्य बालक हो जायेंगे, तो देश के भविष्य की कल्पना तक नहीं की जा सकती। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप यह जान सकेंगे कि

बाल अपराध की संख्या में निरन्तर वृद्धि के कारण क्या है तथा इस समस्या को रोकने के कौन से उपाय कारगार सिद्ध हो सकते है।

3.02 बाल अपराध की अवधारणा

जब किसी बच्चे द्वारा कोई कानून–विरोधी या समाज विरोधी कार्य किया जाता है तो उसे बाल अपराध कहते हैं। कानूनी दृष्टिकोण से बाल अपराध 8 वर्ष से अधिक तथा 16 वर्ष से कम आयु के बालक द्वारा किया गया कानूनी विरोधी कार्य है जिसे कानूनी कार्यवाही के लिये बाल न्यायालय के सम उपस्थित किया जाता है। भारत में बाल न्याय अधिनियम।966 (संशोधित 2000) के अनुसार 16 वर्ष तक की आयु के लड़कों एवं 18 वर्ष तक की आयु की लड़कियों के अपराध करने पर बाल अपराधी की श्रेणी में सम्मिलित किया 8 है। बाल अपराध की अधिकतम आयु– सीमा अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग है। इस आधार पर किसी " राज्य द्वारा निर्धारित आयु सीमा के अन्तर्गत बालक द्वारा किया गया कानूनी विरोधी कार्य बाल अपराध है।

केवल आयु ही बाल अपराध को निर्धारित नहीं करती वरन् इसमें अपराध की गंभीरता भी महत्वपूर्ण पक्ष है। 7 से 16 वर्ष का लड़का तथा 7 से 18 वर्ष की लडकी द्वारा कोई भी ऐसा अपराध न किया गया हो जिसके लिए राज्य मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन कारावास देता है जैसे हत्या, देशद्रोह, घातक आक्रमण आदि तो वह बाल अपराधी मानी जायेगा।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बाल अपराध के लिये आयु को अधिक महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि व्यक्ति की मानसिक एवं सामाजिक परिपक्वता सदा ही आयु से प्रभावित नहीं होती, अत: कुछ विद्वान, बालक द्वारा प्रकट व्यवहार प्रवृति को बाल अपराध के लिए आधार मानते हैं, जैसे आवारागर्दी करना, स्कूल से अनुपस्थित रहना, माता–पिता एवं संरक्षकों की आज्ञा न मानना, अश्लील भाषा का प्रयोग, चरित्रहीन व्यक्तियों से संपर्क रखना आदि। किन्तु जब तक कोई वैध तरीका सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं, लिया जाता तब तक आयु को ही बाल अपराध का निर्धारक आधार माना जायेगा। गिलिन एवं गिलिन के अनुसार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक बाल अपराधी वह व्यक्ति है जिसके व्यवहार को समाज अपने लिए हानिकारक समझता है और इसलिए वह उसके द्वारा निषिद्ध होता है।

इस प्रकार बाल अपराध में बालको के असामाजिक व्यवहारों को लिया। जाता है अथवा बालकों के ऐसे व्यवहार का जो लोक कल्याण की दृष्टि से अहितकर होते हैं, ऐसे कार्यो को वाला बाल अपराधी कहलाता है। रॉबिन्सन के अनुसार आवारागर्दी, भीख माँगना, निरुद्देश्य इधर–उधर घूमना, बाल अपराधी के लक्षण है।

उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर कानून की अवज्ञा करने वाला एवं विरोधी आचरण करने वाला बालक बाल अपराधी होता है जैसा कि प्लेयर का कहना है कि बाल एक निश्चित आयु से कम वह व्यक्ति है जिसने समाज विरोधी कार्य किया है तथा जिसका दुर्व्यवहार कानून को तोड़ने वाला है।

बाल अपराध की दर एवं प्रकृति

भारतीय समाज में बाल अपराध की दर दिनोदिन बढ़ती जा रही है, पृथक ही इसकी प्रकृति भी जटिल होती जा रही। इसका कारण है कि वर्तमान समय में नगरीकरण तथा की प्रक्रिया ने एक ऐसे वातावरण का सृजन किया है जिसमें अधिकांश परिवार बच्चों पर नियंत्रण में असफल सिद्ध हो रहे हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता में वृद्धि के कारण नैतिक मूल्य बिखरने लगे हैं, इसके साथ हुई अत्यधिक प्रतिस्पर्धा ने बालकों में विचलन को पैदा किया है। कम्प्यूटर और इंटरनेट की उपलब्धता ने इन्हें समाज से अलग कर दिया है। फलस्वरूप वे अवसाद के शिकार होकर अपराध में लिप्त हो रहे हैं।

सन् 2000 के आँकडों के अनुसार भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत कुल। 9267 मामले पंजीकृत किये गये तथा स्थानीय एवं विशेष कानून के अन्तर्गत 5,154 मामले पंजीकृत किये गये।बाल अपराध की दर में विभिन्न वर्षो में उतार–चढ़ाव देखने को मिलता है।।997 में बालकों में अपराध की दर 0.8 प्रतिशत थी, वही बढ़कर सन् 1998 में 1.0 प्रतिशत था इसके पश्चात् सन 1999–200 में 0.9 प्रतिशत रही।

बालकों द्वारा किये गये अपराधों में से भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत सबसे अधिक सम्पत्ति सम्बन्धी थे। सन् 2000 में दण्ड संहिता के अन्तर्गत कुल संज्ञेय अपराधों में से चोरी (2385), लूटमार (1497) तथा सेंधमारी (1,241) के मामले पाये गये, इसके अलावा लैंगिक उत्पीडा के (51.9) डकैती। के (32 प्रतिशत), हत्या के (28.6 प्रतिशत), बलात्कार के (245 प्रतिशत) मामले पाये गये।

भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत बाल अपराध की सर्वाधिक दर मध्यप्रदेश में 2631) और महाराष्ट्र में (1,64।) पायी गयी। इसी प्रकार महानगरों जैसे बम्बई, दिल्ली में भी बाल अपराध की उच्च दर पायी गयी।

3.03 बाल अपराध के प्रकार

बाल अपराध व्यवहार की शैली और समय में विविधता प्रदर्शित करता है। प्रत्येक प्रकार का अपना सामाजिक सन्दर्भ होता है। कारण होते है तथा विरोध और उपचार के अलग स्वरूप होते हैं जो कि उपयुक्त समझे जाते हैं। हावर्ड बेकर (।966) ने चार प्रकार के बाल अपराध बताएँ है।

(अ) वैयक्तिक बाल अपराध

(ब) समूह समर्थित बाल अपराध

(स) संगठित बाल अपराध

(द) स्थितिजन्य बाल अपराध

(अ) वैयक्तिक बाल अपराध :

यह वह बाल अपराध है जिसमें एक व्यक्ति ही अपराधिक कार्य करने में संलग्न होता है। और इसका कारण भी अपराधी व्यक्ति में ही खोजा जाता है। इस अपराधी व्यवहार की अधिकतर व्याख्याएँ मनोचिक्त्सिक समझाते हैं, उनका तर्क है कि बाल अपराध दोषपूर्ण पारिवारिक अन्तक्रिया प्रतिमानों से उपजी मनोवैज्ञानिक समस्याओं के कारण किये जाते हैं। हीले और ब्रोनर (1936) ने अपराधी युवकों की तुलना उन्हीं के अनपराधी सहोदारो से ही और उनके बीच अन्तरों का विश्लेषण किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि 130 प्रतिशत अनपराधी सहोदारों की तुलना में 900 प्रतिशत अपराधी किशारों का घरेलू जीवन दुःख भरा था और वे अपने जीवन की परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे, उनकी अप्रसन्नता की प्रकृति भिन्न थी। कुछ तो माँ–बाप द्वारा उपेक्षित मानते थे तथा अन्य या तो हीनता का अनुभव करते थे या अपने सहोदरों से ईर्ष्या करते थे या फिर मानसिक तनाव से पीड़ित थे, इन समस्याओं के समाधान के लिए वे अपराध में लिप्त हो गये थे, क्योंकि इससे (अपराध) या तो उनके माता–पिता का ध्यान उनकी और आकर्षित होता था या उनके साथियों का समर्थन उन्हें मिलता था या उनकी अपराध भावना को कम करता था। बहस और वाल्टर्म ने श्वेत बाल अपराधियों के कृत्यों की तुलना अनपराधी लड़की से ही जिनमें आर्थिक कठिनाईयों के स्पष्ट संकेत नहीं थे, उन्हें पता चला की अपराधी अनपराधीयों से उनकी माताओं के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से थोड़ा सा भिन्न ही है, लेकिन उनके पिताओं के साथ अपने सम्बन्धों में कुछ अधिक भिन्न थे,. इस प्रकार अपराध में पिता पुत्र सम्बन्ध, माता पुत्र सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण दिखाई दिए क्योंकि अपने पिता में आदर्श भूमिका की अनुपस्थिति के कारण अपराधी लड़के नैतिक मूल्यों का अंतरीकरण नहीं कर सके, इसके साथ ही उनका अनुशासन अधिक कठोर था।

(ब) समूह समर्थित बाल अपराध

इस प्रकार के अपराध में बाल अपराध अन्य बालकों के साथ में घटित होता है और इसका कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व या परिवार में नहीं मिलता, बल्कि उस व्यक्ति के परिवार व पड़ोस की संस्कृति में होता है। थ्रेशर शॉ और मैके के अध्ययन भी इसी प्रकार के बाल अपराध की बात करते है मुख्य रूप से यह पाया गया कि युवक अपराधी इसलिए बना क्योंकि वह पहले से ही अपराधी व्यक्तियों की संगति में रहता था, बाद में सदरलैंण्ड ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किये। जिसने विभिन्न संपर्क के सिद्धान्त का विकास किया।

(स) संगठित बाल अपराध

इसमें वे अपराध सम्मिलित हैं जो औपचारिक रूप से संगठित गिरोहों द्वारा किये जाते हैं, इस प्रकार के अपराधों का विश्लेषण सन् 1950 के दशक में अमरीका में किया गया था तथा अपराधी उपसंस्कृति की अवधारणा का विकास किया गया था। यह अवधारणा उन मूल्यों और मानदण्डों की ओर संकेत करती है जो समूह के सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित करते हैं, अपराध करने के लिए इन्हें प्रोत्साहित करते 'हैं, इस प्रकार के कृत्यों पर उन्हें प्रस्थिति प्रदान करते हैं और उन व्यक्तियों के साथ उनके संबन्धो को स्पष्ट करो है जो समूह मानदण्डों से बाहर के समूह होते हैं।

(द) स्थितिजन्य अपराध

स्थितिजन्य अपराध की मान्यता यह है कि अपराध गहरी जडे नहीं रखता और अपराध के प्रकार और इसको नियंत्रित करने के साधन अपेक्षाकृत बहुत सरल होते हैं, एक युवक की अपराध के प्रति गहरी निष्ठा के बिना अपराधी कृत्य में संलग्न हो जाता है, यह या तो कम विकसित, अन्त: नियन्त्रण के कारण होता है या परिवार नियंत्रण में कमजोरी के कारण या इस विचार के कारण कि यदि वह पकड़ा भी जाता है तो भी उसकी अधिक हानि नहीं होगी। डेविड माटजा ने इसी प्रकार के अपराध का सदर्भ दिया है।

बाल अपराधियों का वर्गीकरण

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधरों पर बाल–अपराधियों का वर्गीकरण किया गया है।। उदाहरणार्थ इन्हें छ श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है।

1. अशाध्यिता उदाहरणार्थ : देर रात तक बाहर रहना,
2. स्कूल से भागना,
3. चोरी,
4. सम्पत्ति की क्षति,
5. हिंसा एवं
6. यौन–अपराध

ईनर और पॉक ने अपराधों के प्रकार के आधार पर पाँच प्रकारों में किया हैं

1. छोटे–छोटे उल्लंघन : यातायात संबन्धी नियमों का उल्लंघन
2. वृहत उल्लंघन वाहन चोरी संबन्धी
3. सम्पत्ति सम्बन्धी
4. मादक व्यसन
5. शारीरिक हानि

राबर्ट ट्रोजानोविज (1973) ने अपराधियों को आकस्मिक, असामाजिकतापूर्ण आक्रामक, कदाचनिक और गिरोह संगठित में वर्गीकत किया है।

मनोवैज्ञानिकों ने बाल अपराधियों को उनके वैयक्ति गुणों या व्यक्तित्व :rकी मनोवैज्ञानिक गत्यात्मकता के आधार पर चारा भागों में बाँटा है, मानसिक रूप से दोषपूर्ण मनस्तापी तणिकामय पीडित और स्थितिजन्य।

3.04 बाल अपराध कारण

बाल अपराध एक सामाजिक समस्या है अत: इसके अधिकांश कारणों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) पारिवारिक कारण

परिवार बच्चों की प्रथम पाठशाला है, जहाँ वह अपने माता–पिता एवं भाई–बहनों के व्यवहारों से प्रभावित होता है। जब माता–पिता बच्चों के प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह करने में अस्मर्थ रहते हैं, तो बच्चों से भी श्रेष्ठ नागरिक बनने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। परिवार से संबंधित कई कारण बालक को अपराधी बनाने में उत्तरदायी है।

भौतिक वंशानुक्रमण

बच्चों के शरीर और स्वास्थ्य का संबंध उसके वंशानुक्रमण से भी है जो66 कि उसकी शारीरिक और सामाजिक भूमिकाओं को प्रभावित करता है, इटली के अपराधाशासी लोम्बोसो ने तो अपराधी' प्रवृति को व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से जनित ही माना था। गोडाई रिचार्ड डुग्डेल एवं इस्टा बुक ने कालिकाक और ज्यूक परिवारों का अध्ययन करके पाया कि ये परिवार शारीरिक दृष्टि से क्षत थे तथा इन परिवारों की सभी पीढ़ियां अपराधी थी। भारत में भूतपूर्व अपराधी जनजातियों को भी वंशानुक्रमण के आधार पर अपराधी घोषित किया गया था, अपराधी को वंशानुक्रमण की देन मानने वाले विद्वान मेण्डल के वंशानुक्रमण के सिद्धान्त से प्रभावित थे।

किन्तु वर्तमान में अपराध शास्त्र में इस अवधारणा का बहिष्कार किया गया। बर्ट ओर गिलिन ने अपने अध्ययनों मे बाल अपराध को वंशानुक्रमण से संबधित नहीं पाया।

भग्न परिवार निम्न दो प्रकार से टूट सकते हैं –

भौतिक रूप से तथा मानसिक रूप से :

भौतिक रूप से परिवार के टूटने का अर्थ है – परिवार के सदस्य की मृत्यु हो जाना, लम्बे समय तक अस्पताल. जेल, सेना आदि में रहने के कारण अथवा तलाक और पृथक्करण के कारण सदस्यों का परिवार में साथ–साथ नहीं रहना है।

मानसिक रूप से परिवार के दूटने का अर्थ हैं – सदस्य एक साथ तो रहते हैं किन्तु उनमें मनमुटाव, मानसिक संघर्ष एवं तनाव पाया जाता है। हंसा सेठ, कार, बर्ट, बेजहोट, सुलेन्तर व ग्लूक आदि अनेक विद्वानों ने अपने अध्ययनों में पाया कि भग्न परिवार बाल अपराध के जनक है।

अपराधी भाई–बहन

बच्चे अनुकरणप्रिय होते हैं वे हर अच्छे बुरे काम को बड़ी से अनुकरण के आधार पर सीखते हैं, यदि परिवार में बड़े भाई–बहिन अपराधी हैं और उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं तो बच्चों का व्यक्तित्व विकृत हो जाता है, उनमें विद्रोही भावना के स्वर मुखरित हो जाते हैं, वे दुषित वातावरण से बाहर रहने लगते हैं और गलत संस्कार प्राप्त कर अपराधी बन जाते हैं, अथवा माता पिता बच्चें को समान रूप से स्नेह नहीं देते, तो ऐसी स्थिति में भी बच्चे अपने को परिवार से अलग कर लेते हैं और उनके मन में अपराध की भावना जागृत हो जाती हैं।

माता–पिता द्वारा तिरस्कार

माता–पिता द्वारा बच्चे के विकास और अन्त: करण पर सीधा प्रभाव डालते हैं। अंतविवेक की कमी होने के कारण शत्रुता की भावना के साथ मिलकर आक्रामकता को जन्म देती है, ऐण्ड्री (1960) ने भी माना है कि बाल अपराधी अपराधियों की अपेक्षा माता–पिता का प्यार कम पाते हैं।

इसी प्रकार दोषपूर्ण अनुशासन भी बाल अपराध के लिए जिम्मेदार कारक है, अनुशासन का प्रभुत्वपूर्ण दृष्टिकोण बच्चे के मित्र समूह सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है क्योंकि बच्चा अपने साथियों के साथ स्वतंत्रता से व्यवहार नहीं कर पायेगा दूसरी और नम्र अनुशासन बच्चे के व्यवहार को निर्देशित करने के लिए आवश्यक नियंत्रण प्रदान नहीं करेगा, अनुचित या पक्षपातपूर्ण अनुशासन बच्चे में यथेष्ट अन्त: भावना का विकास करने में असफल रहता है।

परिवार की आर्थिक दशा

बच्चों की आवश्यकताओं को जुटा पाने में असमर्थ परिवार भी बच्चे में असुरक्षा पैदा कर सकता है ओर उस नियंत्रण की मात्रा को प्रभावित कर सकता है जो परिवार बच्चे पर डाल सकता है क्योंकि वह भौतिक समर्थन तथा सुरक्षा परिवार के बाहर खोजता है। पीटरसन और बेकर ने बताया कि अपराधियों के परिवार प्राय: भौतिक रूप से कमजोर होते है, जो कि बाल अपराधी के स्वयं के प्रत्यक्षण को प्रभावित कर सकते हैं और उसको घर से भागने में सहायक हो सकते है।

भीड़–भाड़ युक्त परिवार

आधुनिक समाज में नगरीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्ति को रहने का पर्याप्त स्थान नहीं मिल पता, बड़े परिवार को भी बहुत छोटे स्थान में रहना पड़ता है। इसके कारण माता–पिता न तो बच्चों पर पूर्ण ध्यान दे पाते हैं, न ही कोई आन्तरिक सुरक्षा उन्हें मिल पाती है' मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध नहीं होते हैं, अत: बच्चे अपराध की ओर प्रवृति हो जाते हैं, माता–पिता स्वयं ही उन्हें बाहर भेजना पसंद करते है, जहाँ बच्चे अपराधी बालकों की संगति प्राप्त करते हैं और स्वयं भी अपराधी बन जाते हैं।

(2) व्यक्तिगत कारण

पारिवारिक कारणों के अतिरिक्त स्वयं व्यक्ति में ही ऐसी कमियां हो सकती है जिनसे कि वह अपराधी व्यवहार को प्रकट करें।

शारीरिक कारक : जब बालक किसी प्रकार की शारीरिक अक्षमता का शिकार होता है तो उसमें हीनता की भावना विकसित हो जाती है वे अपराध की ओर प्रवृत हो जाते है, सिरिल, बर्ट, हीले तथा ब्रोनर एवं ग्लूक आदि ने बाल अपराधियों के अध्ययन में ऐसा पाया, हट्टन ने अनेक प्रकार के शारीरिक दोषों जैस बहरापन, स्थाई रोग, शारीरिक अपंगता, बुद्धि की कमी को बाल अपराध का कारण माना है।

(3) मनोवैज्ञानिक कारण

मनौवैज्ञानिकों ने मानसिक असमानताओं को भी बाल अपराध के लिए। उत्तरदायी माना हैं, मानसिक कारणों में दो कारक महत्वपूर्ण हैं।

मानसिक अयोग्यता :

गोडार्ड, हीले एवं ब्रोनर आदि ने अध्ययनो द्वारा यह पाया कि बाल मानसिक रूप से पिछडे होते है, क्लेश एवं चासो ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में सन् 1935 में अपना एक लेख 'दी रिलेशन बिटविन मोरलिटी एण्ड इण्टलेक्ट प्रकाशित किया जिसमें दर्शाया कि कमजोर मस्तिष्क वाले का झुकाव अपराध की ओर अधिक था मानसिक पिछड़ेपन के कारण उनमें तर्क शक्ति का अभाव होता है।

भावात्मक अस्थिरता और मानसिक संघर्ष

भावात्मक अस्थिरता के कारण भी बच्चे अपराधी हो जाते है, सिरिल बर्ट, हीले एवं ब्रोनर ने अध्ययनों में पाया कि प्राय: बाल अपराधी स्वयं को असुरक्षित अनुभव करते है एवं मानसिक संघर्ष से ग्रसित रहते है, इसी कारण वे अपराधों की ओर प्रवृत होते है।

(4) सामुदायिक कारण

जिस समुदाय में बच्चा रहता है यदि उसका वातावरण अनुपयुक्त है तो वह बालक को अपराधी बना सकता है, सामुदायिक कारकों में सुए कुछ प्रमुख का हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

पड़ोस : पड़ोस का प्रभाव नगरीय क्षेत्रों में अधिक दिखाई देता है, परिवार के अलारा बच्चा अपना अधिकतर समय पड़ोस के बच्चों के साथ व्यतीत करता है, पड़ोस अपराध में व्यक्तित्व सम्बन्धी आावश्यकताओं में व्यवधान बनकर, सांस्कृतिक–संघर्ष करके तथा असामाजिक मूल्यों को पोषित करने में सहायक हो सकता है, भीड–भाड़ वाले तथा अपर्याप्त मनोरंजन की सुविधाओं वाले पड़ोस बच्चों की खेल की प्राकृतिक प्रेरणाओं की उपेक्षा करता है और अपराधी समूहों के निर्माण को प्रोत्साहित करता है, पड़ोस में गृह सस्ते होटल, आदि भी अपराधिक गतिविधियाँ के जन्म स्थल होते हैं।

स्कूल :

विद्यालय के वातावरण का प्रभाव बच्चों पर अत्यधिक पड़ता है। अध्यापको का व्यवहार, स्कूल के सार्थ छात्रों व अध्यापकों के साथ सम्बन्ध, पाठ्यक्रमों की कठोरता, मनोरंजन का, अयोग्य छात्रों की पदोन्नीत् आदि कुछ ऐसे कारण है जो बच्चों के कोमल मस्तिष्क को प्रभावित करे उसे अपराधी बना देते हैं। कम अंक प्राप्त करने या फेल होने पर बच्चों को स्कूल छुड़वा दिया जाता है या अध्यापकों द्वारा उनका उत्पीड़न किया जाता है या छात्रों द्वारा मजाक उड़ाया जाता है इससे वे हीनता की भावना से, ग्रसित होते हैं और अपराध की ओर प्रवृत हो जाते है।

(स) चलचित्र और अश्लील साहित्य

अनैतिकता, मद्यपान, धूम्रपान से भरे चलचित्र और कामुक पुस्तकें ' बच्चों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़त हैं। कई बार वे अपराध के तरीके भी सीखते हैं, हमारे देश के कई भागों में चोरी, सेंधमारी और अपहरण आदि सिनेमा के तरीकों का प्रयोग करने के जुर्म में अनेक बालक पकड़े जाते हैं। वे दावा करते हैं कि उन्होंने सिनेमा से अपराध के तरीके सीखे थे। चलचित्र सरलता से धन प्राप्त करने की इच्छा जागृत करके, इन उपलब्धियों के लिये विधियाँ सुझाकर, और साहस की भावना भरकर, यौन भावनाएँ भड़का कर और दिवास्वण दिखाकर भी बच्चों में अपराधी व्यवहार की अभिरूचि का विकास करते है।

(द) अपराधी क्षेत्र

अपराधी क्षेत्र में निवास का भी अपराधी प्रवृति से घनिष्ठ संबध है, वेश्याओं के अड्डे, जुआरियों, शराबियों के पास निवास स्थान होने पर बच्चों के अपराधी होने के अवसर अधिक रहते हैं क्योंकि बच्चों में अनुकरण एवं सुझाव –ग्रहरणशीलता अधिक होने के कारण अपराधी प्रवृतियों के सीखने की संभावना रहती है. शॉट और मैनेंने ने यह बताया कि कई स्थान बच्चों को रखने की दृष्टि से सुरक्षित नहीं है शहर केन्द्र एवं व्यापारी क्षेत्र में अपराध अधिक होते हैं, ज्यों–ज्यों शहर के केन्द्र से परिधि की ओर जाते हैं अपराध की दर घटती जाती है, हीले एवं ब्रोनर की मान्यता है कि अपराध के प्रचलित प्रतिमानों से प्रभावित होकर गंदी बस्तियों के बच्चे अपराध करते है।

उपयुक्त कारकों के अतिरिक्तक बाल अपराध के लिए कुछ अन्य कारक भी उत्तरदायी है जैसे मूल्यो के भ्रम, सांस्कारिक भिन्नता एवं संघर्ष, नैतिक पतन, स्वतंत्रता में वृद्धि, आर्थिक मन्दी आदि। स्पष्ट है कि 'बालक को

अपराधी बनाने में किसी एक कारक का ही हाथ नहीं होता वरन् अनेक कारकों की सह–उपस्थितियो ही बालक को अपराधी बनाने में योग देती है।

3.05 बाल अपराध सम्बन्धी सिद्धान्त

मर्टन थेशर, शॅ एवं मैके, भीड कोहेन, क्लोवर्ड और ओहलिन आदि समाशास्त्रीय सिद्धान्तवादियो ने बाल अपराध के अपराधशास्त्रीय ज्ञान में प्रमुख योगदान दिया है जैसे मर्टन का मानक शून्यता सिद्धान्त, यह है कि जब पर्यावरण के भीतर उपलब्ध संस्थात्मक साधनो ओर उन लक्ष्यों के, जिन्हें व्यक्तियो ने अपने परिवेश में चाहा था, क बीच कोई विसंगति रह जाती है, तब तनाव या कुण्ठा पैदा होती है ओर प्रतिमान टूटते हैं परिणामस्वरूप विचलित व्यवहार का जन्म होता है।

थ्रेशर का गिरोह सिद्धान्त : यह सिद्धान्त समूह अपराध पर केन्द्रीत है थेशर का कहना है कि गिरोह बाल अपराध में सहयोग करता है, गिरोह किशोरावस्था की अवधि में निरन्तर खेल–समूहों और अन्य समूहों के बीच संघर्ष से उत्पन्न होता है और फिर अपने सदस्यों के अधिकारों की रक्षा तथा उन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये उस गिरोह में परिवर्तित हो जाता है, जो उनका पर्यावरण और उनका परिवार उन्हें प्रदान नहीं करता है।

धीरे–धीरे गिरोह विशिष्ट गुणों का विकास करता है, जैसे कार्य करने की विधि, अपराधी तकनीकों को प्रचारित करता है, पारस्परिक हितों और अभिरूचियों को उकसाता है, और अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करता है।

शॉ और मैके का सांस्कृतिक संक्रमण का सिद्धान्त : इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी क्षेत्र बाल अपराध की ऊँची दर में सहायक हैं: अपराधी क्षेत्र निम्न आय तथा भौतिक रूप से अवांछित क्षेत्र होते हैं, जिनके सदस्य आर्थिक उपेक्षाओं का शिकार होते हैं, इन क्षेत्रों में मौजूद अपराधी परम्पराओं का प्रभाव ही उन्हें अपराधी बनाता है।

जार्ज हरबर्ट भीड का "स्व" का सिद्धान्त और भूमिका सिद्धान्त : इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ सीमित संख्या में ही व्यक्ति अपराधी पहचान धारण करते हैं जबकि अधिक संख्या में लोग कानून पालक ही रहते हैं, अपराधी बनने तथा अपराधी पहचान धारण करने में कानून उल्लंघन करने वालों की केवल संगति करने से भी कुछ अधिक सम्मिलित होता। है इस प्रकार के संपर्क व्यक्ति के लिए सार्थक होने चाहिए और "स्व" तथा "भूमिका" की उप अवधारणाओं के समर्थक होने चाहिये जिनके प्रति वह समर्पित होना चाहता है।

एलबर्ट कोहेन का श्रमिक वर्ग के लड़के तथा मध्यमवर्गीय मानदण्ड मानता है कि अपराध मुख्य रूप से श्रमिक वर्ग की घटना है, श्रमिक वर्ग का लड़का जब कभी मध्यमवर्गीय जगह में जाता है तो वह स्वयं को स्थिति में सबसे नीचे जाता है वह मध्यमवर्गीय मूल्यों को एक स्तर तक मानता है और कुछ सीमा तक वह स्वयं को मध्यमवर्गीय मानकों में कर लेता है। इसलिये उसके समक्ष समायोजन की समस्या आती है। अपराधी उपसंस्कृति इन बालकों को स्थिति का आकार प्रदान करके समायोजन की समस्या हल करती है। अपनी सफलता के लिये प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष का सामना करने के लिये व्यवहार कुशल न होने के कारण श्रमिक वर्ग के लड़के कुण्ठा का अनुभव करते हैं, मध्यमवर्गीय मूल्यों तथा मानकों के विरूद्ध प्रतिक्रिया करते हैं और उनके अनुपयोगी मूल्यों को अपनाते हैं, समूह या गिरोह की अपराधी क्रिया मध्यमवर्गीय संस्थाओं के विरूद्ध वैधता और समर्थन प्रदान करती है।

क्लोवार्ड और ओहलिन का सफल लक्ष्यों और अवसर संरचना सिद्धान्त के अनुसार जब कभी बाल अपने लक्ष्यों को वैद्य तरीकों से प्राप्त करने में बाधाओं और अपनी आकांक्षाओं को निम्न स्तर तक लाने में असमर्थता के कारण, निम्नवर्गीय युवक गहन कुण्ठाओं का अनुभव करते हैं जो उन्हें अवैध विकल्पों और अवज्ञा की खोज में व्यस्त कर देता है।

वाल्टर मिलर का निम्नवर्गीय संरचना सिद्धान्त : निम्नवर्गीय संस्कृति की बात करता है जो प्रवाह प्रवजन, और गतिशीलता के परिणामस्वरूप उभरती है वे व्यक्ति जो इन प्रक्रियाओ के फलस्वरूप पिछड़ जाते हैं वे निम्न वर्ग के सदस्य होते हैं वे एक अलग प्रकार के व्यवहार को विकसित कर लेते हैं जो विशिष्ट रूप से कठोरता, चुस्ती, उत्तेजना, भाग्य और स्वायतत्ता जैस गुणों पर आधारित होता है।

डेविड माट्जा का बहाव सिद्धान्त : माटजा का मानना है कि व्यक्ति न तो पूर्णरूपेण स्वंतत्र है न ही व पूर्णरूपेण निंयत्रित है बल्कि बहवा स्वंतत्रता और नियंत्रण के कहीं बीच में है, इसलिये युवक अपराधी तथा परम्परात्मक क्रिया के बीच बहाव रहता है, यद्यपि युवक की अधिकांश क्रियाऐं कानून के अनुसार होती हैं, फिर भी यदा–कदा वह अपराध की ओर वह जाता है क्योंकि सामान्य परम्परात्मक नियंत्रण जो अपराधी व्यवहार में मौजूद होते हैं बहाव की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निष्प्रभावी हो जाते है। जब वह अपराध में लिप्त हो जाता है तो फिर वह परम्परात्मकता की ओर वापस बहकता है। इस प्रकार माटजा ने "अपराध' ' की इच्छाओं पर जोर दिया है।

यदि हम बाल अपराध से सम्बन्धित सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों क्या विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि सभी समाजशास्त्रियों ने पर्यावरण, सामाजिक संरचना और सीखने की प्रक्रिया पर बल दिया है।

3.06 बाल अपराधियों के उपचार की विधियाँ

मनोचिकित्सा

यह मनौवैज्ञानिक साधनों से संवेगात्मक और व्यक्तित्व संबंधी समस्याओं का निदान करती है, यह बाल अपराधी के विगत जीवन में कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों के विषय में भावनाओं अभिधारणाओं को बदलकर उपचार करती हैं। जब बच्चे के संबंध प्रारम्भिक अवस्था में अपने माँ–बाप, अच्छे नहीं होते, तो उसका संवेगात्मक विकास अवरूद्ध हो जाता है, परिणामस्वरूप अपने परिवार के भीतर ही सामान्य तरीकों से संतुष्ट न होकर वह अपनी बाल आकांक्षाओं को संतुष्ट करने के प्रयत्न में अक्सर आवेगी हो जाता है। इन आकांक्षाओं एवं आवेगों की संतुष्टि असामाजिक व्यवहार का रूप धारण कर सकती है। मनोचिकित्सा के माध्यम से अपराधी को चिकित्सक द्वारा स्नेह और स्वीकृति के वातावरण में विचरण करने दिया जाता है।

यथार्थ चिकित्सा

यथार्थ चिकित्सा इस विचार पर आधारित है कि अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाने वाले व्यक्ति अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करते हैं, यथार्थ चिकित्सा का उद्देश्य अपराधी बालक को जिम्मेदारी से काम करने में सहायता प्रदान करना अर्थात् असामाहिक क्रियाओं से बचाना है। यह विधि व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार का अध्ययन करती है।

व्यवहार चिकित्सा

इसमें नवीन सीखने की प्रक्रियाओं के विकास द्वारा बाल अपराधी के सीखे हुए व्यवहार में सुधार लाया जाता है। व्यवहार को पुरस्कार या दण्ड द्वार बदला जाता है, नकारात्मक प्रबलन निषेधात्मक व्यवहार (अपराधी क्रियाओं) को कम करेगा जबकि सकारात्मक प्रबलन (जैसे पुरस्कार) सकारात्मक व्यवहार को बनाए रखेगा। व्यवहार को बदलने में दोनों ही प्रकार के कारकों का प्रयोग किया जा सकता है।

क्रिया चिकित्सा

कई बच्चों में समूह स्थितियों में प्रभावी ढंग से मौखिक संवाद करने की क्षमता नहीं होती, क्रिया चिकित्सा विधि में बच्चों को उन्मुक्त वातावरण में कुछ न कुछ कार्य करवाये जाते हैं। जहाँ वह अपनी आक्रामकता की भावना को रचनात्मक कार्यो में, खेल या शैतानी में अभिव्यक्त कर सकता है।

परिवेश चिकित्सा विधि

यह ऐसा वातावरण पैदा करती है जो सुविधाजनक अर्थपूर्ण परिवर्तन तथा संतोषजनक समायोजन प्रदान करता है, यह उन लोगों के लिये प्रयोग किया जाता है, जिनका विचलित व्यवहार जीवन की विषम स्थितियों के प्रतिक्रियास्वरूप होता है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त बाल अपराधियों को उपचार में तीन और विधियों का प्रयोग भी किया जाता है।

1. व्यक्तिगत समाज कार्य अर्थात् कुसमायोजित बच्चे को उसकी समस्याओं से निपटने में सहायता करता है। व्यक्तिगत सामाजिक कार्यकर्ता परिवीक्षा अधिकारी कारगार सलाहकार हो सकता है।
2. व्यक्तिगत सलाह अर्थात अपराधी बालक को उसकी तुरन्त स्थिति को समझना और अपनी समस्या का समाधान करने के लिये पुनर्शिक्षित करना
3. व्यवसायिक सलाह अर्थात् बाल अपराधी को उसके भावी जीवन के चुनाव में सहायता करना है

3.07 बाल अ पराध को रोकने के उपाय

बाल अपराधों को रोकने के लिये वर्तमान में दो प्रकार के उपाय किये गए हैं प्रथम उनके लिए नए कानूनों का निर्माण किया गया है ओर द्वितीय सुधार संस्थाओं एवं स्कूलों का निर्माण किया गया है जैसे उन्हें रखने की सुविधाएँ हैं, यहाँ हम दोनों प्रकार के उपायों का उल्लेख करेंगे।

कानूनी उपाय

बाल अपराधियों को विशेष सुविधा देने ओर न्याय की उचित प्रणाली अपनाने के लिये बाल–अधिनियम और सुधारालय अधिनियम बनाए गए है। भारत में बच्चों की सुरक्षा के लिए 20वी सदी की दूसरी शताब्दी में कई बनें सन् 1860 में भारतीय दण्ड संहिता के भाग 399 व 562 में बाल अपराधियों को जेल के स्थान पर ट्रीज में भेजने का प्रावधान किया गया। दण्ड विधान के इतिहास में पहली बार यह स्वीकार किया कि बच्चों दण्ड देने के बजाय उनमें सुधार किया जाए एवं उन्हें युवा अपराधियों से पृथक रखा जाए।

संपूर्ण भारत के लिए सन् 1876 में सुधारालय स्कूल अधिनियम बना जिसमें 1897 में संशोधन किया गया ह अधिनियम भारत के अन्य स्थानों पर 15 एवं बम्बई में 16 वर्ष के बच्चों पर लागू होता था, इस कानून में शल–अपराधियों को औद्योगिक प्रशिक्षण देने की बात भी कही गयी थी, अखिल भारतीय स्तर के स्थान पर अलग–अलग प्रान्तों में बाल अधिनियम बने, सन् 1920 में मद्रास, बंगाल, बम्बई, दिल्ली, पंजाब में एवं 1949 में उत्तरप्रदेश में और व 1970 में राजस्थान में बाल अधिनियम बने, बाले अधिनियमों में समाज विरोधी व्यवहार व्यक्त करने वाले बालकों को प्रशिक्षण देने तथा कुप्रभाव से बचाने के प्रयास किये गए, इनके लिये दण्ड के स्थान पर सुधार को स्वीकार किया गया। 1986 में बाल न्याय अधिनियम पारित किया गया जिसमें सारे देश में एक समान बाल अधिनियम लागू कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार 16 वर्ष की आह से कम के लड़के व 18 वर्ष की आयु से कम की लड़की द्वारा किए गए कानूनी विरोधी कार्यो को बाल अपराध की श्रेणी में रखा गया। इस अधिनियम में उपेक्षित बालकों तथा बाल अपराधियों को दूसरे अपराधियों के साथ जेल में रखने पर रोक लगा दी गई, उपेक्षित बालकों को बाल गृहों का अवलोकन गृहों में रखा जाएगा। उन्हें बाल कल्याण बोर्ड के समक्ष लाया जाएगा जबकि बाल अपराधियों को बाल न्यायालय के समक्ष। इस अधिनियम में राज्यों को कहा गया कि वे बाल अपराधियों के कल्याण और पुनर्वास की व्यवस्था करेंगे।

बाल न्यायालय

भारत में 1960 के बाल अधिनियम के तहत बाल न्यायालय स्थापित किये गये है। सन् 1960 के बाल अधिनियम का स्थान बाल न्याय अधिनियम 1986 ने ले लिया है। इस समय भारत के सभी राज्यों में बाल न्यायालय है। बाल न्यायालय में एक प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट, अपराधी बालक, माता–पिता, प्रोबेशन अधिकारी, साधारण पोशाक में पुलिस, कभी–कभी वकील भी उपस्थित रहते हैं, बाल न्यायालय का वातावरण इस प्रकार का होता है कि बच्चे के मस्तिष्क में कोर्ट का आतंक दूर हो जाए, ज्यों ही कोई बालक अपराध करता है तो पहले उसे रिमाण्ड क्षेत्र में भेजा जाता है और 24 घंटे के भीतर उसे बाल न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है उसकी सुनवाई के समय उस व्यक्ति को भी बुलाया जाता है जिसके प्रति बालक ने अपराध किया। सुनवाई के बाद अपराधी बालकों को चेतावनी देकर, जुर्माना करके या माता–पिता से बॉण्ड भरवा के उन्हें सौंप दिया जाता है अथवा उन्हें परीवीक्षा पर छोड़ दिया जाता है या किसी द्यार संस्था. मान्यता प्राप्त विद्यालय परिवीक्षा हॉस्टल में रख दिया जाता है।

सुधारात्मक संस्थाएँ

बाल अपराधियों को रोकने का दूसरा प्रयास सुधारात्मक संस्थाएं एवं सुधरालयों की स्थापना करने किया गया है जिनमें कुछ समय तक बाल अपराधियों को रखकर प्रशिक्षण दिया जाता है, हम यहाँ कुछ ऐसी संस्थाओं का उल्लेख करेंगे –

रिमाण्ड क्षेत्र या अवलोकन

जब बाल अपराधी पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है तो उसे सुधाराक रख जाता है। जब तक उस पर अदालती कार्यवाही चलती है, अपराधी इन्हीं सुधरालयो में रहता है। यहाँ पर परिवीक्षा अधिकारी बच्चे की शारीरिक व मानसिक स्थितियों का अध्ययन करता हैं उन्हें मनोरंजन, शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि दिया जाता है ऐसे गृही में बच्चे से सही सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं जो वे न्यायाधीश के सम्मुख देह से घबराते है। भारत में दिल्ली एवं अन्य।। राज्यों में रिमाण्ड होना है। अब इनका स्थान सम्प्रेक्षण गृहों ने ले लिया है।

प्रमाणित या सुधारात्मक विद्यालय :

प्रमाणित विद्यालय में बाल अपराधियों को सुधार हेतु रखा जाता है। इन विद्यालयों को सरकार से अनुदान ऐच्छिक संस्थाओं चलाती है। इन स्कूलों में बाल अपराधियों को कम से कम तीन वर्ष और अधिकतम सात वर्ष की अवधि के लिये रखे जाते है। 18 वर्ष की आयु के बाल अपराधी के बोस्टले स्कूल के स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। इन स्कूलों में सिलाई, खिलौने बनाने, चमड़े की वस्तुएँ बनाने और प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक कार्यक्रम दो वर्ष के लिए होता है, बच्चों को स्कूल से ही कच्चा माल प्राप्त होता है और उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं को बाजार में बेच दिया जाता है और लाभ उसके खाते में जमा कर दिया जाता है। जमा की धनराशि एक निश्चित मात्रा तक पहुँचने के बाद स्कूल के बच्चे के केवल राज्य के उपयोग के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन करना होता है। बच्चों के 5वें दर्जे तक की बुनियादी शिक्षा भी दी जाती है वर्ष के अन्त में उसको विद्यालय निरीक्षक द्वारा संचालित परीक्षा में भी भाग लेना होता हैं। यदि कोई बाल पाँचवी कक्षा के बाद भी पढ़ना चाहता है तो उसे बाहर के किसी विद्यालय में प्रवेश दिला दिया जाता है।

बोस्टल स्कूल इस प्रणाली के जन्मदाता एल्विन रेगिल्स ब्रादूस थे, यहाँ उन्हीं बालको को रखा जाता है जिसकी आयु 15 से 21 वर्ष तक की होती है। उन्हें यहाँ प्रशिक्षण एवं निर्देशन दिये जाते हैं तथा अनुशासन में रखकर उसका सुधार किया जाता है। अवधि समाप्त होने, अच्छे आचरण का आश्वासन देने एवं भविष्य में अपराध न करने का वचन देने पर अपराधी को इस विद्यालय से मुक्त किया जाता है। ये स्कूल अपराधी का समाज से पुन: सामंजस्य कराने में योग देते है।

परिवीक्षा होस्टल

यह बाल अपराधियों के परिवीक्षा अधिनिमय के अन्तर्गत् स्थापित उन बाल अपराधियों के आवासीय व्यवस्था एवं उपचार के लिए होते है जिन्हें परिवीक्षा अधिकारी की देखरेख में परिवीक्षा पर रिहा किया जाता। परिवीक्षा हॉस्टल निवासियों को बाजार जाने की तथा अपनी इच्छा का काम चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता होती। विभिन्न देशों की भाँति भारत में भी बाल अपराधियों को सुधारने के लिये प्रयास किये गये हैं, और बाल अपराध की पुनरावृति में कमी आयी है फिर भी इन उपायों में अभी कुछ कमियाँ हैं जिन्हें दूर करना आवश्यक। बालक अपराध की ओर प्रवेश नहीं हो, इसके लिए आवश्यक है कि बालकों को स्वस्थ मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराये जाँए, अश्लील साहित्य एवं दोषपूर्ण चलचित्रों पर रोक लगायी जाए, बिगड़े हुए बच्चे को सुधारने में माता–पिता की मदद करने हेतु बाल सलाहकार केन्द्र गठित किये जायें तथा सम्बन्धित कार्मिकों को उचित प्रशिक्षण दिया जाए, संक्षेप में बाल अपराध की रोकथाम के लिए सरकारी एजेन्सियों (जैसे समाज कल्याण विभाग) शैक्षिक संस्थाओं. पुलिस, न्यायपालिका, सामाजिक कार्यकताओं तथा स्वैच्छिक संगठनों के बीच तालमेल की आवश्यकता।

3.08 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई में आपने यह जाना कि बाल अपराध क्या है, किन कारणों से बाल अपराध की दर में दिनोदिन वृद्धि होती जा रही। आपने यह भी समझा लिया होगा कि परिवार का अनुपयुक्त वातावरण, बुरी संगति, मानसिक अस्थिरता तथा कुण्ठाएँ बालकों के विचलित व्यवहार के लिए जिम्मेदार हैं। यद्यपि बाल अपराध की रोकथाम के लिए अनेक उपाय किये गये हैं फिर भी उन उपायों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन करने में अभी भी कठिनाई का सामना करना पड़ता। इसके लिए पुलिस' शैक्षिक संस्थाओं तथा स्वैच्छिक संगठनों में तालमेल की आवश्यकता।

3.09 बोध प्रश्न

1. बाल अपराध क्या हैं? भारत में बाल अपराध के उत्तरदायी कारणों की विवेचना कीजिए।
2. बाल अपराध के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।
3. बाल अपराध संबंधी प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए
4. भारत में बाल अपराध की समस्या को नियंत्रित करने के लिए कौन से उपाय अपनाए गये हैं?

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

- बेकर, हावर्ड एस, सोशल प्राब्लम्स ए मार्डन एप्रोच', जान विले एण्ड सन्स, न्यूयार्क,1966।
- कोहेन, एलबर्ट. 'डेलिंक्येंट बॉयज द कल्वर ऑफ द गैंग ', द फ्री प्रेस, ग्लेस्स इलिनॉयज,1955
- पॉक, के.एण्ड रिचमॉन्द, एफ.एल., स्कूल एण्ड डेलिंक्वेसी इगलबुड क्लिफ प्रेंटिस हॉल1972
- सेठ एच : ' 'ज्यूवेनाइल डेलिंक्वेंसी इ न इंडियन सेटिंग' ' मुम्बई, पापुलर बुक डिपो1990
- शर्मा बी: 'ज्यूवेनाई डेलिक्वेंसी एण्ड देआर सोशल स्ट्रक्चर',न्यू दिल्ली, उपल पब्लिशिंग हाउस,1996
- शार्ट जे.एफ. : 'डेलिंक्वेंसी एण्ड सोसायटी' ', न्यू जर्सी प्रेन्टिस हॉल1990

इकाई - *4*

मादक पदार्थों का उपयोग

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.01 प्रस्तावना

4.02 व्यसन के प्रकार एवं प्रभाव

4.03 व्यसन का प्रसार

4.04 व्यसन की रोकथाम के उपाय

4.05 शब्दावली

4.06 बोध प्रश्न

4.07 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- व्यसन के अर्थ और प्रकार को समझ सकेंगे।
- मादक पदार्थो के सेवन के प्रभाव को जान सकेंगे।
- मादक पदार्थो / व्यसन के प्रसार के कारणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- व्यसन की रोकथाम के उपायों को जान पायेंगे।

4.01 प्रस्तावना

मादक पदार्थो का सेवन मानव शरीर के स्नायु तंत्र को प्रभावित करता। इसके सेवन से शारीरिक कष्ट या मनोव्यथा से मुक्ति मिलती है लेकिन मौज मस्ती अथवा असीमित एवं निरन्तर प्रयोग से यह हानिकारक प्रभाव डालने लगता।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया, आधुनिक जीवन शैली, तनाव आदि ने मनुष्य के कदम नशीले पदार्थो की और बढ़ा दिये हैं। व्यसन के कारण व्यक्ति का पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन दुष्कर होता रहा है धीरे–धीरे ऐसे व्यक्तियों का एक समूह बन जाता है जिनमें कामुकता अपराधवृत्ति एवं चरित्रहीनता की संस्कृति बनने लगती। इस दल–दल में फंसे गुमराह युवक तस्करी. आतंकवादी एवम् राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में लिप्त हो जाते। मादक पदार्थो का व्यसन एक गम्भीर समस्या है। इसमें अल्पकालिक सुखद मनोदशा उत्पन्न करने के लिए मूलत: रासायनिक वस्तुओं का आदतन उपयोग किया जाता है।

अर्थ एवं अवधारणा

व्यसन

यद्यपि समाज में मादक पदार्थो का सेवन अनेक वर्षा से किया जा रहा हैं जिसमें मुख्य रूप से परम्परागत नशीले पदार्थो अफीम, चरस गांजा आदि प्रमुख थे लेकिन अब वर्तमान समय में हेरोइन, ब्राउन शुगर, स्मैक आदि का प्रचलन बढ़ने लगा है जिससे इन पदार्थो का अवैध रूप से क्रय–विक्रय और बिकरी को बढ़ावा मिला हैं। यदि नशा करने हेतु व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो एक और तो वैयक्तिक विघटन होगा वहीं दूसरी और सामाजिक जीवन में भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाएगी।

विश्व स्वास्थ्य संगठन विशेषज्ञ समिति (।950 "मादक व्यसन नित्यकालिक अथवा दीर्घ स्थायी नशो की वह दशा है जो किसी द्रव्य (प्राकृतिक या कृत्रिम) के बारम्बार सेवन से उत्पन्न होती।"

नशीले पदार्थो में एक ऐसा रासायनिक तत्व होता हैं जो व्यक्ति की प्रक्रियाओं को इस प्रकार प्रभावित करता है कि उससे उसका मस्तिष्क और स्नायुमण्डल प्रभावित होते हैं तथा व्यक्ति उन पदार्थो का व्यसनी / आदी बन जाता। व्यसन का शाब्दिक अर्थ मादक पदार्थो पर शारीरिक निर्भरता की और इंगित करता। व्यसनी व्यक्ति शरीर संचालन के लिए इन पदार्थो का सेवन करता है अन्यथा उसका शरीर संचालन बाधित होने लगता। व्यसन के मुख्य रूप से तीन लक्षणों का भी उल्लेख किया जा सकता।

1. मादक पदार्थो के सेवन की उत्कृष्ट इच्छा और उन्हें किसी भी प्रकार से प्राप्त करने का प्रयास।
2. नशीले पदार्थो के सेवन की मात्रा को निरन्तर बढ़ाने की प्रवृति।
3. इन पदार्थो के प्रभाव के परिणामस्वरूप शारीरिक और मानसिक निर्भरता।

अत: स्पष्ट है कि व्यसन शब्द मुख्य रूप से नशीले पदार्थो पर शारीरिक निर्भरता की और इंगित करता है अपने दुश्परिणामों के कारण यह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अहितकारी। इसे न केवल एक विपथगामी व्यवहार के रूप में देखा जा सकता है अपितु यह एक गम्भीर सामाजिक समस्या भी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो मादक पदार्थ या 'ड्रग्स' एक ऐसा रासायनिक पदार्थ है जिससे व्यक्ति का मस्तिष्क एवं स्नायुमण्डल प्रभावित होता है जबकि सामाजशास्त्रीय दृष्टि से यह पदार्थ आदत निर्माण में सहायक माना जाता है जिससे उस पदार्थ पर शारीरिक निर्भरता बढ़ती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि व्यसन शारीरिक निर्भरता वह स्थिति है जिसमें शरीर को अपने कार्य स्थान के लिए द्रव्य का निरन्तर सेवन चाहिये तथा द्रव्य पर मनोवैज्ञानिक निर्भरता का तात्पर्य उसके सेवन के आदी होने या सुख से है इस रूप में नशीले पदार्थ के आदी होने या व्यसन में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि व्यसन में व्यक्ति उस पदार्थ के बिना रह ही नहीं सकता और उस पदार्थ के लिए विव शरहता है यानि किसी भी दत्त का व्यसनी होना उसके आदी होने से अधिक खतरनाक।

4.02 व्यसन के प्रकार एवं प्रभाव

विश्व भर में नशीले पदार्थो के सेवन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रयासों को जानने से पूर्व नशो या व्यसन के प्रकारों को जानना भी अनिवार्य। इन मुख्य रूप से छ: प्रकार के आधार पर समझा जा सकता हैं। ये प्रकार निम्न रूप से है

1. शराब
2. अवसादक शान्तिकर पदार्थ
3. उत्तेजक पदार्थ
4. नार्कोटिक / स्वापक
5. भ्रामोत्पादक

6. निकोटीन

शराब :–

शराब का सेवन यदि कम या सीमित मात्रा में जाए तो इसे कई देशों में सामाजिक रूप से ठीक माना जाता है सामान्यतया इसका सेवन सुख, एक सामाजिक क्रिया, प्रेरणा या उत्तेजना के रूप में किया जाता। शराब के सेवन के पीछे कई सामाजिक, सांस्कृतिक कारक भी उत्तरदायी होते हैं जैसे उच्च वर्गो में सामाजिक रूप से इसके सेवन को मान्यता दी जाती। बेरोजगारी, बचपन में माता पिता की मृत्यु पति–पत्नी का कामकाजी होना, मित्रों का दबाव, फैशन, विज्ञापन आदि ऐसे कारक है जिससे व्यक्ति में शराब या मदिरापान की आदत विकसित होती है। व्यसन वर्तमान समाज की एक गंभीर समस्या है इसकी गम्भीरता को दो आधारों पर देखा जा सकता है (।) केवल भारत में ही नहीं विश्व स्तर पर इसके निवारण हेतु कार्यक्रम बनाने के प्रयास किए जा रहे है, (2.) वर्तमान समय में कम आयु युवा पीढ़ी तथा विद्यालय और महाविद्यालय में भी इसके सेवन का प्रचलन निरन्तर बढ़ता जा रहा। इसके सेवन का एक बड़ा कारण चिन्ताओं और तनावों से क्षणिक मुक्ति प्राप्त करना। धीरे–धीरे यह उसे व्यसनी बना देती। यह एक शान्तिकर पदार्थ है यद्यपि यह नसों को शान्त करते हुए तनाव को कम करती है। परन्तु साथ ही इसके अधिक सेवन से निर्णय।क्षमता मन्द होने लगती है।

शामक / अवसादक / शान्तिकर पदार्थ

व्यसन के इस प्रकार में शान्तिदायक या पीड़ाशामक मादक पदार्थ आते हैं। शामक या अवसादक पदार्थ केन्द्रीय नाड़ीमण्डल को अशाक्त करते हुए नींद उत्पन्न करते हैं। अत: इसका प्रभाव शान्तिकारक होता। इस श्रेणी में ट्रैंक्विलाइजर (शांति प्रदान करने वाले द्रव्य) और बार्बिट्युरेट आते हैं। सामान्यतया इन द्रव्यों का प्रयोग शल्य चिकित्सा के पूर्व और बाद में रोगियों के आराम और शिथिलीकरण के लिए किया जाता। इसी प्रकार से चिकित्सीय दृष्टि से उच्चरक्त चाप, अनिद्रा और मिरगी के रोगी को उपचार देने के लिए भी शमक द्रव्यों का उपयोग किया जाता। कम मात्रा में लेने पर व्यक्ति को शिथिलता का अनुभव कराते हुए ये द्रव्य सांस की गति व दिल की धड़कन को धीमा कर व्यक्ति को आराम पहुँचाते हैं। लेकिन अधिक मात्रा में इन पदार्थो का प्रयोग व्यक्ति को चिड़चिड़ा. आलसी और निष्क्रिया बना देता। शामक द्रव्यों का निर्धारित मात्रा से अधिक खुराक के रूप में प्रयोग व्यसनी के सोचने, काम करने, ध्यान देने की शक्ति को कम करते हुए भयावह स्थिति को उत्पन्न करता

उत्तेजक पदार्थ.

उत्तेजक द्रव्य अधिकांशत: मुख से लिए जाते हैं लेकिन कुछ पदार्थ जैसे मेथेड्रीन इंजेक्शन द्वारा भी लिए जाते हैं। इन पदार्थो का व्यसन करने वाले व्यक्तियों में शारीरिक निर्भरता की तुलना में मानसिक निर्भरता अधिक होती है अत: अचानक बन्द कर दिए जाने पर यही मानसिक अवसाद उत्पन्न करते है और व्यक्ति की स्थिति भयावह हो जाती। उत्तेजक मादक पदार्थो का सेवन निद्रा और उदासी को दूर करते हुए व्यक्ति को चुस्त, सक्रीय और फुर्तीला बनाता। डॉक्टर द्वारा ऐम्पोटामाइन की मध्यम डोज थकान को नियंत्रित करती है इनमें कैफीन और कोकीन भी सम्मिलित है परन्तु ऐम्पोटामाइन का दीर्घकालिक भारी उपयोग बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक और आर्थिक विकारों को उत्पन्न करता। अपराध जगत में ऐस्फेटाइन 'अपर्स या पेपपिल्स ड्रग के नाम से मशाहूर। इन उत्तेजक पदार्थो को अचानक बन्द कर देने से मानसिक बिमारियों व आत्महत्या जन्य अवसाद उत्पन्न होते हैं।

नार्कोटिक / स्वापक / तन्द्राकर पदार्थ,

अफीम के विभिन्न रूप में उपलब्ध चरस, गांजा, भांग, हैरोइन (स्मैक ब्राउन शुगर मारफीन, पैथेडीन) आदि व्यसन की नार्कोटिक श्रेणी में सम्मिलित हैं और प्राय: पौधों से प्राप्त होते हैं। व्यक्ति इन पदार्थो का व्यसनी चिन्ता, उदासी, और विवाद को दूर करने के प्रयास के कारण हो जाता हैं। तन्द्राकर पदार्थ शामक पदार्थो के समान

ही नाड़ीमण्डल पर अवसादक प्रभाव उत्पन्न कर व्यसनी व्यक्ति में आनन्द, सामर्थ्य, हिम्मत, जैसी भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। हैरोइन मार्फीन, पेथेडीन और कोकीन या तो क शके रूप में लिए जाते है या फिर तरल पदार्थ के रूप में इंजेक्शन द्वारा अफीम, गांजा, प्सस आदि को व्यक्ति या तो नाक से खींचता है या चिलम का सहारा लेता है लेकिन इन' सभी पदार्थो का अत्यधिक प्रयोग व्यक्ति की भूख कम करता है। नार्कोटिक पदार्थो का सेवन बन्द कर देने से अन्तिम डोज लेने के 8 से।2 घण्टे बाद कम्पन्न, पसीना आना, दस्त पेट व टांगों में ऐंठन, मानसिक वेदना जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इन सब अवस्थाओं से गुजरने पर व्यक्ति महसूस करता है कि जैसे वह जीते जी नरक भोगकर आया।

गांजे की अधिक मात्रा लती व्यक्ति को आनन्द की अपेक्षा आतंक महसूस कराता है तथा इसका सेवन बन्द कर देने पर व्यक्ति अचानक हिंसक हो उठता है या पागलों के समान झड़को पर दौड़ने लगता है। इस श्रेणी के सभी उत्पाद कोशिका की सारी।कार्यवाही को अस्त–व्यस्त कर देते हैं। मस्तिष्क की कोशिकाओं के साथ ऐसा होने पर असाधारण संवेदनायें उभरने लगती हैं।

विभ्रामात्मक पदार्थ (भ्रामोत्पादक) भ्रान्तिजनक पदार्थ

इन पदार्थो में सर्वाधिक व्यसन एस.एस.डी. का किया जाता। यह व्यक्ति द्वारा निर्मित एक रासायनिक पदार्थ। यह नशीला पदार्थ इतना शक्तिशाली है कि इसकी एक तोले से ही तीन लाख डोज बनाये जाते हैं। नमक के दाने से भी कम इसकी मात्रा मनुष्य में कई मनोरोगमय प्रतिकियाऐ उत्पन्न करता। इस पदार्थ के सेवन के 8–।0 घण्टे तक नींद आना लगभग असम्भव। एल.एस.डी. लेने के पश्चात गांजे के समान ही फले शबेक की घटना प्रारम्भ हो जाती है, व्यक्ति हिंसक होकर अपराध भी कर बैठता है तथा यह पूर्ण भ्रम की स्थिति उत्पन्न करते हैं। चिकित्सकों के द्वारा इन पदार्थो के सेवन की सलाह कभी नहीं दी जाती, ऐसे पदार्थो का सेवन बन्द कर देने पर अतिभय अवसाद, स्थायी मानसिक असंयम पैदा हो जाता है।

ताम्रकुटी / निकोटीन पदार्थ

ताम्रकूटी पदार्थो में सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चुरूट. नास (Snuff) व तम्बाकू सम्मिलित हैं। तम्बाकू की खेतो की जाती। जिसके पत्ते चौड़े और कडुवे होते हैं। ताम्रकूटी पदार्थो का कोई चिकित्कीय उपयोग नहीं होता परन्तु शारीरिक निर्भरता का जोखिम रहता हैं। यह व्यसनी में शिथिलन पैदा कर केन्द्रीय नाड़ीमण्डल को उत्तेजित करती है तथा उबाऊपन को दूर करती है। तम्बाकू का अधिक सेवन दिल की बीमारी, फैंफड़े के कैंसर, श्वास नली जैसे रोग उत्पन्न करता। का सेवन तीन प्रकार से किया जाता है :–

1. .धूम्रपान द्वारा
2. नस्य या सूंघने से
3. पान में रखकर या चूने के साथ मलकर।

परन्तु लोग इसे नशा नहीं मानते क्योंकि इस पदार्थ को छोड़ने के। कोई अपनयन लक्षण नहीं होने व अपराध का कारण नहीं बनने के कारण कानून भी इसे नशो की श्रेणी में नहीं रखता। विभिन्न शहरों में द्रव्य व्यसन की दर।7 से 25 प्रतिशत के बीच मिलती। जिनमें तम्बाकू एवं शराब के लजभग 65 प्रतिशत से अधिक व्यसनी मिल जाते हैं।

4.3 व्यसन का प्रसार

प्राचीन काल से ही विश्व भर के अनेक देशों में, अफीम, गाजा, चरस, भांग और शराब आदि का सेवन आनन्द, उन्माद, उल्लास, मानसिक और शारीरिक सुख के लिए किया जाता रहा। व्यसन की समस्या एक वैश्विक

समस्या। अत: प्रसार में सर्वप्रथम विभिन्न देशों में मादक द्रव्य सेवन की स्थिति को जानना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय नारकोटिक्स द्वारा प्रकाशित संयुक्त सर्वेक्षण रिपोर्ट,1991 में मादक द्रव्यों का सेवन कुछ विकसित देशों में कम है तो कुछ विकासशील देशों में बढ़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय नारकोटिक्स द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार, मादक द्रव्यों का सेवन विकासशील देशों में बढ़ रहा। सर्वेक्षण की रिपोर्ट को निम्न तालिका में देखा जा सकता।

क्र.स.	देश	मादक पदार्थ
1.	रूस	गाजा व चरस का सेवन करने वालों की संख्या1985–90 के बीच दुगुनी डोकर 1 लाख 40 हजार हो गई।
2.	युरोप	हेरोईन का उपयोग लगभग नर्गण्य जो है। कोकीन का सेवन बढ़ गया है।
3.	उत्तरी	गाजा, चरस एवं कोकीन की मांग काफी बढ़ी है,। '1990 में अमेरिका कनाडा में मादक द्रव्य 'दुरूपयोग सामाजिक –आर्थिक व्यय' प्रतिवर्ष 60– बिलियन डीलर आका गया है।लेकिन हेरोइन व कोकीन का उपयोग अब निरन्तर कम होता ' जा रहा।
4.	अफ्रीका	मादक द्रव्यों का सेवन पूरे महाद्वीप में फैल चुकी है।
5.	दक्षिण	हेरोइन की आसान उपलब्ध के कारण 'इसका दूरपयोग ,अफीम पर्याप्त।
6.	आस्ट्रेलिया	हेरोइन व्यसनियों की संख्या में तीव्र वृद्धि।
7.	दक्षिण	एशिया बांग्लादेश में मादक द्रव्यों का सेवन, अत्यधिक बढ़ रहा।
8.	भारत	प्रमुख शहरों में मादक पदार्थो के सेवन कर्ताओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।
9.	चीन	दक्षिण सीमावर्ती क्षेत्रों में पाये जाने वाला हेरोइंन का उपयोग अन्य भागों में भी फैल रहा है।
10.	जापान	कोकीन का प्रयोग सर्वाधिक बढ़ा है।
11.	मलेशिया	हेरोइन का उपयोग अधिक है।
12.	बैंकाक	हेरोइन के प्रयोग के साथ एड्स भी फैल रहा हैं। लेकिन नये, दुरूपयोगियों की संख्या में कमी आई है।

भारतीय संस्कृति में भी सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव, त्यौहारों अतिथि सत्कार जन्म, विवाह और मृत्यु आदि अवसर पर अफीम और भोंग जैसे कुछ पदार्थो का सेवन परम्परागत रूप से देखा जा सकता।

अब तक के इस इकाई में आप व्यसन के अर्थ, प्रकार और प्रभाव को समझ चुके होंगे लेकिन वर्तमान में नशा गांव–नगर विद्यालय, स्कूल, कॉलेज तथा महिलाओं और युवाओ में अत्यधिक गम्भीर रूप से फैलने लगा है अत: इस इकाई में अब आप नशो के प्रसार की विस्तार से जानकारी पा सकेंगे जिसमें मादक पदार्थो के प्रसार को,

प्रसार के कारण एवं मात्रा की दृष्टि से समझाने का प्रयास किया गया। नशो के प्रसार का विस्तृत विवेचन निम्न तीन बातों को ध्यान में रखकर किया गया।

1. मादक पदार्थो का प्रसार : कारण सम्बन्धी व्याख्या
2. गांव, नगर, विद्यार्थियों एवं श्रमिकों में मादक पदार्थो का प्रसार : विविध अनुभाविक अध्ययनों के आधार पर
3. नशे की प्रेरणा : परिवार व मित्र समूह की भूमिका।

मादक पदार्थो का प्रसार : कारण सम्बन्धी व्याख्या

मादक पदार्थो के प्रसार की व्याख्या यदि व्यसन करने वाले की परिस्थितियों की दृष्टि से की जाए तो यह कहा जा सकता है कि इन पदार्थो के सेवन की पूर्व प्रवृत्ति चार प्रकार के लोगों में मुख्य रूप से पाई जाती

1. जिन्हें मर्दानी भूमिका निभाने में कठिनाई हो।
2. जिनमें असफलता की आशंका व सामान्य अवसाद अधिक मिलता हो।
3. जो आसानी से होता शव कुण्ठित हो जाते है।
4. जो निराशा और चिन्ताओं को असहनीय पाते है।

व्यक्ति के द्वारा नशीले पदार्थो का सेवन शारीरिक, सामाजिक, धार्मिक या मनोवैज्ञानिक कारकों के परिणाम स्वरूप किया जाता। धीरे–धीरे वह इनका आदी हो जाता है अत नशीले पदार्थो के प्रसार में इन कारकों का विशेष योगदान। जिन्हें मोटे तौर पर चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया।

1. **मनोवैज्ञानिक कारण:** अर्थात व्यक्ति नशे का आदि तनाव को कम करने, अवसाद को शान्त करने कौतूहल को पूरा करने, खिन्नता अथवा उबाऊपन को दूर करने के लिए करता।
2. **सामाजिक कारण.** दूसरा कारण सामाजिक अनुभवों को सुसाध्य कसते, मित्रों द्वारा स्वीकार किए जाने या सामाजिक मूल्यों को चुनौती देने के रूप में देखा जा सकता।
3. **शारीरिक कारण :** अधिक देर तक जगते रहने कामुक, अनुभवों को उभारने पीड़ा निवारण तथा नींद पा लेने जैसे शारीरिक कारण नशो के प्रसार का महत्वपूर्ण कारण।
4. **अन्य कारण :** अर्थात धार्मिक अन्त: दृष्टि तेज करने, आत्म ज्ञान बढाने याव्यक्तिगत समस्याओं को हल करने के लिए भी व्यक्ति नशे की और अग्रसर होने लगता हैं।

गांव, नगर, विद्यार्थियों एवं श्रमिकों में मादक पदार्थो का प्रसार विविध अनुभाविक अध्ययनों के आधार पर

वर्तमान में किशोर एवं युवा वर्ग में नशे के बढ़ते प्रकोप ने विद्वानों को अध्ययन जी और आकर्षित किया जिसमें कॉलेज और विश्व विद्यालय के विद्यार्थियों पर किए गए अध्ययनों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाटा जा सकता है।

(अ) एकल अध्ययन. बनर्जी (कलकत्ता 1963) दयाल (दिल्ली1972 के चिटनिस (मुम्बई 1974) और वर्मा पंजाब (1977)

(ब) संयुक्त अध्ययन सेठी और मनचन्दा (उप्र.1987) दुबे कुमार और गुप्ता (कलकत्ता विश्वविद्यालय1969 व 1977 में)

(स) बहु केन्द्रीय अध्ययन (1976 में सात शहरों में 1966 में नौ शहरों में केन्द्रीय सरकार के कल्याण मन्त्रालय द्वारा डा. मोहन (अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्था, दिल्ली) के समन्वय में)

यदि कॉलेज के विद्यार्थियों पर किए गए सभी अध्ययनों को एकत्रित कर देखा जाए तो निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि (।) विद्यार्थियों द्वारा सर्वाधिक नशा शराब और निकोवीन का किया जाता हैं अर्थात यदि शराब, सिगरेट व पीड़ा शामक द्रव्यों को निकाल दिया जाए तो अन्य पदार्थो का अधिक प्रसार नहीं दिखाई देता। (2) पेशोवर और गैर पैशेवर विषयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों में मादक पदार्थो के सेवन की मात्रा भिन्न पाई जाती। (3) अधिकांश विद्यार्थी आनन्द प्रद द्रव्यों का सेवन करते है अथवा आराम या कौतुक के लिए नशा करते। (4) विद्यार्थी जागने की अपेक्षा सोना अधिक पसन्द करने हेतु अर्थात ऊर्ध्वगामी द्रव्यों की तुलना में निम्नगामी द्रव्यों का सेवन अधिक किया जाता। (5) स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षा में पढने वाले विद्यार्थियों में नशे की आदत को लेकर बहुत अन्तर नहीं। (8) सरकारी स्कूलों की अपेक्षा सार्वजनिक स्कूल के विधार्थियों में नशे का प्रचलन अधिक होता। (7) छात्रावासों के साथ संलग्न शिक्षण संस्थाऐ बिना छात्रावास वाली शिक्षण संस्थाओं से अधिक मादक पदार्थो का सेवन करने वाले विद्यार्थी उत्पन्न करती। (8) धनी युवकों की तुलना में निम्न आय वर्ग के युवकों में मादक पदार्थो का सेवन कम पाया जात। (9) ग्रामीण परिवेश के विधार्थियों की तुलना में नगरों के विद्यार्थी अधिक नशीले पदार्थो का सेवन करते हैं। (।0) नशीले पदार्थ बिना किसी भेदभाव के सभी जाति, धर्म या भाषा के विद्यार्थियों को समान रूप से आकर्षित करते हैं।

उपरोक्त अध्ययनों के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि।6–2। वर्ष तक की आयु के अधिक आय वर्ग वाले सार्वजानिक स्कूल एवं छात्रावास में निवास करने वाले विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों की तुलना में अधिक मादक पदार्थो के आदी होते। नशो की आदत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण आमोद–प्रमोद. एवं सनसनीखेज अनुभव की खोज पाया जाता हैं। जबकि व्यथा कम करने एवं पीड़ा से छुटकारा अथवा उपचार के रूप में मादक द्रव्य का आदी बन जाना तुलनात्मक रूप से कम दिखाई देता है।

औद्योगिक श्रमिकों पर किए गए गन्ग्राडे और गुप्ता (दिल्ली।970) अध्ययन के अनुसार (।) नशा करने वाले अधिक श्रमिक युवा थे जिनकी आयु 20 से 30 आयु वर्ग की थी। (2) अधिकांश श्रमिकों के द्वारा श्रमिक बनने के उपरान्त ही मादक पदार्थो के सेवन की आदत बनी। (3) नशे की आदत को विकसित करने में मित्रों एवं सह श्रमिकों का सुझाव महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता हैं (4) उप सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आय, शिक्षा का निम्न स्तर व मित्र समूहों का दबाव औद्योगिक श्रमिकों को व्यसनी बनाने वाले महत्वपूर्ण कारक हैं जिनमें मुख्य रूप से शराब का सेवन किया जाता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में मादक पदार्थो के प्रसार को भी अनुभाविक अध्ययनों के आधार पर समझा जा सकता। सर्वप्रथम ऐसा अध्ययन पश्चिमी बंगाल के एक गांव में एलनागर, मैत्रा और राव द्वारा किया गया, तत्पश्चात दुबे, वर्घीज एवं बेग, पंजाब में जिन्दल, देव, गुरमीत सिंह तथा सेठी एवं त्रिवेदी ने भी ग्रामीण क्षेत्रों में नशे के प्रसार एवं मुख्य रूप से सेवन किए जाने वाले नशीले पदार्थ को भी जानने का प्रयास किया गया।

सभी अध्ययनों के आधार पर निम्न प्रकार से निष्कर्ष निकाला जा सकता है. कि (।) ग्रामवासियों में सबसे अधिक नशीले पदार्थ के रूप में शराब का सेवन किया जाता है। उसके पश्चात तम्बाकू और अफीम का। (2) लिंग भेद के आधार पर पुरूषों में महिलाओं की तुलना में व्यसन की प्रवृत्ति अधिक देखने को मिलती है। (3) गाँवों में मादक पदार्थो के सेवन का एक बड़ा कारण मर्दानी किया है। (4) अफीम के सेवन की परम्परागत रूप से स्वीकृति होने के कारण सामाजिक इसमें अस्वीकृति या बुराई जैसी कोई बात नहीं थी। (5) खेतों में कार्य करने वाले ग्रामीण कृषक अपनी कार्य क्षमता को बढ़ाने एवं थकान का एहसास कम करने के उद्देश्य से भी अफीम का सेवन करते हैं।

वर्ष1997–98 में भारत में द्रव्य सेवन करने वालों का प्रतिशत

तालिका 1

क्र. स.	द्रव्य व्यसन / नशीला दवाएँ	प्रतिशत
I.	एल्कोहल	42.32
2.	अफीम	23.१3
3.	ब्राउन शुगर	8.00
4.	हेरोइन	4.74
5.	गाजा	3.46
8.	चरस	1.61
7.	मार्फीन	0.83
8.	भांग	0.60
9.	अन्य	15.31
	योग	100.00

उपरोक्त तालिका नं.I से यह स्पष्ट होता है कि भारत में मादक द्रव्यों का उपयोग करने वालों में सबसे अधिक लगभग 42 प्रतिशत एल्कोहल के व्यसनी हैं और सबसे कम व्यसनी (06 प्रतिशत) ऐसे है जो भांग का प्रयोग करते हैं। कई व्यसनी दो या दो से अधिक मादक द्रव्यों को प्रयोग भी करते हैं। हिन्दुस्तान टाइम्स के 26 जून।998 के संस्करण में प्रकाशित किया गया था कि दिल्ली में कच्ची हेरोइन अथवा ब्राउन शुगर की संगत में कैन्नाबिस सिंथेटिक अफीमी उत्पादों (जैसे: टिडिजेस्टिक प्रॉक्सीवॉन, मार्फिन निक्ट्रावाइट, बैक्कु लाइजन जैसे कम्पोज, फेनार्गन आदि) के साथ अन्य मादक द्रव्यों का सेवन भी किया जाता है। यह दर बम्बई और हैदराबाद में और भी अधिक है। अफीम का प्रयोग दिल्ली में सर्वाधिक पाया गया है।

तालिका 2

देश के प्रमुख नगरों में मादक द्रव्य व्यसन (प्रतिशत में)

प्रमुख नगर

मादक द्रव्य	बम्बई	मद्रास	दिल्ली	जयपुर	हैदराबाद	सागर
एल्कोहल	15.1	9.5	12.2	9.8	11.8	9.3
दर्द निवारक औषधियॉ	12.1	1.2	20.9	2.3	5.2	15.2
तम्बाकू	8.1	15.2	10.0	9.2	8.1	10.9
बारबी चुरेटस	0.6	1.4	0.4	0.4	0.5	0.5
गांजा / भांग	0.4	1.03	1.5	0.9	1.0	0.4
अफीम	0.4	0.3	0.5	0.2	0.1	0.3
एल.एस.डी	0.07	0.04	0.2	0.2	0.1	0.2

तम्बाकू सेवन से विश्व में लगभग पचास लाख लोगों की सालाना मष्त्यु हो जाती है। सन् 2020 तक तम्बाकू से होने वाली ऐसी मौतों की संख्या बढकर एक करोड़ वार्षिक होने फ्री सम्भावना। अकेले भारत में धूम्रपान से 9 लाख से अधिक लोग प्रतिवर्ष मरते है। इनमें से 90 प्रतिशत लोग कैंसर से मरते है। इसी प्रकार से भारत में तम्बाकू का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या 24 करोड़ के लगभग है जो विकासशील देशों में तम्बाकू का प्रयोग करने वालों का एक तिहाई है और विश्व के कुल तम्बाकू सेवन करने वालों का 20 प्रतिशत।

लेकिन यदि बड़े नगरों में व्यसनियों की संख्या देखी जाए तो कहा जा सकता है कि सर्वाधिक व्यसनी कलकत्ता शहर में पाए जाते हैं। तत्पशचात क्रमश: मुम्बई, अमृतसर ओर दिल्ली। उड़ीसा के पुरी में अफीम, गाजा, भॉग आदि का प्रयोग परम्परागत रूप से किया जा रहा है अत: आरम्भ से ही इस शहर में नशे का प्रचलन रहा। लेकिन वर्तमान में सभी स्थानों पर हेरोइन, चरस, मार्फीन आदि के पूरनेवन की संख्या बढ़ने लगी है।

गोवा एक ऐसा स्थान है जहाँ 11 में से 3 ताल्लुकाओं में गांजा व चरस का सेवन दिखाई देता।

नशे की प्रेरणा परिवार व मित्र समूह की भूमिका

मादक पदार्थो का सेवन एक सीखा हुआ व्यवहार है। जिसे व्यक्ति छ अपने मित्रों, परिचितों, परिवार 50 के सदस्यों या व्यक्तियों से अन्तःक्रिया द्वारा सीखा जाता है। सीखने का यह कार्य दबाव तथा अचेतन अनुकरण से होता है। परिवार और मित्र समूह व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाले ऐसे प्राथमिक तत्व है जिन्हें वह जीवन भर बनाए रखता है। अत: मादक पदार्थो का प्रसार करने में विभिन्न समूहों के योगदान की व्याख्या भी अपेक्षित है।

जिन परिवारों में स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं होता अथवा जो परिवार सामान्य नहीं होते ऐसे परिवारों के सदस्यों में मादक पदार्थो का व्यसन अधिक पाया जाता है।

अधिकांश द्रव्य सेवन कर्त्ताओं के परिवार सामान्य नहीं होते तथा उनके पारिवारिक सम्बन्धों में भी घनिष्ठता या स्नेहपूर्ण सम्बन्धों का अभाव होता। परिवार को शिथिल या अत्यधिक उग्र नियंत्रण माता–पिता में बच्चों के प्रति उतरदायित्वों की चेतना का अभाव, परिवार के सदस्यों के शराब पीने, धूम्रपान करने या मादक पदार्थो का सेवन करने सम्बन्धी व्यवहार बच्चों में नशे की आदत का प्रसार करते हैं।

परिवार के सामान ही मित्र समूह भी व्यक्ति में नशीले पदार्थो के सेवन की आदत को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। अधिकांश लोग मित्रों द्वारा ही द्रव्य सेवन के दीक्षित होते हैं। कई व्यक्ति मित्रों के साथ ही मादक पदार्थ लेते हैं, और कई बार नशे का पहला ज्ञान भी मित्रों से ही प्राप्त होता। अत: नशे का प्रसार करने में दोशपूर्ण पारिवारिक पर्यावरण, दमनात्मक सामाजिक व्यवस्था, छात्रावास उप संस्कृति, गन्दी बस्तियाँ, मित्र समूह का दबाव, आमोद–प्रमोद व परिहास का विशोश योगदान।

मादक पदार्थो के प्रसार की व्याख्या उसके सेवन की प्रेरणा के स्त्रोत के अभाव में अधूरी है। अर्थात कुछ ऐसे समूह है जो नशे के प्रसार में अहम् भूमिका निभाते है। इस दृष्टि से व्यसन के प्रसार के निम्न तीन तरीके

(1) समझाने बुझाने

(2) अचेतन अनुकरण

(3) ध्यान प्रवण चिन्तन

राम आहूजा ने कॉलेज.' विश्व विद्यालय के विद्यार्थियों के अध्ययन में व्यसन में परिवार और मित्र समूह की भूमिका को स्पष्ट किया। ये वे प्राथमिक समूह हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति पर सर्वाधिक होता। स्नेहपूर्ण पारिवारिक सम्बन्धों वाले परिवारों जिनमें माता–पिता और बच्चों के बीच उचित तालमेल, समन्वय और घनिष्ठता हो तथा बच्चों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए पीड़ित न होना पड़े, माता पिता बच्चों के समक्ष नैतिक व सामाजिक प्रतिमानों का पालन करें।

मादक पदार्थो का प्रसार 1980 के दशक तक बहुत अधिक नहीं था. परन्तु व 980 के उपरान्त देश में हेरोइन, स्मैक और अन्य नशीले पदार्थो का सेवन इतना अधिक बढ़ गया हैं कि विद्यार्थियों, कच्ची बस्तियों, ट्रक चालकों, रिक्शा चालको व श्रमिकों में इसका प्रचलन स्पष्ट दिखाई देने लगा है। जिन्हें यदि नशा मुक्त करने का प्रयास किया भी जाए तो वे अपनी आदत को छोड़ने में अधिक सफल नहीं हो पाते तथा नशे के लिए छोटे–मोटे अपराध करने से भी नहीं चूकते। अन्तराष्ट्रीय नरकोटिक्स कंट्रोल बोर्ड की जनवरी।99। की एक रिपोर्ट के अनुसार।990 में मादक द्रव्यों का सेवन विकसित की अपेक्षा विकासशील देशों में अधिक हुआ है।।8–29 वर्ष की आयु समूह की महिलाओं के कदम अब इस ओर बढ़ने लगे है। वहीं कल्याण मन्त्रालय दिल्ली के एक अध्ययन के अनुसार 24–30 व 3। –45 वर्ष की आयु के युवाओं में नशों की प्रवृति अन्य आयु समूहों की अपेक्षा अधिक पाई जाती।

व्यसन के उपरोक्त कारणों को निम्नांकित सिद्धान्तों द्वारा समझा जा सकता। **शारीरिक सिद्धान्त** :– इस सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक दोष व रोगों के कारण अर्थात द्रव्य को रासायनिक लक्षणों पर शारीरिक अनुकूलन के कारण व्यक्ति नशे की और अग्रसर होते है। मोरडोन्स रैएनडीएल्फ और निमविच जैसे विद्वानों ने शारीरिक सिद्धान्त के आधार पर मादक पदार्थो के व्यसन को स्पष्ट किया। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति शारीरिक दोषों व रोगों के कारण कुछ द्रव्यों के रासायनिक प्रभाव से शारीरिक अनुकूलन की वजह से मादक पदार्थ के सेवन का आदी हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त. यह सिद्धान्त मादक पदार्थो पर निर्भरता की व्याख्या कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों के आधार पर करता है इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ व्यक्तियों को दूसरों से भावनात्मक समर्थन व ध्यान चाहिये और इसके अभाव में वे लोग मादक पदार्थो के आदी होने लगते है। इन लोगों में निम्न आत्मविश्वास, आत्मनिदेशान की सीमित क्षमता, कुण्ठा व तनाव का सामना करने वाले लोग पौरूशी पहचान की अपर्याप्तता वाले लोग सम्मिलित है। अत: आधुनिक जीवन की परिस्थितियों के प्रति मय और असुरक्षा की अनुभूति भी व्यसन का कारण है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त इस सिद्धान्त के अनुसार परिस्थितियों अथवा सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को व्यसनी बनाते है। मादक द्रव्यों का लेना अन्य व्यक्तियों विशेष रूप से घनिष्ठ समूहों से सीखा जाता है। जो व्यक्ति अपने लक्ष्यों की वैध साधनों द्वारा प्राप्त नहीं कर पाते वे इतने हता शहो जाते है कि शराब की और अन्य मादक पदार्थो का सेवन आरम्भ कर देते है।

4.04 रोकथाम के उपाय

नशा विश्वभर की एक गम्भीर समस्या है अत: इस समस्या के लिए संयुक्त आक्रमण की आवश्यकता है जिसमें व्यसनियों का उपचार, सामाजिक उपाय, शिक्षा आदि सम्मिलित है। आधुनिक समाज में जनसंख्या की संरचना में होने वाले परिवर्तन एवं सामाजिक विकास से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतियोगी प्रक्रियाऐं काफी तीव्र हो गई है जिसका स्पष्ट प्रभाव विभिन्न सामाजिक संस्थाओं पर दिखाई देता है। लोगों का अलगाव, तनाव और अवसाद से मानसिक संतुलन गड़बड़ाने लगा है, यही कारण है कि मादक पदार्थो के सेवन का प्रतिशत गांव, नगर, विद्यालय एवं महाविद्यालय और महिलाओं में बढ़ता जा रहा है। अत: सामाजिक विद्यटन को रोकने के लिए व्यसन की इस अनियंत्रित स्थिति पर नियंत्रण आवश्यक।

नशो की और बढ़ते हुए कदमों की रोकथाम के लिए शिक्षा, चिकित्सा, स्वैच्छिक संगठन, सामाजिक कार्यकर्ता, सरकार एवं वैधानिक माध्यमों का प्रयोग आवश्यक है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यसन की रोकथाम के लिए किये जाने वाले उपायों को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में विभाजन किया जा सकता है (।) शैक्षणिक उपाय, (2) प्रवर्तक उपाय!। (मनाने वाले) (3) सुविधाजनक उपाय और (4) दण्डात्मक उपाय।

इन उपायों में से अधिकांशत: शैक्षणिक उपायों में नशे के शरीर और मन पर पड़ने वाले प्रभाव के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान कर जागरूकता लाने का प्रयास किया जाता है ताकि नशीले पदार्थ के सेवन के प्रति भय उत्पन्न हो जाए। जबकि दण्डात्मक उपाय में नशा करने वालों का अलगाव या विसंबंधन किया जाता है। व्यसन की रोकथाम के लिए किए जाने वाले प्रमुख उपायों में निम्न बातों को ध्यान रखा जाना चाहिये।

(1) **शौक्षणिक उपाय** शौक्षणिक उपायों को अपनाते समय यह व्यक्ति को जो तथ्य, संकेत या निशान दिये जाते है वे भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में होने चाहिए। भारत में साक्षरता की दर कम होने के कारण लिखित जानकारी की अपेक्षा नुक्कड़ नाटक/पोस्टर, चलचित्रों एवं टीवी आदि के माध्यम से इससे होने वाले बुरे प्रभाव को प्रदर्शित किया जाना चाहिए, साथ ही नशा करने वाले व्यक्तियों की सामाजिक –आर्थिक स्थिति, लिंग, धार्मिक विश्वास, उपसंस्कृति एवं पारिवारिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए इन उपायों को अपनाया जाना चाहिये।

शिक्षा देने के लक्षित समूहों में कॉलेज, विश्वविद्यालयों के युवा छात्रों, छात्रावासों में रहने वाले छात्रों कच्ची बस्तियों में रहने वाले लोगों, औद्यौगिक श्रमिकों, ट्रक चालकों एवं रिक्शा चालकों को अधिक सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(2) **धानिक उपाय**: मादक पदार्थो के सेवन की रोकथाम का एक महत्वपूर्ण उपाय वैधानिक प्रयास। ब्रिटिशकाल में।893 सर्वप्रथम रायल आयोग का गठन कर मादक पदार्थो के सेवन की समस्या की रोकथाम का कदम उठाया गया। सरकार द्वारा।985 में मादक पदार्थो की तस्करी की रोकथाम के लिए नारकोटिक ड्रग्स व साइकोट्रापिक सब्सटसिज एक्ट' बनाकर।4 नवम्बर।985 से लागू किया गया। जिसके उलंघन पर कठोर कारावास एवं जुर्माना दोनों को निर्धारित किया गया है इस कानून की सफलता के लिए नियमों का कठोरता से पालन करने के साथ मादक पदार्थो का व्यापार करने वाले व्यक्तियों तस्करों एवं षडयंकारियों को पकड़ने में जनता का सहयोग भी लिया जा सकता। इस अंतर्राष्ट्रीय समस्या को बढ़ने से रोकने के लिए स्थानीय निकायों को मजबूत बनाना होगा एवं इसके क्रय विक्रय को पूर्ण रूप से रोकना अनिवार्य करना होगा।

(3) **चिकित्सकीय उपाय**: व्यसन को रोकने में चिकित्सकों की अहम् भूमिका होती है। बाजार में मिलने वाली नींद की दवाइयों, अवसाद विरोधी दवाइयों, दर्दनाक दवाइयों और खांसी की दवाइयों में पाये जाने वाले पदार्थ कुछ समय तक नियमित सेवन से व्यक्ति को लती बना देते। अत: द्रव्यों के औशध निर्देश देने सम्बन्धी अभिवृतियॉ सकारात्मक होनी चाहिये। अर्थात् चिकित्सक को यह स्पष्ट रूप बताना चाहिये कि रोगी द्रव्यों के अतिरिक्त प्रभावों की अवहेलना नहीं करे एवं बिना चिकित्सकीय, परामर्शा के दवा लेने में सतर्कता बरते।

(4) **सामाजिक उपाय** : शिक्षा और चिकित्सा के समान व्यसन की रोकथाम में विभिन्न सामाजिक समूहों के सहयोग की अवहेलना नहीं की जा सकती। सामाजिक उपायों में परिवार नातेदार, मित्र और स्वैच्छिक संगठन सम्मिलित हैं। इस अध्याय में आपने जाना कि परिवार और मित्र समूह व्यक्ति के जीवन को इस दिशा में प्रभावित करने वाले प्राथमिक तत्व हैं। माता–पिता की उपेक्षा, अधिक विरोध व वैवाहिक असामंजस्य व्यक्ति को व्यसन की ओर ले जाने वाले प्रमुख कारण हैं। अत: माता–पिता को चाहिये कि वे पारिवारिक पर्यावरण को अधिक सामंजस्यपूर्ण बनाए रखने का प्रयास करें जिससे कम से कम बच्चे घर के बाहर रहकर मादक पदार्थो के सेवन के लिए प्रेरित नहीं होंगे। माता–पिता को बच्चे के असामाजिक व्यवहार तथा विपथगामी व्यवहार जैसे अध्ययन व अभिरूचियों आदि क्रियाओं में कम रूचि, गैर जिम्मेदार व्यवहार, चिड़चिड़ापन, आवेगी व्यवहार, व्यग्रता घबराहट की मुखाकृति आदि को देखकर कारणों का पता लगाना चाहिये। यदि माता–पिता सामाजिक और नैतिक

प्रतिमानों की पालना करें तो बच्चा भी अवश्य करेगा। अत: सामाजिक सुरक्षा, परिवार के निर्णयों में शामिल कर सामाजिक पर्यावरण को स्नेहपूर्ण बनाकर भी व्यसन की स्थिति को रोका जा सकता है।

उपचार

नारकोटिक्स मादक व्यसनी का पता लगाना ही अपने आप में एक कठिन कार्य नहीं है अपितु व्यसनीयों का उपचार करना भी अत्यधिक कठिन है। व्यक्तिगत रूप से यह कार्य और भी ज्यादा मुश्किल है अर्थात ऐसे लोगों के उपचार में मादक द्रव्यों के सेवन पर पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता होती है, जो घर की अपेक्षा चिकित्सालय में अधिक सम्भव है।

व्यसन एक मानसिक रोग है जिसका उपचार मनोचिकित्सकों एवं औशधियो से संभव है। इन व्यक्तियों का उपचार विभिन्न चिकित्सा केन्द्रों, मेडिकल कॉलेजों एवं नशा मुक्ति केन्द्रों पर निःशुल्क भी किया जाता है। व्यसन के उपचार के दौरान इन्हें लम्बे समय तक परामर्श की आवश्यकता होती है।

सरकारी प्रयास

नशीले पदार्थ के सेवन जैसे गम्भीर विषय पर एक महत्वपूर्ण कार्य, सरकार द्वारा केन्द्रीय मन्त्रालय, भारत सरकार के तत्वावधान में 33 शहरों के एक सामान्य अनुसंधानीय प्ररचना और उद्देशयों को दृष्टिगत रखते हुए किया गया। इन अध्ययनों का मूल उद्देश्य यह पता लगाना था कि–।

(1) नशीले पदार्थ एवं उनकी प्रवृत्ति व सीमा।

(2) नशीले पदार्थ के सेवन में योगदान देने वाले प्रमुख कारकों का पना लगाना।

(3) नशीले पदार्थ से आसानी से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों एवं जनसंख्या समूहों की जानकारी प्राप्त करना।

(4) व्यसन की रोकथाम की व्यवस्था एवं सुविधाएँ देना।

सरकार द्वारा नशा मुक्त करने हेतु प्रयासों में औपचारिक साधनों में सामाजिक अधिनियमों की मदद ली जा रही है वहीं दूसरी ओर स्वयंसेवी संगठनों एवं सरकारी अनुदान प्राप्त संगठन के माध्यम से नशा के विरूद्ध प्रचार–प्रसार एवं जागरूकता लाने के साथ–साथ व्यसनियों का उपचार किया जाता।

व्यसनियों के उपचार हेतु भारत सरकार के कल्याण मन्त्रालय द्वारा तीन प्रकार के केन्द्र स्थापित किए गए हैं–

(i) परामर्श (counselling) केन्द्र।

(ii) विव्यसन (de–addiction) केन्द्र।

(iii) उत्तर सेवा (after–care) केन्द्र।

कल्याण मन्त्रालय द्वारा स्थापित यह केन्द्र मार्च,।998 में।72 परामर्शा. केन्द्र।।। विव्यसन तथा 33 अनभिज्ञा (awarne) केन्द्र के रूप में स्थापित थे। जिन्हें।986 में कल्याण मंत्रालय ने और सरकारी संस्थाओं (NGOs)ए को सौंप दिया। परन्तु गैर सरकारी संगठनों द्वारा चलाये जा रहे केन्द्रों में केवल उन्हीं व्यसनियों का उपचार किया जाता है जो कि किसी अन्य बीमारी जैसे टीबी., अस्थमा, एचआईवी, जिगर आदि से पीड़ित नहीं होते। वस्तुत: अधिकांश व्यसनी किसी न किसी रोग से ग्रसित होते हैं अत: इन केन्द्रों पर उनके उपचार की सही व्यवस्था भी नहीं होती इसी कारण इनकी आलोचना भी की जाती। अत: अब इस बात फ बल दिया जाने लगा है कि इन केन्द्रों की उपचार व्यवस्था में परिवर्तन करना अनिवार्य। परन्तु अक्टूबर।995 से सरकार की उत्तर सेवा केन्द्रों की योजना को समाप्त कर दिया गया।

4.05 सारांश

व्यसन शब्द अंग्रेजीं के 'एडिक्ट शब्द का रूपान्तरण है जिससे शारीरिक निर्भरता की स्थिति प्रकट होती। व्यसन का अभिप्राय शरीर संचालन के लिए मादक पदार्थ का नियमित प्रयोग करना है अन्यथा शरीर के संचालन में बाधा उत्पन्न होती।

व्यसन न केवल एक विचलित व्यवहार है अपितु एक गम्भीर सामाजिक समस्या भी है। तनावों, विशदों, चिन्ताओं एवं कुण्ठाओं से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति कई बार असामाजिक मार्ग अपनाकर नशों की और बढ़ने लगता है। जो कि उसे मात्र कुछ समय के लिए उसे आराम देते हैं।

किसी प्रकार का व्यसन (नशा) न केवल व्यक्ति की कार्यक्षमता को कम करता है अपितु यह समाज और राष्ट्र दोनों के लिए हानिकारक। नशीले पदार्थो की प्राप्ति हेतु व्यक्ति, घर, मित्र और पड़ोस तक में चोरी एवं अपराधी क्रियाओं को अंजाम देने लगता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से देखा जाए तो व्यसन विभिन्न बिमारियों को आमंत्रण देता। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह तस्करी, आतंकवाद एवं देशद्रोही गतिविधियों को बढ़ावा देता। सामाजिक दृष्टि से जुआ, वेश्यावृति, आतंकवाद, डकैती, मारपीट, दंगे अनुशासनहीनता जैसी सामाजिक समस्याएँ व्यसन से ही संबंधित हैं।

व्यसनी व्यक्ति दीर्घकालीन नशों की स्थिति में उन्मत्त रहता है तथा नशीले पदार्थ पर व्यक्ति मानसिक एवं शारीरिक तौर पर पूर्णतया आश्रित हो जाता है। जिसके हानिकारक प्रभाव केवल व्यक्ति ही नहीं अपितु उसके परिवार और समाज पर भी पड़ते हैं।

4.06 बोध प्रश्न

1. व्यसन को स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार एवं प्रभाव बताइये।
2. व्यसन के प्रसार को स्पष्ट कीजिये।
3. व्यसन की रोकथाम के उपाय बताइये।

4.07 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आहूजा राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स जयपुर, 2002
2. बधेल जी. एस., अपराध शास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2002
3. राजौरा एवं एस.सील राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2000.
4. समकालीन भारत की समकालीन समस्याऐं।

इकाई - 5

निरक्षरता

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.01 प्रस्तावना

5.02 निरक्षरता : अवधारणा

5.03 शिक्षा परिभाषा एवं अर्थ

5.04 भारत में साक्षरता

5.05 निरक्षरता के मूलभूत कारण

5.06 निरक्षरता के दुष्परिणाम

5.07 निरक्षरता उन्मूलन हेतु प्रभावशाली साधन

5.08 निरक्षरता उन्मूलन हेतु सरकारी नीतियां, कार्यक्रम एवं प्रयास 99 प्राथमिक शिक्षा

5.10 शिक्षा गारन्टी योजना तथा वैकल्पिक एवं अनूठी शिक्षा

5.11 मध्यान्ह भोजन योजना

5.12 जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

5.13 महिला समाख्या योजना

5.14 राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

5.15 गैर सरकारी संगठन

5.16 महिला साक्षरता के लिए विशेष हस्तक्षेप

5.17 विशेष साक्षरता अभियान

5.18 जनशिक्षण संस्थान

5.19 प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय

5.20 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की शिक्षा

5.21 सारांश

5.22 बोध–प्रश्नों

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

- ♦ निरक्षरता का अर्थ एवं अवधारणा को समझ सकेंगे।
- ♦ निरक्षरता के मूलभूत कारणों को समझ सकेंगे।
- ♦ निरक्षरता उन्मूलन के लिए प्रभावशाली साधनों को जान सकेंगे।
- ♦ निरक्षरता उन्मूलन हेतु उठाये गये विभिन्न उपायों का जान सकेंगे।
- ♦ भारत में निरक्षरता के विकास एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।

5.01 प्रस्तावना

भारत सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक बुराइयों को जन्म देकर अंध–विश्वास को प्रश्रय देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। निरक्षरता के कारण ही वर्तमान लोकतंत्र प्रणाली में अपराधियों एवं अराजकता वर्चस्व है। शिक्षा के अभाव में लोग वैज्ञानिक खोजों से अनभिज्ञ रहते हैं, कृषि एवं कुटीर उद्योग समुचित रूप से विकसित नहीं हो पाते एवं बीमारी तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारियों से अपरिचित रहते हैं। अशिक्षा के कारण ज्ञान–विज्ञान का विकास नहीं होता तथा अन्ध–विश्वास एवं रूढिवादिता को प्रश्रय मिलता है। अशिक्षा का फायदा उठाकर ही गरीब एवं शोषित वर्ग के लोगों का सेठ, साहूकार एवं सूदखोर वर्ग के लोग आर्थिक शोषण करते हैं और उन्हें अपने यहाँ बन्तुआ मजदूर की भाँति कम वेतन पर कार्य, करवाते हैं। शिक्षा लोगों में सद्–असद का ज्ञान करवा कर वस्तुस्थिति से परिचित करवाती है एवं वैज्ञानिक जांच विकसित करने में सहायता प्रदान करती है। शिक्षा के अभाव में समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति निम्न है। उनका व्यक्तित्व घर की चार दीवार के अन्दर दम तोड़ देता है। स्त्रियों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शोषण के मूल में अशिक्षा ही है। शिक्षा के अभाव में स्त्रियाँ अपनी सन्तानों का उचित समाजीकरण नहीं कर सकती जिससे कि योग्य भावी पीढ़ी का समुचित विकास नहीं हो पाता। शिक्षा के अभाव में मानव मूर्ख जानवर के समान है क्योंकि शिक्षा द्वारा ही वह संस्कृति का अपनी आवश्यकतानुसार उचित रीति से निर्माण कर सकता है तथा अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बन सकता है।

निरक्षरता के कारण भारत अन्य राष्ट्रों से पिछड़ गया है, क्योंकि निरक्षर लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक जगत में पिछड़ जाते हैं। निरक्षरता के कारण ही अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त, निरक्षर लोग राष्ट्रव्यापी गम्भीर समस्याओं से भी अनभिज्ञ रहते हैं जो उन्हें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, वर्तमान भारत में जनाधिक्य के रूप में विद्यमान जनसंख्या विस्फोट के मूल में निरक्षरता रूपी दानव ही है। अत: निरक्षरता का जड–मूल से उच्छेदन करना ही समाज एवं राज्य का लक्ष्य है और हम सभी को इस ओर एक कदम बढाकर इस विषबेल को नष्ट करने में मील का पत्थर बनना चाहिए।

5.02 निरक्षरता : अर्थ एवं अवधारणा

साक्षरता से हमारा तात्पर्य वर्णमाला के अक्षरों और शब्दों को समझने, पहचानने और आशय निकलने की योग्यता से है। साक्षर व्यक्ति किसी शब्द एवं उसके अर्थ को तथा शब्दों द्वारा नियोजित वाक्य एवं वाक्यांश को देखकर उनके अर्थ एवं आशय निकाल लेता है। सामान्य अर्थो में साक्षर वह व्यक्ति है जो किसी भी भाषा को पढ़ना और लिखना जानता है। इस दृष्टिकोण से साक्षरता का अर्थ सीमित है क्योंकि केवल साक्षर होना या साक्षरता प्राप्त करना समाज का लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही साक्षरता समाज के किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन बन सकती है। भारत के जनगणना आयोग, 1991 में साक्षर व्यक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है, "उस व्यक्ति को 'साक्षर' माना जा सकता है जो किसी भारतीय भाषा को 'समाज के साथ' पढ़ और लिख सकता है, न कि केवल पढ़ और लिख सकता है।" इस परिभाषा में निरक्षर का यह आशय निकाला जा सकता है– निरक्षर वह

व्यक्ति है, जो केवल पढ़ सकता है, परन्तु लिख नहीं सकता। जो बिना तारतलताएवं बोधपरक समझ के साथ केवल पढ़ना और लिखना सीख लेता है उसे भी साक्षरता की श्रेणी में सम्मिलित नहीं कर सकते। साक्षरता के लिए जब अपरिहार्य है कि साक्षर व्यक्ति को 'बोधपूर्ण समझ के साथ' पढ़ना–लिखना आना चाहिए। इस सामर्थ्य को व्यक्ति औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है। साक्षर होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि व्यक्ति किसी विद्यालय में जाकर औपचारिक शिक्षा ही ग्रहण करें। वह किसी स्वयंसेवी संस्था द्वारा संचालित केन्द्र में जाकर साक्षर हो सकता है।

5.03 शिक्षा : परिभाषा एवं अर्थ

संस्कृति किसी भी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से विभेदीकृत कर एक नई पहचान प्रदान करवाती है। संस्कृति मानव द्वारा सीखा हुआ वह व्यवहार है जिसे वह एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हस्तांतरित करता है। ज्ञान की यह अनवरत परम्परागत सुखला शिक्षा ही है। शिक्षा मानव को सांसारिक एवं पारलौकिक जीवन जीने के योग्य बनाती है। शिक्षा का लक्ष्य मानव में पहले से विद्यमान समष्टि तत्वों की अभिव्यक्ति करना है।

बी.एस.फिलिप्स के मतानुसार, "शिक्षा वह संस्था है जिसका मूल तत्व ज्ञान का संग्रह करना है। " महात्मा गाँधी ने लिखा हैं कि, "शिक्षा से मेरा मंतव्य बच्चे के शरीर, मन और आत्मा में विद्यमान सर्वोत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास करना है।"

प्रख्यात समाजशास्त्री इमाईल दुर्खीम शिक्षा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि "शिक्षा अधिक आयु के लोगों के द्वारा ऐसे लोगों के प्रति की जाने वाली प्रक्रिया है, जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के पात्र नहीं है। इसका ध्येय व्यक्ति में उन भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक विशेषताओं को विकसित करना है जो उसके लिए सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण से अनुकूलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

5.04 भारत में साक्षरता

आधुनिक शिक्षा प्रणाली का उद्भव भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान 19वीं सदी से माना जा सकता है परन्तु, वास्तव में भारत की आजादी के बाद से शिक्षा का प्रतिशत सतत बढ़ रहा है तथा प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा का विकास हो रहा है। 1951 में भारत में साक्षरता का प्रतिशत 16.6 था जो 1961 में बढ़कर 24, 1971 में 29.43, 1981 में 36.17 1991 में 52.21 तथा 2001 में 64.84 हो गया।

5.05 निरक्षरता के मूलभूत कारण

भारतीय समाज में निरक्षरता के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं:–

1. **जाति / वर्ण व्यवस्था** –

भारतीय समाज में वैदिक युगीन समाज व्यवस्था को चार भागों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य एवं शूद्र में विभाजित किया था। शिक्षा का अधिकार द्विजों तक ही सीमित कर दिया गया था और शेष लोगों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया था। कालान्तर में वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था में रूपान्तरित हो गई। इस रूपान्तरण के साथ–साथ संस्कार भी एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में हस्तांतरित हो गए। प्राचीन शिक्षा प्रणाली केवल उच्च वर्ण एवं उच्च जातियों के लोगों तक सीमित कर दी गई। यह शिक्षा–प्रणाली वैदिक कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड पर आधारित थी। इस प्रकार शिक्षा को अल्पसंख्यक उच्च वर्ण एवं उच्च जातियों के लोगों तक ही सीमित किया गया तथा शेष समाज को शिक्षा से पूर्णत: वंचित कर दिया गया। सामाजीकरण के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और अशिक्षित रहने के संस्कार समाज में जड़ हो गए।

2. भाग्यवादिता :

भारतीय जीवन–शैली धर्म प्रदान रही है। पारलौकिक सत्ता के प्रति समर्पण का भाव जितना भारतीयों में पाया जाता है उतना अन्य कहीं भी देखने को नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में कर्म एवं भाग्यों का नियन्ता ईश्वर है। परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके जीवन को निर्धारित कर दिया है। भाग्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार "जीवन में उतना ही मिलेगा जितना ईश्वर ने लिख दिया है।" इसलिए शिक्षा ग्रहण करने से अतिरिक्त कुछ नहीं मिल सकता। भाग्य की लकीरें शिक्षा से बदली नहीं जाती। जब सब कुछ ईश्वर ने निर्णित कर दिया है तब किसी भी प्रकार के प्रयास करना व्यर्थ है। उक्त दृष्टिकोण भारतीय जनमानस में संस्कारित रूप से जड़वत हो गया है।

3. निर्धनता

भारत में अशिक्षा की वृद्धि के लिए निर्धनता एक महत्वपूर्ण कारक है। जिस देश में निर्धन लोगों को दो वक्त का भरपेट भोजन उपलब्ध नहीं हो पाता, उनसे शिक्षा ग्रहण करने की आशा करना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि शिक्षा ग्रहण करने के लिए वांछित रूपयों में गरीब लोग अपनी आजीविका की व्यवस्था करने को प्राथमिकता प्रदान करते हैं।

4. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव

भारतीय समाज धर्म प्रधान, भाग्यवादी, रूढ़िवादी तथा परम्पराओं 'के प्रचलन एवं निरन्तरता पर बल प्रदान करता है। भारतीय जनमानस में कूपमंडूक सोच सदियों से संस्कारों के माध्यम से व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन चुकी है। वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं प्रगतिाशील सोच के अभाव में चहुँ ओर निरक्षरता का बोलबाला रहा है।

5. ब्रिटिश का शासन

ब्रिटिश साम्राज्य ने प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर ब्रिटेन में प्रचलित शिक्षा प्रणाली का क्रियान्वयन भारत में किया। इसका मूलभूत उद्देश्य भारत में आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा–प्रणाली से भारतीयों को अवगत कराना नहीं था। अंग्रेज यह भी नहीं चाहते थे कि भारत से अशिक्षा का उन्मूलन हो और आधुनिक शिक्षा का प्रसार हो, वरन् उनका उद्देश्य प्रशासनिक कार्यो की सुविधा हेतु बाबु वर्ग की स्थापना करना था। इसीलिए उन्होंने सर्वशिक्षा के लिए किसी भी प्रकार के प्रयास नहीं किए। अंग्रेजों ने ग्रामीण क्षेत्रों में भी शिक्षा के प्रबंधन की ओर ध्यान नहीं दिया। अंग्रेज इतने चतुर, धूर्त और चालाक थे कि उन्होंने बाबुओं की जननी–अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा के केन्द्र नगरों में स्थापित किये थे जहाँ पर उस समय देश में 10 प्रतिशत जनसंख्या भी निवास नहीं करती थी और इस 10 प्रतिशत से कम की आबादी में सीमित वर्ग के लोग ही अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा से अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि अंग्रेजों ने 95 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या को नवीन शिक्षा–प्रणाली से अवगत कराने के लिए किसी भी प्रकार का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया जिसका दूरगामी परिणाम वर्तमान भारत में परिलक्षित होता है।

5.06 निरक्षरता के दुष्परिणाम

किसी भी समाज एवं राष्ट्र के लिए निरक्षरता एक बदनुमा दाग है जो कि अनेक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की जननी है। निरक्षरता के कारण समाज एवं राष्ट्र की प्रगति तथा विकास में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है। निरक्षरता के मुख्य दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं

1. आर्थिक विकास में बाधक

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए वहाँ के नागरिकों का शिक्षित होना अतिआवश्यक है। शिक्षा के अभाव में लोगों को अपने राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करने, मशीनों का संचालन करने तथा व्यवसाय के सुचारू प्रबंधन का तकनीकी एवं प्रशासकीय ज्ञान नहीं होता। अशिक्षित व्यक्ति उच्च आय प्रदान

करने वाली नौकरियों से वंचित हो जाता है। इससे केवल उसकी आर्थिक दशा ही प्रभावित नहीं होती है, वरन् राष्ट्रीय आय एवं लाभांश पर भी प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है। अधिकांशत: अशिक्षित व्यक्ति निर्धनता एवं शेषणयुक्त सामाजिक जीवन जीने के लिए मजबूर होते हैं। ये लोग सूदखोरों एवं साहूकारों के खूनी पंजे में फंसकर अपना और अपनी आने वाली पीढ़ियों का जीवन सदा के लिए बर्बाद कर देते हैं।

2. प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में बाधक

भारत में लोगों ने प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को अंगीकार किया है। जिस देश में आधी से ज्यादा जनसंख्या अशिक्षित हो, वहाँ के लोग प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को पूर्ण रूप से समझने में सक्षम नहीं हो सकते। जिसके फलस्वरूप कुछ अभिजात्य वर्ग के लोग, सीमित जातियाँ, संभ्रान्त परिवार, गुंडातत्व, धनिक वर्ग इत्यादि शासन पर कब्जा जमाए रखकर अधिसंख्यक लोगों को बेवकूफ बनाते हैं। इस प्रकार कतिपय जातियाँ एवं परिवार ही सदैव सत्ता पर अपना अधिकार बनाए रखते हैं तथा आमजन प्रजातन्त्र एवं इसके मूल्यों से लाभान्वित नहीं हो पाते।

3. समग्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक

शिक्षा व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का विकास कर उसे राष्ट्र एवं समाज निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करने में सहायता प्रदान करती है। शिक्षा के अभाव में बुद्धि एवं तर्क शक्ति का वर्तमान समय की आवश्यकता के अनुसार विकास नहीं हो पाता जिसके कारण व्यक्ति की सोचने–समझने एवं कार्य करने की शक्ति एवं क्षमता सीमित हो जाती है। परिपूर्ण व्यक्तित्व के अभाव में व्यक्ति वर्तमान समय की आर्थिक एवं औद्योगिक आवाश्यकताओ के अनुरूप स्वयं को अनुकूलन करने में असमर्थ पाता है।

4. सामाजिक विकास एवं सामाजिक समस्याओं का जन्म

समाज के विघटन एवं समाज में नाना प्रकार की समस्याओं की उत्पत्ति के लिए अशिक्षा एक महत्वपूर्ण कारक है। अनेक सामाजिक समस्याऐं जातिप्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, ऋणग्रस्तता, बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता, वेश्यावृति, बाल अपराध, अपराध इत्यादि अशिक्षा के कारण ही समाज में जन्म ले पाते हैं।

5. अन्धविाश्वासों की पालना

अशिक्षा अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण को जन्म देती है। आधुनिक तथ्यपरक चिकित्सा प्रणाली का अशिक्षित लोग प्रयोग नहीं कर पाते। ये लोग केवल भूत–प्रेत, देवी–देवता, झाड–फूँक, मन्त्र–तन्त्र, भोपा इत्यादि पर ही विश्वास करते हैं जिसके कारण इन्हें अनेक बार अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है। अशिक्षा के कारण जाति, धर्म, परिवार, विवाह इत्यादि से संबंधित अन्धविश्वासों का, समाज में प्रचार–प्रसार होने में सहायता मिलती है। अशिक्षित वर्ग के लोगों की स्थिति का लाभ उठाकर पन्डेपुजारी, मुल्ला–मौलवी, मुनी–मठाधीश, साधु–साध्वियाँ, सेठ–साहूकार आदि शेष करते हैं।

6. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बाधक

वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व वैश्वीकरण, खुलापन एवं निजीकरण की विचारधारा से आप्लावित है। औद्योगिक एवं तकनीकी क्रांति के युग में शिक्षा के अभाव में कोई भी राष्ट्र तरक्की नहीं कर सकता। वस्तुत: शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अन्य व्यक्तियों से अपने भावों एवं विचारों का सम्प्रेषण कर सकते हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में शिक्षा के अभाव में कोई राष्ट्र पूर्णरूप से विश्व के अन्य राष्ट्रों से समुचित कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं बना सकता। अनेक राष्ट्रों की भाषा अलग–अलग है। जापान में जापानी चीन में चीनी, पुर्तगाल में पुर्तगीज, अरब में अरबी, फ्रांस में फ्रेंच इत्यादि भाषाएँ प्रयुक्त की जाती हैं। शिक्षा के अभाव में भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता। भाषा–ज्ञान के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित होने में बाधा उत्पन्न होती है।

7. सभ्यता एवं संस्कृति निर्माण में बाधक

संस्कृति, समाज, समूह एवं समुदाय सम्मत तथा मान्यता प्राप्त वे भौतिक वस्तुऐं एवं अमूर्त विचार हैं जिन्हें समाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से हस्तान्तरित करता है। शिक्षा के अभाव में संस्कृति के समग्र तत्वों का हस्तान्तरण समुचित तरीकों से नहीं हो पाता। शिक्षा के द्वारा हम सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों को लिखित स्वरूप में स्थायित्व प्रदान करते हैं। शिक्षा के अभाव में नाना प्रकार के आविष्कार, खोजें, अन्वेषण एवं शोध कार्य व्यक्ति विशेष तक ही सीमित हो जायेंगे।

8. सामाजिक संघर्ष एवं संकुचित मानसिकता का उद्भव।

अशिक्षा के कारण बौद्धिक विकास रूक जाता है तथा तर्क शक्ति हो जाती है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का दृष्टिकोण स्वकेन्द्रित हो जाता है। अशिक्षा, भेदभाव, संघर्ष, धार्मिक उन्माद मजहबी कट्टरपन, सामुदायिक विवाद इत्यादि को पनपाने में सहायक सिद्ध होती है। अशिक्षा के कारण व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान भी नहीं कर पाता तथा उसकी संकीर्ण बुद्धि उसे उचित–अनुचित भला–बुरा, सही–गलत, कर्म–अकर्म के बीच अन्तर करने में मदद नहीं कर पाती।

9. राष्ट्रीय प्रगति में बाधक

अशिक्षा किसी भी राष्ट्र की प्रगति में जड़ता पैदा करती है। अशिक्षित लोग केवल शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं। ये लोग वैज्ञानिक अन्वेषण एवं आविष्कार करने में समर्थ नहीं पाते। वर्तमान कम्प्यूटरीकृत युग में शिक्षा के अभाव में व्यक्ति प्रगति एवं विकास की कल्पना नहीं कर।

5.07 निरक्षरता का उन्मूलन करने हेतु प्रभावशाली साधन

भारत में निरक्षरता एवं अशिक्षा उन्मूलन हेतु निम्नलिखित प्रयास किए जा सकते हैं –

1. शिक्षा को पूर्णत: निःशुल्क कर दिया जाए।
2. शिक्षा को कानूनी रूप से अनिवार्य बना दिया जाए।
3. शिक्षा का उचित प्रचार–प्रसार किये जाए जिससे कि लोगों, शिक्षा के प्रति व्यावहारिक जागरूकता पैदा हो सके।
4. देश में स्थानीय एवं मौखिक परम्परा से युक्त सांस्कृतिक कार्य के माध्यम से शिक्षा का जन सामान्य में प्रचार किया जाये।
5. शिक्षण पद्धति को रोचक एवं रोजगारोन्मुखी बनाने पर बल दिया जिससे कि सामान्य जन में शिक्षा के प्रति आकर्षण, जागरूकता एवं ललक पैदा हो सके।
6. शिक्षकों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए जिससे कि ग्रामीण में लोगों को शिक्षा के महत्व की वास्तविक जानकारी मिल सके।
7. ग्रामीण आँचल में कार्यरत शिक्षकों को वेतन, आवागमन के साधन,' आवास इत्यादि की अतिरिक्त सुविधा देकर इन्हें शिक्षा के प्रति समर्पित भाव से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।
8. शिक्षित स्त्री सम्पूर्ण परिवार में अच्छे संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने में मील का पत्थर साबित होती है। अत: स्त्री शिक्षा को निःशुल्क एवं कानूनी तौर पर अनिवार्य एवं सुविधाजनक बनाया जाए।
9. शिक्षा के प्रति लोगों की जागरूकता पैदा करने एवं रूचि जगाने के लिए चलचित्र, प्रदर्शनियों, क्रीडा–केन्द्रों इत्यादि की सुचारू रूप से उपलब्ध व्यवस्था की चाहिए।

10. वर्तमान समय में जनसंचार का प्रमुख माध्यम दूरसंचार के भिन्न– कार्यक्रम एवं केबल नेटवर्क डिश टीवी. इत्यादि हैं। शिक्षा के निःशुल्क प्रचार–प्रसार के लिए कानूनी रूप से बाध्य किया जाना चाहिए। इसी प्रकार सिनेमाघरों में शिक्षा के विषय में देना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।
11. सरल, रोचक एवं जन सुलभ साहित्य सस्ती दर पर अथवा निःशुल्क बांटने की सुचारू प्रणाली का विकास करने की आवश्यकता है।
12. स्थानीय भाषा एवं स्थानीय लोगों के सांस्कृतिक तत्वों मूल्यों एवं जीवन–शैली के अनुरूप अनुसंधान कर लोगों को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने के सुगम तरीकों को खोजने के प्रयास करने चाहिए।
13. शिक्षा के पाठ्यक्रम का इस प्रकार निर्माण किया, जिससे उसमें शिक्षाप्रद कहानियों–किस्सों एवं रोचक जानकारियों की सूचना सम्मिलित हो सके जिससे कि राष्ट्र में शिक्षा के प्रसार–प्रचार के साथ–साथ उच्च नैतिकता वाले नागरिक भी तैयार हो सकें।
14. ऐसे घुमंतुक (मोबाईल) वाहनों की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए जिसमें सरल एवं रोचक कहानियों एवं जानकारी से युक्त पुस्तकें पढ़ने और खरीदने के लिए उपलब्ध हों। इस घुमंतुक वाचनालय में मनोरंजक साहित्य के साथ–साथ सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक आविष्कारों और उपलब्धियों से संबंधित सूचनाऐं एवं जानकारी उपलब्ध करवाने वाला साहित्य भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।
15. देश–विदेश के ताजा समाचारों एवं नवीन खोजों, उपलब्धियों एवं जानकारियों को दूरस्थ इलाकों तथा निर्धन लोगों को उपलब्ध करवाने के लिए विभिन्न औद्योगिक घरानों द्वारा संचालित DTH (सीधे आपके द्वार) सेवा को उपयोग में लेने की अति आवश्यकता है।
16. गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने की वर्तमान समय में जरूरत है। इस शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक अक्षर–ज्ञान सिखाने वाली न होकर हस्तकला, लघु–कुटीर उद्योग सिखाने से संबंधित भी होना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाने के साथ–साथ इनका मानसिक अभिमुखन रोजागारोन्मुखी जीवन–शैली स्वीकार करने में सहायता प्रदान करती है। बुनियादी शिक्षा का माध्यम देश या मातृभाषा होनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र को आदर्श नागरिक उपलब्ध होंगें जो कि उच्च चरित्र एवं संतुलित व्यक्तित्व धारण किए होंगे। इस शिक्षा को निःशुल्क उपलब्ध करवाया जाना चाहिये जिससे महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक विचार एवं प्रजातान्त्रिक मूल्य लोगों के व्यक्तित्व में समाविष्ट हो सकें।
17. प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन – आमजन में शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता महसूस की गई थी क्योंकि प्रजातन्त्र की सफलता एवं स्थायित्व के लिए प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित होना चाहिए। इस हेतु पूर्ण रूप से प्रौढ़ निरक्षरों को शिक्षा देना अपरिहार्य है। प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत साक्षरता प्रदान करने के साथ–साथ 15 से 35 वर्ष की आयु के लोगों को स्वास्थ्य एवं स्वच्छता संबंधित नियमों की जानकारी, आर्थिक उन्नयन के कार्यक्रमों का प्रशिक्षण, मनोरंजन, अधिकार एवं कर्त्तव्यों का बोध करवाया जाता है। प्रौढ़ शिक्षा को मनोरंजक कार्यक्रमों. चलचित्र, प्रदर्शनी, लोकगीत–नृत्य, भजन कीर्तन, पोस्टर इत्यादि के द्वारा मनमोहक एवं रोचक बनाने की आवश्यकता होती है जिससे कि प्रौढ़ लोग शिक्षा के प्रति उत्साहित बने रहें। इसके अतिरिक्त इन लोगों के लिए निःशुल्क पुस्तकों का वितरण एवं पुस्तकालयों की व्यवस्था भी करनी चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत प्रौढ़ महिलाओं को अतिरिक्त सुविधा एवं आर्थिक लाभ देकर शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित करने की कोशिश करनी चाहिए।

5.08 निरक्षरता उन्मुलन हेतु सरकारी नीतियों कार्यक्रम एवं प्रयास

सन् 1976 से पूर्व शिक्षा पूर्ण रूप से राज्यों का उत्तरदायित्व था। संविधान द्वारा 1976 में किए गए जिस संशोधन से शिक्षा को समवर्ती सूची में डाला गया जिसके सकारात्मक रूप से दूरगामी परिणाम देखने को मिले।

केन्द्र सरकार ने अपनी अगुवाई में शैक्षिक नीतियों एवं कार्यक्रम बनाने और उनके क्रियान्वयन पर नजर रखने के कार्य को जारी रखा है। इन नीतियों में सन् 1986 की शिक्षा–नीति (एनपीई) तथा वह कार्यवाही कार्यक्रम (पीओए) शामिल है, जिसे सन 1992 में अद्यतन गया। संशोधित नीति में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली तैयार करने का प्रावधान है जिसके अंतर्गत शिक्षा में एकरूपता लाने, प्रौढाशिक्षा कार्यक्रम को जनांदोलन बनाने, सभी को शिक्षा सुलभ कराने, प्रत्येक जिले में नवोदय विद्यालय जैसे आधुनिक विद्यालयों की स्थापना करने, माध्यमिक शिक्षा को अनुशासनात्मक अनुसंधान करने, राज्यों में नए मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना करने, अखिल भारतीय प्रौद्योगिक शिक्षा परिषद को सुदृढ़ करने तथा खेलकूद, शारीरिक शिक्षा, योग को बढ़ावा देने एवं सक्षम मूल्यांकन प्रक्रिया अपनाने के प्रयास शामिल है।

एनपीई द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली एक ऐसे राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे पर आधारित है, जिसमें अन्य लचीले एवं क्षेत्र विशेष के लिए तैयार घटकों के साथ ही एक समान पाठ्यक्रम रखने का प्रावधान है। जहां एक ओर शिक्षा नीति लोगों के लिए अधिक अवसर उपलब्ध कराए जाने पर जोर देती है, वहीं वह उच्च एवं प्रौद्योगिक शिक्षा की वर्तमान प्रणाली को मजबूत बनाने का आव्हान भी करती है। शिक्षा नीति शिक्षा के क्षेत्र में कुल राष्ट्रीय आय का कम से कम 6 प्रतिशत धन लगाने पर भी जोर देती है।

5.09 प्राथमिक शिक्षा सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए)

सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए)

सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए) की योजना 2001 में शुरू की गई थी। एक राष्ट्रीय योजना के रूप में यह देश के सभी जिलों में लागू की जा रही है। एसएसए का उद्देश्य 2010 तक 6 से 14 वर्ष की आयु बर्ग वाले सभी बच्चों को उपयोगी और प्रासंगिक प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना है। एसएसए के लक्ष्य इस प्रकार हैं (1) सन 2005 तक सभी स्कूलों, शिक्षा गारंटी योजना केन्द्रों / ब्रिज पाठ्यक्रमों में 6– 14 वर्ष की आयु वर्ग के समस्त बच्चे। (2) सभी प्रकार के लैंगिक एवं सामाजिक भेदभाव प्राथमिक शिक्षा के स्तर वर्ष 2007 तक तथा 2010 तक बुनियादी शिक्षा स्तर पर समाप्त करना। (3) 2010 तक सभी के लिए शिक्षा। जीवन हेतु शिक्षा पर विशेष ध्यान देते हुए संतोषप्रद गुणवत्ता की प्राथमिक शिक्षा पर जोर। यह कार्यक्रम पूरे देश में लागू किया जा रहा है। इसमें बालिकाओं, अनुसूचित जाति / जनजाति के छात्रों तथा दुष्कर परिस्थितियों में रह रहे छात्रों की शैक्षिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत जिन आबादी क्षेत्रों में अभी तक स्कूल नहीं हैं, वहां नए स्कूल खोलना तथा अतिरिक्त कक्षाओं हेतु नए कमरे, शौचालय, पेयजल, रखरखाव एवं स्कूल सुधार अनुदान के माध्यम से नए स्कूल खोलना और पुष्टि करना शामिल है। सर्वशिक्षा अभियान की शुरूआत से दिसम्बर 2006 तक लगभग। 1.81 लाख नए विद्यालय खोले जा चुके हैं। 1'49,683 लाख नई विद्यालय इमारतें तथा 6,50442 लाख अतिरिक्त कमरे या तो पूरे हो चुके हैं या पूरे होने वाले हैं और 31.03. 2007 तक एसएसए के अंतर्गत 8.14 लाख नए शिक्षक नियुक्त किए जा चुके हैं।

सर्वशिक्षा अभियान के तहत स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की संख्या में भारी कमी लाने में सफलता प्राप्त हुई है। 2001 –02 में स्कूल छोड़ने वाले 3.20 करोड़ बच्चों के मुकाबले मार्च 2007 में यह संख्या लगभग 70 लाख रही। इसी अवधि के दौरान प्राथमिक स्तर पर लड़कियों के नामांकन में 19.2 प्रतिशत की तथा उच्च प्राथमिक

स्तर पर 15 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। वर्तमान में 67 लाख बच्चे उन वैकल्पिक स्कूलों में नामांकित हैं जो छोटे और दूर–दराज की रिहायशों में खोले गए हैं और, कामकाजी बच्चों, परिवारों के साथ दूसरी जगहों से आए बच्चे और शहरी वंचित बच्चों को शिक्षा मुहैया कराते हैं। एसएसए में बालिकाओं एवं समाज के कमजोर वर्गो के बच्चों पर विशेष ध्यान देने का प्रावधान है। इसके तहत ऐसे बच्चों के लिए निःशुल्क पाठ्य पुस्तकों की व्यवस्था सहित कई अन्य कार्यक्रम चलाए जा रही हैं। शिक्षा के अंतर को समाप्त करने के लिए एसएसए के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों तक में कम्प्यूटर शिक्षा दिलाने का भी प्रावधान है।

5.10 शिक्षा गारन्टी योजना तथा वैकल्पिक एवं अनूठी शिक्षा

शिक्षा गारंटी योजना तथा वैकल्पिक एवं अनूठी शिक्षा (ईजीएस तथा एआईई) स्कूल नहीं जा रहे बच्चों को बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के तहत लाने का सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए) का एक महत्वपूर्ण घटक है। इस योजना में स्कूली शिक्षा से अभी तक छूट गए प्रत्येक बच्चे के लिए अलग से योजना बनाने का प्रावधान है।

ईजीएस में ऐसे दुर्गम आबादी क्षेत्रों पर ध्यान दिया जाता है, जहां एक किलोमीटर के घेरे में कोई औपचारिक स्कूल नहीं हो और स्कूल नहीं जाने वाले 8– 14 वर्ष के आयु वर्ग के कम से कम 15–25 बच्चे वहां मौजूद हों। पर्वतीय क्षेत्रों के दुर्गम क्षेत्रों जैसे अपवादों में 10 बच्चों पर भी एक ईजीएस स्कूल खोला जा सकता है। वैकल्पिक शिक्षा की शुरूआत समाज के वंचित वर्ग के बच्चों–बाल श्रमिक, सडकों पर जीवनयापन करने वाले बच्चे, प्रवासी बच्चे, कठिन परिस्थिति में रहने वाले बच्चे और 9 वर्ष से अधिक आयु के बच्चों के लिए बनाई गई है। ईजीएस और एआईई में देश–भर में किशोरावस्था की बालिकाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

वर्ष 2005–06 के दौरान प्राथमिक और साक्षरता विभाग ने 35 राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के 600 जिलों के लिए जिला योजनाएं मंजूर की। वर्ष 2006–07 में ईजीए 7 एआईई की सहायता से 103.82 लाख बच्चों को प्राथमिक शिक्षा से जोड़ा गया। सुदूर बस्तियों में रहने वाले 47.1 लाख बच्चों को एक लाख शिक्षा गारंटी योजना केन्द्रों के माध्यम से शिक्षा प्रदान की और स्कूल न जाने वाले 31.92 लाख बच्चों को स्कूल शिविर और ब्रिज पाठ्यक्रमों से जोड़ा गया।

5.11 मध्याहण भोजन योजना

नामांकन बढ़ाने, उन्हें बनाए रखने और उपस्थिति के साथ–साथ बच्चों के बीच पोषण स्तर सुधारने के दृष्टिकोण के साथ प्राथमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पोषण सहयोग कार्यक्रम 15 अगस्त, 1995 से शुरू किया गया। केन्द्र द्वारा प्रायोजित इस योजना को पहले देश के 2408 ब्लॉकों में शुरू किया गया। वर्ष 1997–98 के अंत तक एनपी–एनएसपीई को देश के सभी ब्लॉकों में लागू कर दिया गया। 2002 में इसे बढ़ाकर न केवल सरकारी, सरकारी सहायता प्राप्त और स्थानीय निकायों के स्कूलों के कक्षा एक से पांच तक के बच्चों तक किया गया बल्कि ईजीएस और एआईई केन्द्रों में पढ़ रहे बच्चों को भी इसके अंतर्गत शामिल कर लिया गया। इस योजना के अंतर्गत शामिल है. प्रत्येक स्कूल दिवस प्रति बालक 100 ग्राम खाद्यान्न तथा खाद्यान्न सामग्री को लाने–लै जाने के लिए प्रति क्विण्टल 50 रूपये की अनुदान सहायता 1 सितम्बर 2004 में, इस योजना में संशोधन कर सरकारी, सहायता प्राप्त स्कूलों और ईजीएस / एआईई केन्द्रों में पढ़ाई कर रहे कक्षा एक से पांच तक के सभी बच्चों को 300 कैलोरी और 8– 10 ग्राम प्रोटीन वाला पका हुआ मध्याणु भोजन प्रदान करने की व्यवस्था की गई।

उद्देश्य

मध्याह्न भोजन योजना के उद्देश्य हैं:–

1. सरकारी, स्थानीय निकाय तथा सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों, और ईजीएस तथा एआईई केन्द्रों में कक्षा एक से पांचवीं तक पढ़ने वाले बच्चों की पोषण स्थिति में सुधार।
2. सुविधाहीन वर्ग के गरीब बच्चों को कक्षाओं में नियमित उपस्थित रहने तथा कक्षाओं की गतिविधियाँ पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए प्रोत्साहित करना।
3. गर्मियों की छुट्टियों के दौरान सूखा प्रभावित क्षेत्रों में प्राथमिक स्तर के बच्चों को पोषण सहायता उपलब्ध कराना।

5.12 जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

केन्द्र द्वारा प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम 1994 में शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में फिर से जान फूंकना और प्राथमिक शिक्षा के सावर्गीकरण का लक्ष्य पूरा करना था। डीपीईपी का लक्ष्य सभी को शिक्षा दिलाने, बच्चों को स्कूलों में बनाए रखने, शिक्षा के स्तर में सुधार करने तथा समाज के विभिन्न वर्गो में असमानता कम करके साथ–साथ काम करना है। कार्यक्रम के घटकों में नए स्कूल और कक्षाओं का निर्माण, अनौपचारिक / वैकल्पिक शिक्षण केन्द्रों की स्थापना, नए अध्यापकों की नियुक्ति, छोटे बच्चों के लिए शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, राज्यस्तरीय शैक्षिक अनुसंधान केन्द्रों और प्रशिक्षण परिषदों (एससीईआरटी) जिला शैक्षिक प्रशिक्षण संस्थान (डीआईईटी) का सशक्तिकरण, प्रखण्ड (ब्लाँक) संसाधन केन्द्र समूह संसाधन केन्द्र, अध्यापक प्रशिक्षण, शिक्षण अध्यापन सामग्री का विकास, अनुसंधान आधारित पहल, वंचित समूहों, बालिकाओं, अनुसूचित जाति / जनजातियों आदि हेतु शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए विशेष पहल, विकलांग बच्चों को समन्वित शिक्षा देने हेतु पहल एवं अध्यापक प्रशिक्षण के लिए सुदूर (डिस्टेंस) शिक्षा को भी डीपीईपी योजना में शामिल किया गया है।

5.13 महिला समाख्या योजना

महिला समाख्या योजना ग्रामीण क्षेत्रों खासकर सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों की महिलाओं की शिक्षा तथा उनके सशक्तीकरण के लिए 1989 में शुरू की गई। महिला संघ गाँव स्तर पर महिलाओं को मिलने, सवाल करने और अपने विचार रखने तथा अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने के अलावा अपनी इच्छाओं को जाहिर करने का स्थान मुहैया कराते हैं।

महिला संघों ने ग्रामीण महिलाओं के दृष्टिकोण में विभिन्न कार्यक्रमों और जागरूकता अभियानों के माध्यम से बदलाव ला दिया है जिसका प्रभाव अब घर, परिवार में, सामुदायिक तथा) ब्लाँक और पंचायत स्तर पर देखा जा सकता है। कार्यक्रम में बच्चों खासकर लड़कियों की शिक्षा की आवश्यकता पर जागरूकता पैदा करने पर भी केन्द्रित होता है।

5.14 राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की स्थापना मई, 1988 में की गई थी। इसका उद्देश्य 2007 तक 15 से 35 वर्ष तक के आयु वर्ग के उत्पादक और पुनरोत्पादक समूह के निरक्षर लोगों को व्यावहारिक साक्षरता प्रदान करते हुए 75 प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य हासिल करना है। व्यावहारिक साक्षरता के अंतर्गत पठन, लेखन गणना–बोध के साथ–साथ राष्ट्रीय एकता पर्यावरण संरक्षण, नारी समानता और सीमित परिवार के सिद्धान्त और मूल्य निहित हैं। जीवन की गुणवत्ता में एक निश्चित सुधार और साशक्तिकरण ही व्यावहारिक साक्षरता की प्रमुख उपलब्धि है।

निरक्षरता उन्मूलन के लिए सम्पूर्ण साक्षरता अभियान ही राष्ट्रीय साक्षरता, मिशन की प्रमुख अवधारणा है। ये अभियान समयबद्ध विशिष्ट क्षेत्र, सहभागिता, किफायती, उपलब्धि परक। हैं, इन्हें जिला साक्षरता–

समितियां (जिला स्तर की साक्षरता समिति) संयंत्र और स्वायत्तशासी संस्था के रूप में क्रियान्वित करती हैं, इनमें समाज के सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व होता है। व्यावहारिक साक्षरता देने के अतिरिक्त सम्पूर्ण साक्षरता अभियान (टीएलसी) सामाजिक जरूरत के महत्वपूर्ण संदेशों का प्रचार–प्रसार भी करता है जिनमें बच्चों का स्कूलों में दाखिला और उनकी शिक्षा, टीकाकरण, परिवार सीमित रखने के उपायों का प्रचार, महिला समानता और साशक्तिकरण, शांति और सद्भाव आदि शामिल हैं। इन साक्षरता अभियानों ने प्राथमिक शिक्षा की मांग भी पैदा की है। मूल साक्षरता का पहला चरण निर्देशों पर आधारित है जबकि दूसरे चरण में सुदृढ़ीकरण और निदान शामिल है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण साक्षरता अभियान और साक्षरता के बाद के कार्यक्रम सफलतापूर्वक अनवरत शिक्षा–प्रक्रिया के रूप में जारी रहें और जीवनपर्यन्त साक्षरता के अवसर उपलब्ध कराते रहें।

सतत शिक्षा योजना देश में सम्पूर्ण साक्षरता और साक्षरता पश्चात् कार्यक्रमों के लक्ष्य हासिल करने के प्रयासों को सतत अधिगम प्रदान करता है। नव साक्षर लोगों को आगे अधिगम के अवसर उपलब्ध कराने के लिए अनवरत शिक्षा केन्द्रों की स्थापना पर मुख्य जोर दिया जाता हैं। ये केन्द्र मूल साक्षरता, साक्षरता कोशल में सुधार, वैकल्पिक शिक्षा कार्यक्रमों और व्यावसायिक कौशल की खोज तथा सामाजिक और पेशागत विकास के प्रोत्साहन के लिए क्षेत्रीय मांग और जरूरत के मुताबिक अवसर उपलब्ध कराते हैं। इस योजना के अंतर्गत अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम चलाए जाते हैं जैसे– प्रतिभागियों में व्यावसायिक कौशल बढ़ाने, आय उत्पादक गतिविधियां शुरू करने में सहयोग प्रदान करने वाला समतुल्यता कार्यक्रम, जीवन गुणवत्ता कार्यक्रम जिसके माध्यम से नौसिखिए और समुदाय अपना जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए जरूरी इगन, दृष्टिकोण, मूल्य और कौशल हासिल कर सकें और व्यक्तिगत अभिरूचित प्रोत्साहन कार्यक्रम जिसके तहत कोई नौसिखिया व्यक्तिगत रूप से सामाजिक स्वास्थ्य, शारीरिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अभिरूचियों के अनुसार अवसर हासिल कर सकता है।

भौगोलिक दृष्टि से दूर–दराज के इलाकों में रहने वाले अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति ' महिलाओं तथा वहां के लोगों की जरूरत को पूरा करने के लिए अवशेष साक्षरता कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इस मिशन की प्रमुख उपलब्धि वागड़ आँचल का डूँगरपुर का जिला है, जिसे देश में पहला पूर्ण साक्षर आदिवासी (अनुसूचित जनजाति) जिला होने का गौरव प्राप्त है।

5.15 निरक्षरता गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एनएलएम) अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वयंसेवी संगठनों की अपार क्षमताओं को मान्यता देता है। इसने स्वयंसेवी संगठनों के साथ साझेदारी मजबूत बनाने के लिए कई उपाय किए हैं। इसके साथ ही साक्षरता आंदोलन में स्वयंसेवी संगठनों को सक्रिय उत्साहवर्धक भूमिका सौंपी गई हैं। साक्षरता उपलब्ध कराने के अलावा स्वयंसेवी संगठन प्रयोगात्मक और नवोन्मुख कार्यक्रमों के माध्यम से शैक्षिक और तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाएं भी उपलब्ध कराता है। स्वयंसेवी संगठनों की ओर से संचालित राज्य संसाधन केन्द्रों से प्रशिक्षण सामग्री, विस्तारगत विधियां नवोन्मुख परियोजनाएं, अनुसंधान अध्ययन और मूल्यांकन सामग्री के रूप में अकादमिक और तकनीकी संसाधन सहयोग उपलब्ध कराया जाता है।

5.16 महिला साक्षरता के लिए विशेष हस्तक्षेप

2001 की जनगणना के अनुसार देश के या जिलों में महिला साक्षरता दर 30 प्रतिशत से नीचे है। इसलिए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए इतनी कम महिला साक्षरता दर एक चिंता का विषय है। इस बात को ध्यान में

रखते हुए या जिलों में नीची महिला साक्षरता दर में सुधार का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इन जिलों में महिला साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए विशेष प्रवर्तित कार्यक्रम शुरू किए गए हैं।

अवशेष निरक्षरता की परियोजनाएं –

सम्पूर्ण साक्षरता अभियान पूरे देश में एक जन आंदोलन के रूप में चलाया गया लेकिन कई इलाकों में यह प्राकृतिक आपदाओं तथा राजनीतिक इच्छा शक्ति में कमी के कारण पूरा नहीं हो सका। साक्षरता में सफलता के बावजूद अभी भी कुछ इलाकों में नीची महिला साक्षरता दर और अवशेष निरक्षरता मौजूद हैं। इस समस्या के निदान के लिए अवशेष निरक्षरता परियोजनाएं आरम्भ की गई। इसके तहत राजस्थान के 9 जिलों के करीब 6.6 लाख नव साक्षरों को शामिल किया गया।

5.17 विशेष साक्षरता अभियान

एनएलएमए परिषद की अप्रैल, 2005 में हुई बैठक में देशभर से ऐसे 150 जिलों की पहचान की गई जिनमें साक्षरता दर सबसे कम थी। इन जिलों की क्षेत्रीय सामाजिक और सामुदायिक जरूरतों को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से अल्पसंख्यक समूह, अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति, महिलाएं और अन्य पिछड़े वर्ग के लिए विशेष साक्षरता अभियान की रणनीति तय की गई। अब तक राज्यों के कुल 134 जिलों को विशेष साक्षरता मिशन में शामिल किया जा चुका है। इनमें अरुणाचल प्रदेश के 7, आंध्र प्रदेश के 8 बिहार के 31, छत्तीसगढ़ के 2, जम्मू–काश्मीर के 8, राजस्थान के।0, झारखंड के 12, कर्नाटक के 2, मध्यप्रदेश के 9, मेघालय के 3, नागालैण्ड के 2, उड़ीसा के 8, पंजाब के 1, उत्तरप्रदेश के 27 और पश्चिम बंगाल के 4 जिले शामिल हैं।

5.18 जनशिक्षण संस्थान

जनशिक्षण संस्थान का लक्ष्य सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े तथा शहरी' ग्रामीण क्षेत्रों के शैक्षिक रूप से वंचित वर्गो विशेषकर नवसाक्षरों, अर्थ–शिक्षितों, अनुसूचित जाति जनजातियों, महिलाओं तथा बालिकाओं, मलिन बस्ती निवासियों और प्रवासी श्रमिकों का शैक्षिक और व्यावसायिक विकास करता है।

जनशिक्षण संस्थान विभिन्न दस्तकारी के अलग–अलग अवधि के कई व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाता है। इस समय देश में कुल 172 जनशिक्षण संस्थान हैं। इन संस्थानों के द्वारा ढाई सौ से अधिक प्रकार के पाठ्यक्रमों और गतिविधियों का संचालन होता है। जिन कार्यो और पाठ्यक्रमों का प्रशिक्षण दिया जाता है उनमें सिलाई–कटाई, ड्रेस तैयार करना, बुनाई और कढ़ाई, सौंदर्य तथा स्वास्थ्य देखभाल, दस्तकारी, कला, चित्रकला, बिजली के सामानों की मरम्मत, मोटर वाइंडिंग, रेडियो और टीवी मरम्मत, कम्प्यूटर प्रशिक्षण शामिल हैं। 2004–05 के दौरान 13. 91 लाख लाभार्थियों को विभिन्न विषयों और पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण दिए गए और जनशिक्षण संस्थान गतिविधियों में शामिल किए गए। इनमें से 65 प्रतिशत महिलाएं थीं।

5.19 प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय

केन्द्रीय प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में शैक्षिक और तकनीकी संसाधन का सहयोग देता है। यह संसाधन सहयोग का नेटवर्क विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है, विशेष रूप से यह आदर्श शिक्षण अधिगम सामग्री, मीडिया सॉफ्टवेयर के उत्पादन तथा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सभी तरह के मीडिया का सहयोग हासिल कराता है।

राजस्थान ने विशेष पहल की है जिसके तहत निरक्षर महिलाओं को आईपीसीएफ वर्णमाला की पुस्तक पढ़ाई गई और सीई पर वर्णमाला– iii को पूरी करने के बाद सभी जिलों में 15 दिनों के विशेष व्यावसायिक प्रशिक्षण कैंप आयोजित किए गए तथा उनके द्वारा निर्मित सामानों के विपणन के लिए व्यवस्था की गई। इसका

उद्देश्य महिलाओं को आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर बनाना था। लगभग 10 लाख निरक्षरों के लाभार्थ राज्य के 30 जिलों में बाकी बची निरक्षरता को समाप्त करने के लिए एक परियोजना भी शुरू की गई।

मूल्यांकन

सम्पूर्ण साक्षरता अभियान के कुल 393 और साक्षरता पश्चात् कार्यक्रम के कुल 172 जिला का बाहरी मूल्यांकन संस्थाओं द्वारा मूल्यांकन किया गया। अनवरत शिक्षा कार्यक्रम के सात जिलों–मंडी (हिमाचल प्रदेश), अजमेर (राजस्थान) और इड्डुकी केसरगढ और कोल्लम केरल तथा देवागाल (कर्नाटक) का भी मूल्यांकन बाहरी मूल्यांकन ऐजेंसियों द्वारा किया गया।

उपलब्धियां

- 2001 में साक्षरता दर 64.84 प्रतिशत रिकार्ड की गई जबकि 1991 में यह दर 5221 प्रतिशत थी। इस तरह एक दशक के दौरान साक्षरता दर में 1263 प्रतिशत अंकों की वृद्धि दर्ज की गई।
- अब तक 12 करोड़ 42 लाख 7 हजार लोगों को साक्षर बनाया जा चुका है।
- साक्षरता की वृद्धि दर ग्रामीण क्षेत्रों में शहरों की अपेक्षा अधिक है।
- पुरूष महिला साक्षरता दर में अंतर कम हुआ है। यह 1991 में 24.64 प्रतिशत था जो 2001 में घटकर 2160 प्रतिशत रह गया।
- महिला साक्षरता में 14.38 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यह 39.29 प्रतिशत से बढ़कर 53.87 प्रतिशत तक पहुंच गई है। इसी तरह पुरूष साक्षरता में iii प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। जो एक दशक में 64.13 प्रतिशत से बढ़कर 752 प्रतिशत हो गई।
- स्त्री–पुरूष समानता और महिला साशक्तिकरण भी दिखाई दिया है क्योंकि लगभग 60 प्रतिशत प्रतिभागी और लाभार्थी महिलाएं हैं।
- 1991 से 2001 तक की अवधि के दौरान 7 वर्ष से अधिक आयु वर्ग के लोगों की जनसंख्या में 17 करोड़ 16 लाख की वृद्धि हुई। जबकि इसी अवधि में 20 करोड़ 36 लाख लोग साक्षर बने।
- 1991 से 2001 के बीच सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों ने बिना किसी अपवाद के, साक्षरता दर में वृद्धि की है।
- सभी राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में अब पुरूष साक्षरता बढ़कर 60 प्रतिशत से अधिक है। केरल में साक्षरता सबसे अधिक 90.92 प्रतिशत है। बिहार की साक्षरता दर सबसे कम 47.53 प्रतिशत है।
- निरक्षरों की संख्या में महत्वपूर्ण गिरावट देखने को मिली है। 1991 में निरक्षरों की संख्या 32 करोड़ 88 लाख 80 हजार थी जो 2001 में घट कर 30 करोड़ 40 लाख हो गई।
- देश के कुल 600 जिलों में से 597 जिलों को साक्षरता कार्यक्रम के तहत राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में शामिल किया गया।

5.20 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की शिक्षा

संवैधानिक प्रावधान, संविधान के अनुच्छेद 46 के अनुसार– "राज्य विशेष सावधानी के साथ समाज के कमजोर वर्गो, विशेषकर अनुसूचित जाति / जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों के उन्नयन को बढ़ावा देगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के सामाजिक शोषण से उनकी रक्षा करेगा। "अनुच्छेद

330.332,335,338 से 342 तथा संविधान के पांचवीं और छठवीं अनुसूची के अनुच्छेद 46 में दिए गए लक्ष्य हेतु विशेष प्रावधानों के संबंध में कार्य करते हैं।

राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम (एनसीएमपी) के संकल्प

केन्द्रीय सरकार ने सुशासन के लिए छह मूलभूत सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। उनमें से एक है– अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विशेषकर शिक्षा एवं रोजगार में पूर्ण अवसरों की समानता उपलब्ध कराना।

5.21 सारांश :

इस अध्याय में आपने निरक्षरता और इसके निराकरण हेतु सरकार द्वारा किये गये प्रयासों का अध्ययन किया। निरक्षरता मानव समाज के लिये कलंक है। संसार के समस्त राष्ट्र इस समस्या के उन्मूलन हेतु तहत दिल से प्रयास कर रहे हैं क्योंकि यह सभी समस्याओं की जड़ है। विकासशील राष्ट्र का पर्याय लगभग पूर्ण साक्षरता से लगाया जाता है। भारत सरकार एवं प्रान्तीय सरकार विभिन्न लुभावनी योजनाऐं चलाकर निरक्षर लोगों को शिक्षा की ओर प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वहन कर रही हैं। इस हेतु समस्त जागरूक लोगों का यह कर्त्तव्य है वर्ष में कम से कम पाँच व्यक्तियों को साक्षर करवा कर राष्ट्र के प्रति अपने समर्पण को प्रदर्शित करे।

5.22 बोध–प्रश्न

1. निरक्षरता को परिभाषित कीजिये तथा इसके दुष्परिणामों की व्याख्या कीजिये?
2. निरक्षरता उन्मूलन हेतु सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों पर प्रकाश डालिये?
3. सर्वशिक्षा अभियान से आप क्या समझते हैं?
4. महिला शिक्षा हेतु किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिये?'

5.23 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. W Wallace Weaver: Social Problems
2. Roab Earl and G.J.Selznick : Mojor Social Problems
3. Paul H Landis : Social Prblems
4. Paul B.Horton and Gerald R Leslie: The Sociology of Social problems
5. Marry E. Walsh and Paul H. Furfey : Social Problems and Social Action
6. E.R. Mowrer : Disorganization – Personal and Social
7. Alex lnkles : what is Sociology
8. Elliott and Merrill : Social Disorganization
9. Martin H. Newmeyer : Social Problems and the Changing Society
10. Noel Timms: A sociological Approach to Social Problems

इकाई–6

युवा व छात्र असन्तोष

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.02 युवा व छात्र असन्तोष अर्थ एवं परिभाषा।

6.03 युवा व छात्र असन्तोष की पृष्ठभूमि।

6.04 युवा व छात्र असन्तोष के कारण

6.05 भारत में युवा व छात्र असन्तोष का विस्तार

6.06 युवा व छात्र असन्तोष के समाधान

6.07 सारांश

6.08 बोध प्रश्न

6.09 संदर्भ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप –

- युवा एवं छात्र असंतोष का अर्थ एवं परिभाषा को समझना।
- भारतवर्ष में युवा व छात्र असंतोष की पृष्ठभूमि को समझ पायेंगे।
- युवा व छात्र असंतोष के कारणों की व्याख्या कर पायेंगे।
- भारत में युवा व छात्र असंतोष के प्रभाव व विस्तार की समझ।
- युवा व छात्र असंतोष की निरन्तर बढती घटनाओं के संदर्भ में समाधान पायेंगे।

6.01 प्रस्तावना

भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में युवा व छात्र असंतोष पिछले दशक की सबसे बड़ी समस्या रही है। इसने शैक्षिक चिन्तन को झकझोरने का प्रयास किया है तथा शिक्षाविदों व सरकार को क सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति देश काल की मांग को पूरा नहीं कर रही है। युवा छात्र असन्तोष की निरन्तर बढ़ती घटनायें इस बात की प्रतीक हैं कि वे परम्परागत शैक्षणिक मूल्यों की सीमाओं में बंधे रहने से इन्कार करते हैं और मुक्ति के लिए वे सत्तारूढ पीढ़ी से संघर्ष करने को आतुर हैं। यह इस बात पर भी प्रश्न चिन्ह लगाती है कि कहीं न कहीं शिक्षा पद्धति तथा सरकार की सामंजस्यता में कमी है। वास्तव मैं छात्र असन्तोष एवं युवाओं की कुंठा तथा आक्रोश एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई द्वारा युवा व छात्र असन्तोष को उनकी एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में समझना तथा उन कारणों की विवेचना करना भी है जिनके देश के शिक्षण संस्थानों में आये दिन समाज एवं सरकार को इनसे निपटना पड़ रहा है। इसके साथ–साथ समाज के उक्त महत्त्वपूर्ण वर्ग (युवा पीढ़ी) को एक सही दिशा प्रदान करना है। इसलिए हमें ऐसे सुझाव भी प्रस्तुत करने होंगे जिससे ऐसी छात्र असंतोष की घटनाओं पर समुचित नियंत्रण पाया जा सके। ऐसा भी नहीं है कि युवा व छात्र असंतोष केवल भारत की समस्या है बल्कि विश्व के सभी देशों को इस समस्या से सूझना पड़ रहा है। अत: इसके नियंत्रण के उपाय भी हमें किसी एक सार्वभौमिक एवं सर्वसम्मत तरीके से ढूंढने होंगे। ऐसी घटनाओं पर रोक केवल दमन एवं बल प्रयोग द्वारा नहीं किया जा सकता, बल्कि शैक्षणिक सरंचना में मूलभूत परिवर्तन के माध्यम से किया जा सकता है। यह आज एक सामाजिक समस्या बन चुकी है। अतएव इसके अन्य सामाजिक समस्याओं की तरह ही इस समस्या का समाधान करना होगा।

6.02 युवा व छात्र असन्तोष : अर्थ एवं परिभाषा

युवा व छात्र असन्तोष वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अन्य समस्याओं की भांति एक गम्भीर समस्या है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् छात्र समस्या विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हुई है। एक स्वरूप वह है जिसे हम अनुशासनहीनता कहते हैं, दूसरा स्वरूप आन्दोलन के रूप में तथा तीसरा स्वरूप छात्र–असंतोष या छात्र विद्रोह के रूप में प्रस्तुत है और अब इस सारी समस्या को 'तरूणों की बेचैनी पुकारा जाने लगा है। युवावर्ग के असन्तोष से जो उपद्रव, हिंसा, प्रदर्शन, हड़ताल और घेराव स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उनका शैक्षणिक वातावरण पर भी प्रभाव पड़ने लगा है। देश के अधिकांश शैक्षणिक संस्थाओं में यदा–कदा किसी न किसी मुद्दो को लेकर धरने, प्रदर्शन, हड़ताल आदि होते रहते हैं। यदि शिक्षा का उद्देश्य मन का संस्कार है, तो यह मानना पड़ेगा कि छात्र असन्तोष के कारण भारतीय शिक्षा इस पवित्र उद्देश्य की प्रगति में सहायक नहीं हो सकी। देश के ऐसे अंचलों से जिनको शिक्षा के दार्शनिक तथा तकनीकी पक्ष का कोई ज्ञान नहीं है, परन्तु अपनी संतानों को शैक्षणिक संस्थानों में बड़ी आस्था के साथ भेजते हैं। इस वर्ग के प्रत्येक परिवार की आकांक्षा होती है कि उसकी संताने शिक्षा पाकर सुसंस्कृत बनेगें। शैक्षणिक संस्थाओं में जहाँ उसे एक ओर अधकचरा किताबी ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ उसमें असंयम, अशिष्टता, उच्छंखलता, उत्तरदायित्व शून्यता, कर्त्तव्यहीनता, विलासिता और न जाने कितने ही अनुभव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे सभी तरह के व्यवहार को जो छात्र युवा एवं छात्र असंतोष का परिणाम हैं भ्रान्त तर्कों के नाम पर उचित सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

धीरे–धीरे युवाओं द्वारा प्रकट इन कुंठाओं को जो छात्र असन्तोष के रूप में परिलक्षित होती है अपने–अपने हिसाब से नये–नये जुमलों के द्वारा पुकारा जाने लगा। जैसे युवा असन्तोष, कुण्ठा, राजनीतिक जागरूकता, राजनीतिक समाजीकरण या छात्र असंतोष। सार्वजनीकरण से किये जाने वाले ऐसे सभी कृत्यों को छात्र असंतोष कहा जा सकता है। जो युवा वर्ग द्वारा हिंसात्मक या अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा व्यक्त किया जाता है। चाहे परीक्षा प्रणाली को लेकर हुआ आन्दोलन हो या पाठ्यक्रम को लेकर असन्तोष, चाहे रोजगार अनुपलब्धता की समस्या हो या फिर सेना में भर्ती। इन सभी घटनाओं को युवाओं में पनप रही कुण्ठाओं का परिणाम मानकर छात्र असन्तोष के रूप में समझा जा सकता है।

युवा एवं छात्र असंतोष की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा देना चाहे तो व्यवहार में प्रचलित छात्र असन्तोष में मिलते–जुलते अनेक शब्दों पर गौर करना पड़ेगा।

छात्र असन्तोष क्या है छात्र असन्तोष को समझने के लिए छात्र एवं 'अनुशासन' शब्दों को समझना आवश्यक है। वैसे तो ज्ञान के जिज्ञासु व्यक्ति जन्म से मृत्युपर्यन्त ही छात्र हैं परन्तु यहां हम शिक्षा के औपचारिक संगठन में ग्रहणकर्त्ता की भूमिका में शिक्षण संस्थाओं में प्रवेशार्थी को ही विद्यार्थी मानते हैं। इस संदर्भ में 3 वर्ष से 30 वर्ष एवं कभी–कभी अधिक आयु प्राप्त व्यक्ति भी विद्यार्थी की औपचारिक प्रस्थिति अर्जित कर सकता है।

परन्तु अनुशासनहीनता के संदर्भ में हम यहाँ पर विद्यार्थी उन्हें मानेंगे जो 15–25 वर्ष की आयुवर्ग के व्यक्तियों एवं वे किसी शिक्षण संस्था तथा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में औपचारिक रूप से पंजीकृत सदस्य हों और जिनका लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना हो। यह वह आयु है जिसमें इस वर्ग में शारीरिक व मानसिक शक्ति अत्यधिक होती है। जिसके तरूणाई का उफान, उल्लास व कुछ भी करने की ललक होती है। केवल होता है वह है विवेक का। उसकी ऊर्जा को यदि विवेकपूर्वक सृजनात्मक गति व दिशा नहीं दी जाए तो वही ऊर्जा विध्वंसात्मक रूप भी धारण कर लेती है।

असंतोष से तात्पर्य वर्तमान व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं होना। यही असंतोष जब क्रियात्मक रूप धारण करता है तो वह अनुशासनहीनता या आन्दोलन की श्रेणी में रखा जाता है। विश्वविहीलय अनुदान आयोग (यू जीसी), नई–दिल्ली द्वारा गठित विद्यार्थी असंतोष पर 1960 में एक कमेटी का गहन किया। इस कमेटी के अनुसार ' 'जन समूह का नैतिक पतन व सत्ता का सामूहिक उल्लंघन व वास्तविक या काल्पनिक शिकायतों को दूर करवाने के लिए ऐसे तरीकों का उपयोग जो छात्रों के लिए उचित नहीं है, छात्र असन्तोष है।"

उपरोक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर दो तथ्य सामने आते हैं – (1) व्यक्तियों द्वारा नियमों के उल्लंघन को ही अनुशासनहीनता में सम्मिलित नहीं किया गया है अपितु उन सभी कार्यों को अनुशासनहीनता में सम्मिलित माना गया है जिनमें समूह द्वारा मान्य नियमों का उल्लंघन किया जाता है।

लेकिन उक्त परिभाषा में दोष यह है कि वह एक भी आचरण को यदि वह कुछ छात्रों द्वारा किया जाए, अनुशासनहीनता कहते हैं। किन्तु एक ही छात्र द्वारा किए गए वैसे ही आचरण के मार्गदर्शन को अनुशासनहीनता नहीं मानती है। क्या छात्र समाज का अंग नहीं है' क्या एक छात्र अपनी उदण्डता से अन्य छात्रों को प्रभावित नहीं करता है? (2) उक्त परिभाषा में कमेटी ने शिकायतों को दूर करवाने के लिए ज़अनुचित साधनों के उपयोग को अनुशासनहीनता कहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि उचित व अनुचित का निर्णय कौन करे?

एच.एस. अस्थाना एवं सूमा चिटनिस' के अनुसार "विद्यार्थी अनुशासनहीनता से अभिप्राय शिक्षण संरचनाओं के नियमों, विधि विधानों एवं परम्पराओं के प्रति अवज्ञा तथा उसका नहीं करना है।" इन्होंने आगे लिखा है कि निम्नलिखित में से किसी एक अथवा अधिक परिस्थितियों के पाये पर अनुशासनहीनता की स्थिति आती है :–

(1) सदस्यों की शिक्षण संस्थाओं के लक्ष्यों के प्रति अभिरूचि ही समाप्त हो जाए। ऐसी परिस्थिति में वे संगठन या संस्था के सदस्य तो रहते हैं परन्तु उसके नियमों का कठोरतापूर्वक पालन नहीं करते।

(2) सदस्य संस्थान के लक्ष्यों में तो विश्वास रखते हों परन्तु संस्था अपनी का प्रणाली व अधिकृत साधनों के द्वारा उन लक्ष्यों को प्राप्त सकेगा या नहीं उसमें उसके सदस्यों को हो। ऐसी परिस्थिति में वे अयोग्यताएं अपर्यापाताऐं व असुविधाओं को दूर करने का प्रयास करते ' परन्तु पूर्व स्थापित नियमों में परिवर्तन को अग्रज पीढी द्वारा स्वीकार कर लिया जाना आसान नहीं है, अत: सदस्यों का संस्था में विश्वास समाप्त हो जाता है, जिसमें नियमों का पालन भी सम्मिलित है अनुशासनहीनता का विकास व प्रसार होता है

(3) संस्था के नियम, संस्था की सामान्य परिस्थितियों के परिवर्तन हो जाने पर जब नहीं बदलें एवं वे समय व परिस्थितियों के अनुकूल नहीं लगे तो उन नियमों की प्रभावशीलता, उस संस्था के सदस्यों को अनुशासित रखती हो, निरर्थक व प्रभावहीन हो जाती है जिससे अनुशासनहीनत?हीनता में वृद्धि होती है।

राम आहूजा ने छात्रों की अनुशासनहीनता की क्रियाओं को चार वर्गों में किया है; (1) जिनके द्वारा विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के नियमों का उल्लंघन होता हो, (2) नगर में रहने वाले लोगों में अशांति उत्पन्न होती हो, (3) अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए अधिकारियों पर दबाव समूह का कार्य करने हेतु अथवा अपने पक्ष में जनमत निर्माण हेतु नगर में अहिंसात्मक धरने एवं प्रदर्शन करें जिसमें भूख हडताल भी सम्मिलित हैं

तथा अन्तिम (4) छात्र वर्ग द्वारा अपने समस्याओं अथवा कठिनईयों के निवारण हेतु हिंसात्मक (जिसमें तोड़–फोड़, आगजनी, लूटपाट जैसी क्रियाऐं शामिल हैं) कदमों का सहारा लेना प्रारम्भ कर दें।

सामाजिक असंतोष की अवधारणा में समाज में समूहों के आम विषयों जो सामूहिक कुण्ठा और मोहभंग उत्पन्न होता है उन पर बल दिया जाता है। इस आधार पर युवा असन्तोष इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि ' यह समाज में युवाओं द्वारा सामूहिक कुण्ठा की अभिव्यक्ति है जबकि समाज में विद्यमान मानदण्ड युवाओं की दृष्टि में इतने अप्रभावी और हानिकारक हो जाते हैं कि वे उन पर आघात पहुंचाने लगते हैं और उनमें इतना मोहभंग व्याप्त हो जाता है कि उन्हें इन मानदण्डों को परिवर्तित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है।"

युवा व छात्र असंतोष के लक्षण

युवा व छात्र असन्तोष के निम्न लक्षण होते हैं–

(1) सामूहिक असंतोष (2) दुष्प्रकार्यात्मक स्थितियाँ (3) सार्वजनिक चिन्ता और (4) विद्यमान प्रतिमानों में परिवर्तन की आवश्यकता। जबकि युवा आन्दोलन के निम्न लक्षण होते है।

(1) अन्याय की भावना पर आधारित कार्य।

(2) युवाओं में सामान्यीकृत विश्वास का विकास और प्रसारण जो असन्तोष, कुण्ठा और वंचन के स्त्रोत की पहचान करता है।

(3) उत्तेजना के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया।

यहां पर छात्र अनुशासनहीनता की अवधारणा की व्याख्या करना असंगत नहीं होगा। अनुशासनहीनता सत्ता की अवज्ञा है, या श्रेष्ठ व्यक्तियों का निरादर या मानदंडों से विचलन या नियंत्रण को मानने से इंकार या उद्देश्यों से विचलन या नियंत्रण को मानने से इंकार या उद्दश्यों और या साधनों को अस्वीकार करना। इस प्रकार विद्यार्थी अनुशासनहीनता छात्रों द्वारा अवांछनीय तरीकों का उपयोग है। यू.जी.सी. द्वारा 1960 में नियुक्त समिति ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता में तीन प्रकार के व्यवहारों को सम्मिलित किया है (1) प्राध्यापकों के प्रति निरादर (2) लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार (3) सम्पत्ति को नष्ट करना।

6.03 युवा व छात्र असन्तोष की पृष्ठभूमि

यहाँ पर हम युवा विद्यार्थी विरोध, उत्तेजना तथा आन्दोलन की चर्चा करेंगे। सामाजिक विरोध /प्रतिरोध एक ऐसी विचार व्यवहार नीति की अस्वीकृति की अभिव्यंजना है जिसे रोकने या टालने में एक व्यक्ति अपने को शक्तिहीन पाता है। यह प्रत्यक्ष कार्यवाही न होकर असन्तोष व्यक्त करने का एक तरीका है। यह अन्याय के विरूद्ध घृणा की अभिव्यक्ति है। सामाजिक विरोध के महत्वपूर्ण तत्व हैं – (1) कार्यवाही किसी शिकायत को व्यक्त करती है, (2) ऐसा विरोध अन्याय के प्रति दृढ़ विश्वास को इंगित करता है। (3) विरोधी सीधे ही अपने प्रत्यनों से इस स्थिति को नहीं सुधार सकते हैं, (4) कार्यवाही लक्षित समूह को प्रेरित करने के लिए बल प्रयोग, समझाना, सहानुभूति और डर के सम्मिश्रण का प्रयोग करते हैं। यदि. विरोधी लूटने में शामिल होते हैं तो वे धन–सम्पत्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं करते, यदि वे खिड़कियां तोडते हैं तो वे बदला लेने की भावना से नहीं करते, यदि वे किसी व्यक्ति के विरूद्ध नारे लगाते हैं तो वे उसे अपमानित करने के इरादे से नहीं करते। ये सब तरीके उनकी मांगों की पूर्ति नहीं होने और उनकी शिकायतों के प्रति निष्ठुर रूख अपनाने से उत्पन्न हुए रोष को व्यक्त करने के लिए अपनाये जाते हैं।

भारतवर्ष में स्वतंत्रता उपरान्त अनेक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन युवाओं द्वारा हुए हैं। इनमें से कम से कम तीन उत्तेजनापूर्ण युवा आन्दोलन महत्त्वपूर्ण रहें हैं। जो इस प्रकार है (1) गुजरात में 1985 में हुआ आरक्षण विरोधी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, (2) असम में 1984 में हुआ अखिल असम विद्यार्थी संघ आन्दोलन और (3) उत्तरी भारत

में 1990 में हुआ मंडल विरोधी आन्दोलन। ये आन्दोलन सदैव हिंसक या दमनकारी नहीं होते। कई बार वे प्रत्ययकारी तकनीक का भी उपयोग करते हैं। प्राय: युवा एवं छात्रों द्वारा किये जाने वाले उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन तीन प्रकार के होते हैं। (1) प्रत्ययकारी जिसमें परस्पर बातचीत द्वारा समस्याओं के हाथ में विश्वास किया जाता है तथा ये आन्दोलन परीक्षाओं की तिथि आगे बढाना, प्रवेश तिथि आगे बढ़ाना, प्रवेश सीटें बढ़वाना तथा शैक्षणिक समितियों में छात्रों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने तक ही सीमित होते हैं। (2) विरोधात्मक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन जिनका मुख्य उद्देश्य सत्तारूढ़ व्यक्तियों को अपने दायरे में रखना होता है। इनका सम्बन्ध अधिकांशत: विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय प्रशासन द्वारा लिये गये निर्णयों से असहमति जताने से होता है। जबकि (3) क्रान्तिकारी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन का उद्देश्य शैक्षणिक या सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन लाना होता है। जैसे अधिकारियों पर यह दबाव डालना कि किसी छात्र की अनुपस्थिति कम होने के आधार पर परीक्षा देने से वंचित न करना अथवा प्राइवेट न करना, फेल होने पर भी अगली कक्षा में प्रवेश देना अनुत्तीर्ण प्रश्न पत्र की परीक्षा तब तक देने की अनुमति प्रदान करना जब तक कि वह उसमें उत्तीर्ण नहीं हो जाता।

यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में किस प्रकार के छात्र भाग लेते हैं अथवा अगुवाई करते हैं। बी.बी. शाह' ने 1968 में गुजरात के विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के एक अध्ययन में विद्यार्थी असन्तोष एवं अनुशासनहीन छात्रों को चार वर्गों में विभाजित किया है (1) वे विद्यार्थी जिनकी उच्च प्रस्थिति तथा अधिक योग्य होते हैं। (2) वे विद्यार्थी जिनकी निम्न प्रस्थिति तथा उच्च योग्यता होती है। (3) वे विद्यार्थी जिनकी उच्च प्रस्थिति तथा निम्न योग्यता होती है तथा (4) वे विद्यार्थी जिनकी निम्न प्रस्थिति व निम्न योग्यता होती है। इस अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया कि छात्र असन्तोष एवं उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में तीन कारक महत्वपूर्ण होते हैं। (1) छात्रों की पारिवारिक पृष्ठभूमि (2) छात्रों की योग्यताएँ और (3) शिक्षण व्यवस्था अर्थात् प्राध्यापकों की योग्यताएँ, अध्यापन तकनीकें और पाठ्यक्रमों की विषयवस्तु। किन्तु एक अन्य समाजशास्त्री ने विद्यार्थियों द्वारा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में छात्र के रूप में व्यतीत वर्षों की संख्या को भी छात्र असन्तोष के तथ्यों से जोड़ कर देखते हैं। अर्थात् जितने अधिक वर्ष वह किसी शिक्षण संस्थान में व्यतीत करता है, उतना ही अधिक वह उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में भाग लेता है। यद्यपि कोई भी युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन कितना ही विवेकपूर्ण या विवेकहीन हो, कम से कम चार बाते उसे सीमाबद्ध करती हैं :– (1) ऐसे आन्दोलनों में भाग लेने वाले छात्रों की संख्या (2) आन्दोलनकर्त्ता की भावनाएं (3) नेतृत्व और (4) बाहरी नियंत्रण।

भारत में युवा एवं छात्र असन्तोष एवं आंदोलनों से सम्बन्धित और भी कई समाजशास्त्रियों द्वारा अध्ययन किये गये हैं। इनमें से विनायक (1972) द्वारा देश में शैक्षणिक संस्थाओं के परिसरों में असन्तोष पर किये गये एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार निम्न छ: बिन्दुओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है (1) 1968–1971 की अवधि में देश के लगभग सभी राज्य छात्रों की हिंसात्मक कार्यवाहियों से प्रभावित हुए थे। (2) छात्र–असन्तोष के 744 मामलों में से 80 प्रतिशत मामले हिंसात्मक थे और लगभग 20 प्रतिशत शांतिपूर्ण थे। (3) दक्षिणी राज्यों के विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक शांति थी अथवा कम हिंसा हुई (4) छात्रों की हिंसात्मक कार्यवाही की सबसे अधिक संख्या दिल्ली में थी, इसके बाद उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में (5) सबसे कम छात्र असन्तोष वाले राज्य गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जग और कश्मीर, हरियाणा, तमिलनाडू तथा राजस्थान थे। सन् 1968–71 की अवधि के दौरान छात्र असन्तोष के 65 प्रतिशत से अधिक मामले परिसर से बाहर के मुद्दों पर थे, केवल 24 प्रतिशत में शैक्षणिक मुद्दे शामिल थे।

6.04 युवा व छात्र असन्तोष के कारण

युवा व छात्र असन्तोष किसी एक घटना, परिस्थिति अथवा समस्या का परिणाम नहीं होता है। इनके पीछे अनेक कारण एवं परिस्थितियां जाने अनजाने उत्तरदायी होती हैं। इसलिए युवा व छात्रों असन्तोष के कारणों की विवेचना को राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। कभी–कभी स्थानीय परिस्थितियों एवं समस्यायें भी उतनी ही उत्तरदायी होती है जितनी कि राष्ट्रीय स्तर की। अभी कुछ महीनों पहिले ही राजस्थान में किसी एक जाति समुदाय द्वारा चलाये गये आरक्षण आन्दोलन ने छात्र संगठनों को भी इसमें सम्मिलित होने के लिए मजबूर कर दिया था। अत: हमें इनके कारणों को व्यापक रूप में देखना होगा। युवा व छात्र असन्तोष के सम्बन्ध में किये गये एक अध्ययन के निष्कर्षों में प्रमुख रूप से चार कारणों को उत्तरदायी बताया गया है (1) विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में उचित शैक्षणिक वातावरण का अभाव होना, (2) परिवार, समाज, राष्ट्र एवं शैक्षणिक पदों पर बैठे प्रशासनिक अधिकारियों के प्रति युवाओं में आदर एवं सम्मान का अभाव, (3) युवा एवं छात्रों में आदर्श मूल्यों का अभाव तथा (4) युवा व छात्रों द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों, धरनों एवं प्रदर्शनों में राजनीतिक हस्तक्षेप का पाया जाना। जबकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा छात्र असन्तोष के कारणों की खोज के लिए गठित कमेटी ने छात्र असन्तोष के पांच कारण बताएं हैं – (1) आर्थिक (2) परीक्षा व प्रवेश प्रणाली (3) शैक्षणिक वातावरण अथवा सुविधाओं का अभाव (4) रहने व खाने–पीने की सुविधाओं का अभाव तथा (5) छात्रों का अपरिपक्व अथवा त्रुटिपूर्ण नेतृत्व।

कुछ समाज वैज्ञानिकों ने छात्रों की पारिवारिक पृष्ठभूमि को भी इसके लिए उत्तरदायी बताया है अर्थात् गांवों से जो युवावर्ग शहरों में उपलब्ध समस्याओं में प्रवेश लेते हैं तो वे शहरी संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। यहाँ की उपभोक्तावादी संस्कृति गांवों की पृष्ठभूमि से आने वाले विद्यार्थियों को भ्रमित कर देती है। किन्तु इसके साथ ही अशिक्षित के निरक्षर अभिभावकों की इस वर्ग के प्रति उदासीनता भी युवा वर्ग में व्याप्त असन्तोष के लिए उत्तरदायी होती है।

युवा व छात्र असन्तोष की समस्या आज विश्व के अधिकांश विश्वविद्यालयों में व्याप्त है। प्रति दिन समाचार पत्रों के माध्यम से छात्र–असंतोष की खबर हमें पढ़ने को मिलती है। हड़ताल, प्रदर्शन, नारेबाजी, घेराव, तोड़–फोड़ इत्यादि छात्रों के लिए प्रतिदिन की चीजें हो गई हैं। जिसका सीधा प्रभाव शिक्षा और विश्वविद्यालय की संरचना पर पड़ता है। अन्तर्जातीय घृणा, जातिवाद, क्षेत्रवाद, परस्पर संघर्ष इत्यादि सभी बुराइयाँ आज विश्वविद्यालयों में आ गई हैं। जिसने यहाँ के वातावरण को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। छात्रों की ये सब करने की आदत बन गई या वे अपनी जवानी के जोश में ऐसा सब कुछ करते हैं कदापि ऐसा नहीं है। अनुशासनहीनता एवं असन्तोष के आन्तरिक कारण हैं, इसके कारणों की खोज में सभी वर्गो द्वारा चिन्ता व्यक्त की गई है तथा इन कारणों का पता लगाने का प्रयास भी किया गया है।

छात्र असन्तोष के कारणों का अगर समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से विश्लेषण करें तो कई प्रकार के कारण इसके लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण युवा शक्ति उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्ययनरत नहीं रहती तथापि भारत में युवा आन्दोलन एवं छात्र असन्तोष एक दूसरे का पर्याय बन चुके हैं। अब भी भारत में मात्र 20–21 प्रतिशत युवा ही उच्च शिक्षा ग्रहण कर पाते हैं। बेरोजगारी की समस्या निरन्तर बढ़ रही है। अत: युवा वर्ग में कुण्ठा का दायरा भी विस्तृत हो रहा है। सन् 1952 में देश के 850 रोजगार कार्यालयों में 4.37 लाख व्यक्ति बेरोजगारी के रूप में पंजीकृत थे जिसकी संख्या बढ़कर सन् 1991 में 3.63 करोड़ तथा सन् 1998 में 5.70 करोड़ तक पहुँच चुकी थी। तेजी से बढ़ रही बेरोजगारी के कारण शिक्षित युवा वर्ग असन्तोष का शिकार हो रहा है। समाजशास्त्री भी मानते हैं कि युवा आन्दोलनों के मूल में असन्तोष की भावना ही प्रमुख कारण है। यद्यपि असन्तोष परिवार, समाज, सरकार तथा व्यवस्था आदि कारणों पर निर्भर करता है। कई बार व्यक्ति स्वयं को समाज, संगठन,

प्रशासन तथा व्यवस्था के साथ समायोजित नहीं कर पाता है। विद्यार्थियों पर अधिक शुल्क भार, नया पाठ्यक्रम, शिक्षकों से टकराव, छात्रसंघ चुनाव, प्रेम–प्रसंग, अपर्याप्त सुविधायें, राजनीतिज्ञों द्वारा भड़काव, आर्थिक विभिन्नता, सामाजिक असहयोग तथा मानसिक उद्वेगों इत्यादि के कारण असन्तोष बढ़ता है तथा विद्यार्थी वर्ग आन्दोलन करता है। भारत में छात्र असन्तोष के कारणों को खोजना कोई आसान कार्य नहीं है। छात्र असन्तोष के कारणों को सम्पूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में देखना चाहिए। एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट के मुताबिक छात्र असन्तोष के चार कारणों का उल्लेख किया गया है वे हैं– उचित शैक्षणिक पर्यावरण का अभाव, सत्ता (माता–पिता, शैक्षणिक एवं सरकारी) के प्रति आदर एवं सम्मान का अभाव, आदर्श विचारधारा से सम्बन्ध नैराश्य, तथा राजनैतिक हस्तक्षेप। जैसा कि पूर्व में बताया गया है विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त समिति में जिन कारणों को छात्र असन्तोष के लिए उत्तरदायी माना है वे इस प्रकार हैं –

(1) **आर्थिक कारक :** जैसे फीस बढ़ाना, छात्रवृत्ति कम करना एवं इसका पक्षपातपूर्ण तरीके से वितरण करना आदि।

(2) **परीक्षा एवं प्रवेश प्रणाली का त्रुटिपूर्ण होना.** प्रवेश सम्बन्धी नीतियाँ, कक्षा में पढ़ाने का माध्यम परीक्षा प्रणाली में होने वाले परिवर्तन, पास होने के नियम इत्यादि।

(3) **पढ़ाई सम्बन्धी व्यवस्था :** जैसे अयोग्य शिक्षक, पुस्तकालयों एवं प्रयोगशलाओं की अपर्याप्त सुविधाएं शिक्षकों व छात्रों के मध्य पारस्परिक सम्पर्क का अभाव आदि।

(4) **आवास सम्बन्धी व्यवस्था** : छात्रावासों की कमी, छात्रावास में पानी, कैन्टीन, मनोरंजन (जैसे टेलीविजन आदि) की सुविधाओं की कमी का होना, छात्रावास में उपलब्ध घटिया किस्म का खाना आदि।

(5) **नेतृत्व.** छात्र राजनीतिज्ञों, अध्यापक राजनीतिक एवं राजनीतिक नेताओं द्वारा छात्रों को भड़काना आदि इसके अलावा अध्ययनरत छात्रों एवं उपलब्ध शिक्षकों के अविवेकपूर्ण अनुपात का होना भी एक कारण है जिसके कारण ये महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में सप्ताह में अनेक कालांश अध्यापकों की कमी के कारण खाली जाते हैं। एक अन्य समाजशास्त्री ने छात्र असन्तोष के लिए स्वयं छात्रों को उत्तरदायी न मानकर जिस प्रकार के सामाजिक पर्यावरण में वह रहता है उनको उत्तरदायी माना है। इसी प्रकार से ब्रजमोहन ने छात्र असन्तोष के पांच कारण बताये हैं :–

(i) भयंकर आर्थिक असुरक्षा।

(ii) दमनकारी सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण आश्चर्यचकित कर देने वाले यौन–नैराश्य।

(iii) युवावर्ग की अन्त: शक्तियों को विकसित करने में शिक्षा संस्थाओं की असफलता।

(iv)उजाड़ (असुरक्षित) भविष्य।

(v) पीढ़ियों का अन्तर।

मिन्टा स्पेन्सर ने भारतीय छात्रों में असन्तोष का प्रमुख कारण भविष्य की असुरक्षात्मक भावना को माना है।

मुदालियर आयोग ने तत्कालीन परीक्षा पद्धति, राजनीतिक आन्दोलनों की प्रकृति, विद्यार्थियों में संघवाद, समाज में अनियंत्रित स्वतंत्रता की धारणा तथा अध्यापकों के नैतिक दबाव की कमी को छात्र असन्तोष के कारण बताये हैं।

दुखीर्म टालकट पारसन्स, आर.के मर्टन एवं निसबेट जैसे प्रमुख समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक सिद्धान्तों के आधार पर निष्कर्ष निकालकर माना है कि छात्र असन्तोष का मूल कारण सामाजिक संरचना में निहित है। उनके अनुसार वस्तुत: छात्र असन्तोष परम्परागत व्यवहारों के आदर्श प्रतिमानों से विचलन का ही एक रूप है।

जोसफ डाबोना के अनुसार युवा वर्ग में शिक्षा के प्रति व्यावसायिक दृष्टिकोण, छात्रों व शिक्षकों के बीच सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दूरी एवं विद्यार्थियों को राजनीतिक दलों व नेताओं का संरक्षण प्राप्त होना छात्र आन्दोलन के प्रमुख कारण हैं।

एडवर्ड ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय संस्कृति के मूल्यों ने जो व्यवहार सम्बन्धी आचरण प्रदान किए हैं उन्होंने वर्तमान समाज में एक प्रकार की यौनिक रिक्तता (मगनंस टंबबनउ) को विकसित किया है। इसी रिक्तता के कारण मानसिक तनावों का जन्म होता है एवं आज का छात्र इस तनाव से मुक्ति के लिए अनुशासनहीनता या उच्छंखलता के काम करता है।

इलिएट एवं मेरिल ने भी अपने विघटनात्मक सिद्धान्त को छात्र अनुशासनहीनता पर लागू करके इस बात की विवेचना की है कि समाजव्यवस्था के विभिन्न अंगों के समुचित संयोग के अभाव की स्थिति को उसका उत्तरदायी कारण माना जा सकता है। छात्र असन्तोष का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण छात्र संघ के साथ राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप रहा है।

मेरिल ने छात्र असन्तोष का मुख्य कारण अर्न्तपीढ़ीय द्वन्द्वात्मक संघर्ष को बताया है। जबकि रोलवीन और सीनी ने धैर्य की कमी को छात्र असन्तोष के लिए उत्तरदायी माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक छात्र अपनी डिग्री अथवा काम को अतिशीघ्र करवाना चाहता है, धैर्य बिल्कुल भी नहीं रखता है। कुछ विद्वानों ने समाज में विरोधाभास तत्वों की वजह से छात्र असन्तोष का होना बताया है।

उपरोक्त समाजशास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर छात्र असन्तोष के प्रमुख कारण निम्न है:

1. **शैक्षणिक :** भारतवर्ष में प्रचलित निवर्तमान शिक्षा प्रणाली मूलत: ब्रिटिश शासन की देन है। लार्ड मेकाले ने भारतीयों में अंग्रेजी मानसिक दासता एवं सस्ते क्लर्कों के वर्ग के व्यक्ति प्राप्त करने के लिए इस अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को प्रचलित किया। स्वतंत्रता उपरान्त भारतीय विद्वानों ने शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिए समय–समय पर अनेक आयोगों का गठन किया परन्तु अब भी मूलत: शिक्षा जगत का औपचारिक ढांचा थोडे–बहुत फेरबदल के बाद लगभग वैसा ही बना हुआ है जो वर्तमान में छात्र असन्तोष का प्रमुख कारण हैं।

(1) वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुसार न होकर अनुपयोगी अधिक है।

(2) भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सामान्यत: नैतिक शिक्षा का एक बहुत बड़ा अभाव है जिसकी वजह से सामान्यत: छात्र नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करते हैं।

(3) शिक्षा का व्यावसायीकरण का होना वर्तमान शिक्षा प्रणाली की असफलता के लिए उत्तरदायी है। शिक्षण संस्थाऐं मात्र धन उपार्जन के माध्यम बन गये हैं।

(4) शिक्षक एवं छात्रों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्धों में शिक्षा के स्तर को और गिराया है। क्षत्र अपनी समस्याओं के निराकरण के लिए शिक्षकों की ओर ताकते रहते हैं। शिक्षक का छात्र क सम्बन्ध कक्षा तक सीमित होकर रह गया है। शिक्षक व छात्र के बीच बढ़ती यह दूरी छात्र असन्तोष का एक मूल कारण है।

(5) सरकार की शिक्षा के प्रति गलत नीतियों ने भी छात्र असन्तोष को बढ़ाया है। समय रहते अगर सरकार छात्रों की उचित मांगों की ओर समुचित ध्यान दें तो अनचाही हड़तालें, धरने एवं प्रदर्शन टाले जा सकते हैं।

(6) रोजगारोन्मुख शिक्षा के अभाव ने भी छात्रों में कुण्ठा एवं घृणा को जन्म दिया है। आज सभी ओर बेरोजगारी एवं छात्रों के भविष्य की अनिश्चितता बनी हुई है। जिसके कारण छात्र आये दिन धरने, प्रदर्शन एवं हड़तालें कर रहे हैं।

(7) राष्ट्रीय एवं सर्वसम्मत शिक्षा नीति के अभाव के कारण छात्रों में असन्तोष बना हुआ है। अलग शिक्षण संस्थाओं में एक सी डिग्री के लिए अलग–अलग पाठ्यक्रमों का होना छात्रों के भविष्य के साथ खिलवाड है। रोजगार प्राप्ति में निम्न पाठ्यक्रमों का होना डिग्री की मान्यता' को लेकर भ्रम बनाये हुए है। जिससे उनको रोजगार प्राप्त करने में कठिनाई आ रही है।

2. **पारिवारिक संरचनात्मक कारण** : व्यक्ति के जीवन में परिवार का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। बालक के समाजीकरण में परिवार अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। पर्व उसके व्यवहारों को नियंत्रित करने में अहम भूमिका है, किन्तु वर्तमान में परिवार में युवकों की एवं छात्रों की उपेक्षा की जाती है जो उनमें असन्तोष को जन्म देती है।

3. **राजनीतिक कारण** : युवा एवं छात्र असन्तोष के लिए वर्तमान राजनीतिक प्रणाली भी दोषी है। वह इस वर्ग को अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए गुमराह एवं भ्रमित करती रहती है।

4. **आर्थिक कारण.** भारत में गरीबी एवं बेकारी की भरमार है। नौकरी चाहने वालों एवं उपलब्ध रोजगार के अवसरों के अनुपात में भारी अन्तर है जिसके कारण युवकों में भारी असन्तोष है। उनको असुरक्षित भविष्य एवं महंगी शिक्षा की मार ने घोर निराशा में लाकर डाल दिया है। आज उसके सामने यक्ष प्रश्न यह है कि वह करें तो क्या करें?

5. **पर्यावरण सम्बन्धी कारण** : वर्तमान भारतीय समाज का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश बदल रहा है, वह संक्रमण की स्थिति में है और दूसरी तरफ उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने (जिसमें पश्चिमी एवं आधुनिक मूल्यों को जन्म दिया है) उन्हें दोराहे पर ला खड़ा किया है। वे यह तय नहीं कर पा रहे हैं कि किसे अपनाएं और किसे छोड़े। इससे उनमें विक्षोभ पैदा होता है।

6. **आदर्श नियमों निदेशों, मूल्यों तथा प्रवृत्तियों में परिवर्तन सम्बन्धी कारण :** आज छात्रों के विरूद्ध प्रशासन द्वारा किसी भी प्रतिकूल निर्णय से छात्र शीघ्र हड़ताल, नारेबाजी तथा प्रदर्शन करने के लिए तत्पर रहते हैं।

7. **पीढ़ियों के अन्तर के कारण :** नयी युवा पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के विचारों एवं सोच में पाया जाने वाला अन्तर छात्र असन्तोष के लिए काफी हद तक उत्तरदायी है।

6.05 भारत मैं युवा व छात्र असंतोष का विस्तार

वर्तमान में भारत में लगभग 300 विश्वविद्यालय तथा 10 हजार से अधिक महाविद्यालयों में करीब 80 लाख युवा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यदि एक संस्थान में प्रतिवर्ष औसतन एक विद्यार्थी आन्दोलन भी हुआ हो तो भारत में लगभग 10 हजार विद्यार्थी आन्दोलन प्रति वर्ष होते हैं। इन आन्दोलनों से करोड़ों रूपयों की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचता है तथा विद्यार्थियों का अध्ययन एवं भविष्य दोनों विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं। राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व की भावना की कमी के कारण युवा शक्ति बेहिचक निजी एवं सार्वजनिक सम्पत्ति को अग्नि को समर्पित कर देती है चूंकि युवाओं से दुस्साहस तथा आक्रोश का ग्राफ उच्चस्तरीय रहता है, अत: शिक्षण संस्थाओं के प्रशासक, लोक प्रशासन के नियंत्रणकर्त्ता अधिकारी, समाज एवं पुलिस सभी वर्ग भयाक्रांत रहते हैं। इस अनागत भय के कारण युवा आन्दोलन शीघ्र ही हिंसात्मक रूप धारण कर लेते हैं जिसके परिणाम स्वरूप शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस को कठोर उपायों का सहारा लेना पड़ता है और इस प्रकार पुलिस एवं युवावर्ग में टकराहट बढ़ती है। सन् 1961 में भारत के 1961 विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में 6.45 लाख विद्यार्थी पंजीकृत थे जिन्होंने 2200 अवसरों पर आन्दोलन की राह अपनाई।

उच्चशिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थी आन्दोलन

(हिंसक–अहिंसक)

वर्ष	विद्यार्थी आन्दोलनों की संख्या
1961	2200
1971	4773
1981	4998
1985	6239
1990	9512
1998	10008

स्त्रोत योजना, जुलाई 1999

सन् 1985 में गुजरात में राने आयोग की सिफारिशों के विरूद्ध छात्र असंतोष चरम सीमा पर जा पहुँचा था क्योंकि गुजरात सरकार ने पिछड़े वर्गो के आरक्षण कोटे में वृद्धि कर दी थी। इसमें चार माह तक आगजनी, तोड़फोड़ एवं लूट की घटनाएं जारी रही। अन्तत: 250 व्यक्ति मारे गये तथा 1500 करोड़ रूपये की आर्थिक हानि हुई। सन् 1990 में मंडल आयोग के विरोध में सम्पूर्ण उत्तरी भारत एक वर्ष तक विद्यार्थी आन्दोलनों की हिंसक ज्वाला से जुझता रहा।

राजस्थान विश्वविद्यालय में 9 नवम्बर, 1998 को परीक्षा परिणामों में विलम्ब के आक्रोश से तथा कुलपति द्वारा छात्रों की समस्याएँ नहीं सुने जाने से खिन्न एक छात्र निशांत भारद्वाज ने सोमवार 6 नवम्बर, 1998 को अपरान्ह यहीं स्थिति पोद्दार प्रबन्ध संस्थान के समक्ष उस समय स्वयं पर पैट्रोल छिड़क कर आग लगा ली, जब संस्थान के अन्दर सिण्डीकेट की बैठक चल रही थी। झुलसे छात्र ने तीन दिन बाद नई दिल्ली में उपचार के दौरान दम तोड़ दिया। इस हादसे के बाद छात्रों के आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया तथा तत्कालीन कुलपति वाई राजगोपाल को इस्तीफा देना पड़ा।

हाल ही में चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के छात्र आन्दोलन तथा कानपुर एवं लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा किये गये उग्र प्रदर्शन इसके उदाहरण हैं।

4 नवम्बर 1999 अलीगढ़ में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में हुए गोलीकाण्ड की जांच एवं कुलपति को हटाये जाने की मांग को लेकर विश्वविद्यालय के छात्रों ने नई दिल्ली में 11 नवम्बर 1998 को धरना, नारेबाजी करके असन्तोष प्रकट किया। इस अवधि में विश्वविद्यालय को अनिश्चित काल के लिए बंद करना पड़ा।

इसी प्रकार से जनवरी 2000 में नई दिल्ली के जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में एक छोटी सी घटना को लेकर ऐसा उग्र आंदोलन हुआ जिसमें 23 छात्र गंभीर रूप से घायल हो गये और 150 छात्रों को गिरफ्तार कर लिया गया।

इस प्रकार सन् 2005 में राजस्थान विश्वविद्यालय छात्र संघ द्वारा विश्वविद्यालय के दो प्रोफेसर के साथ अभद्र व्यवहार किया गया तथा उसी वर्ष कुलपति कार्यालय पर कब्जा कर लिया गया।

छात्र असन्तोष केवल भारत में ही परिलक्षित हो रहे हैं, ऐसा नहीं है। बल्कि विश्व के अनेक देशों में व्याप्त हैं। 4 जून,।989 को चीन की राजधानी बीजिंग में हुए विद्यार्थी आन्दोलन में दो हजार विद्यार्थियों को कुर्बानी देनी पड़ी।

6.06 युवा व छात्र असन्तोष के समाधान :

प्रत्येक सामाजिक समस्या का समाधान उन कष्टप्रद सामाजिक स्थितियों के कारणों से पता लगाने पर निर्भर है जो समस्या को उत्पन्न करते हैं। छात्र असन्तोष की समस्या भी ऐसी है जिसमें आशिक रूप में स्वयं छात्र एवं आशिक रूप से समाज दोनों ही उत्तरदायी हैं। समाज में छात्रों की समस्याओं के समाधान का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया है। दूसरी और छात्रों को अपनी समस्याओं का ज्ञान है, वे उन्हें जानते–पहचानते हैं, परन्तु स्वयं उन्होंने या उनके द्वारा चुने गये समुयदो (छात्रसंघ) ने इन समस्याओं को हल करने की दिशा में कोई गम्भीर प्रयास किया है केवल सस्ती लोकप्रियता हासिल करने के लिए। आलबैद' का भी विचार है, कि छात्र संघ छात्रों की विभिन्न समस्याओं को दूर करने में बिल्कुल असफल हुआ है, जिस कारण ये कुछ छात्रों द्वारा सत्ता हथियाने के साधन मात्र बन गये हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (कोठारी आयोग व 1964–66) के सुझाव कमीशन का मानना है कि शैक्षणिक प्रणाली में निम्न उपायों की आवश्यकता है –

1. विद्यार्थियों में असन्तोष पैदा करने वाली शैक्षणिक कमियों को दूर करना।
2. असन्तोष की घटनाओं के घटित होने से रोकने के लिए उचित सलाहकार तथा प्रशासकीय संगठन की स्थापना।
3. सभी विश्वविद्यालयों कॉलेजो में कुलपति या प्राचार्य था अध्यापक और विद्यार्थियों की संयुक्त केन्द्रीय कमेटियों की स्थापना की जाये।

मुदालियर आयोग के सुझाव :–

1. अध्यापक एवं छात्रों में निकट सम्पर्क कायम करने हेतु कक्षाओं में छात्रों की संख्या कम की जाए।
2. विद्यार्थियों में छात्र समितियों को अनुशासन बनाये रखने का कार्य सौंपा जाये।
3. छात्रों में अनुशासन के भाव जाग्रत करने के लिए सैनिक शिक्षा,सामूहिक खेल, रेडक्रास तथा स्काउटिंग, अधिक उपयोग किया जाना चाहिये।
4. छात्रों को राजनीति में भाग लेने से रोका जाना चाहिये।
5. छात्रों को सामान्य धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए न कि किसी धर्म विशेष से सम्बंधित शिक्षा।
6. छात्रों को चरित्र–निर्माण की शिक्षा दी जानी चाहिए।
7. अध्यापकों को समाज के निर्माता तथा श्रेष्ठ मानव दोनों का अनुभव कराया जाना चाहिए।

राधाकृष्णन आयोग रिर्पोट के अनुसार छात्र असन्तोष को नियंत्रित करने के उपाय :–

1. विद्यार्थियों को अच्छी सरकार में रूचि लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाये लेकिन दलगत राजनीति में नहीं।
2. एक परिवर्तित अनुशासकीय व्यवस्था जिसमें विद्यार्थी अधिक भाग लेने अथवा विद्यार्थी सरकार विकसित की जानी चाहिए।
3. अध्यापक, माता–पिता, राजनेता, जनता तथा समाचार पत्रों को विद्यार्थियों में अच्छा जीवन विकसित करने में सहयोग देना चाहिए।

नरेन्द्र देव कमेटी ने युवा असंतोष को दूर करने के निम्न सुझाव दिये : –

1. प्रत्येक अध्यापक की देखरेख में 10 – 15 तक छात्रों को रखा जाना चाहिये।
2. अनुशासन बद्ध जीवन व्यतीत करने वाले. छात्रों की सराहना की जानी चाहिये।

3. अभिभावकों एवं अध्यापकों की ऐसी संयुक्त समिति गठित की जानी चाहिये, जो नवयुवकों में तनाव को दूर करने हेतु उपाय सुझाये।
4. शिक्षा संहिता में प्रवेश की निर्धारित आयु से दो वर्ष कम आयु के छात्र को भी कक्षा में प्रवेश की आज्ञा दी जानी चाहिये।
5. प्रद्यानाध्यापक को ही छात्र के महाविद्यालय से निष्कासित करने और शारीरिक दण्ड देने का अधिकार हो।
6. विद्यार्थियों में अनुशासन बनाए रखने के लिए प्रोक्टट व्यवस्था। प्रारम्भ की जानी चाहिए।
7. प्रत्येक विद्यार्थी को वर्ष में 40 घन्टे शारीरिक श्रम व समाज। सेवा के कर्यों में लगाया जाना चाहिए।
8. आकाशवाणी द्वारा युवाओं के लिए विशेषत: उपयोगी कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाना चाहिए।
9. छात्रों को केवल वे ही चलचित्र दिखाए जाये जो उनके लिए उपयोगी हो।
10. विद्यार्थी की प्रगति एवं व्यवहार संबंधी लेखा–जोखा दर्शाने वाला एक रजिस्टर बनाया जाना चाहिए।

उपरोक्त सिफारिशों के अतिरिक्त युवा व छात्र असन्तोष को दूर करने के अन्य भी सुझाव दिये गये हैं : –

1. शिक्षा प्रणाली से संबंधित, कमियों को दूर किया जाये।
2. अध्यापक विद्यार्थी संबंधी में निकटता लायी जाये।
3. उचित छात्र नेतृत्व को – विकसित किया जाये।
4. वर्तमान शिक्षा प्रणाली' छात्रों के समाजीकरण में सहायक को।
5. कक्षाओं में छात्र अध्यापक के वर्तमान अनुपात को घटाया जाय।
6. छात्र संघों एवं. छात्र गतिविधियाँ में राजनीतिक दलो के हस्तछेप पर लगाई जाय।
7. वर्तमान शिक्षा प्रणाली को. राष्ट्र निर्माण , राष्ट्रीय चरित्र' तथा सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास से जोड़ कर विकसित किया जाये।

6.07 सारांश :

उपरोक्त इकाई के माध्यम से युवा छात्र असन्तोष का, अर्थ. एवं परिभाषा को समझाया गया है। छात्र असन्तोष क्या है इसकी प्रकृति एवं दिशा को विश्लेषित किया गया है। छात्र असन्तोष के क्या कारण रहे हैं, एवं उनकी क्या पृष्ठभूमि रही है. भी व्याख्या की गई हैं। इस यूनिट में युवा एवं छात्र असन्तोष एवं आन्दोलनों को भारतीय रथ– विश्व पृष्ठभूमि. में परखने, का प्रयास किया है तथा समय–समय पर छात्रों द्वारा किये गये उग्र एवं हिंसात्मक आन्दोलन को रेखांकित किया गया है। अन्त में युवा एवं छात्र असन्तोष को. नियंत्रित करने. क लिए गठित विभिन्न आयोगों एवं समितियों द्वारा दिये गये सुझावों व उपायों का विवरण दिया– गया है।

6.08 बोध प्रश्न :

1. युवा व छात्र असन्तोष को परिभाषित कीजिए।
2. युवा व छात्र असन्तोष के कारण बताइये।
3. युवा व छात्र असन्तोष के नियन्त्रण के उपाय बताइये।
4. कोठरी आयोग क्या है? इसके द्वारा दिये गये सुझाव लिखिए।

6.09 संदर्भ ग्रन्थ

1. एच. एस. अस्थाना एवं सूमा चिटनिश : "दी डिस्टर्ब केम्पस" सोसियोलोजी एजुकेशन इन इण्डिया में एम.एस. गोरे द्वारा लिखित पुस्तक में प्रकाशित।

2. राम आहूजा (1997) : सामाजिक समस्याएं, रावत प्रकाशन, जयपुर।
3. बी. वी. शाह सोसियोलोजिकल बुलेटिएन, मार्च, 1968
4. ब्रजमोहन (1978) : इण्डियन सोशल प्रोब्लम्स, नई दिल्ली, मेहता प्रकाशन
5. मिन्टा स्पेन्सर (1982) : प्रिजिनयल साइन्टिफिक एण्ड इन्टेलेक्चुयल स्ट्रडेंन्ट पॉलिटिक्स (एडिटेड) बाई लिपसेट
6. एडवर्ड शिल्स (1981) इंडियन स्ट्रडेन्टस. इन एनकाउन्टर, वाल्यूम–15
7. इलिएट मेरिल (1961) : सोशियल डिसआर्गनाइजेशन न्यूर्याक, हार्पर
8. बी. एल. बिजारनिया (2002)ए. उच्चशिक्षा में विद्यार्थी असन्तोष (अप्रकाशित)

इकाई–7

असामनता : लिंग, जाति एवं वर्ग

इकाई की रूपरेखा :

7.0 उद्देश्य

7.01 प्रस्तावना

7.02 विषमता का अर्थ

7.03 विषमता की आधारभूत विशेषताएँ

7.04 विषमता का उद्भव

7.05 विषमता के मूल आधार

7.06 विषमता के विभिन्न स्वरूप

7.07 भारतीय समाज में विद्यमान विषमता

7.08 समाज में विषमता के निराकरण हेतु सुझाव

7.09 सारांश

7.10 बोध – प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

1. विषमता के अर्थ एवं विशेषताओं को जान सकेंगे |
2. विषमता के उद्भव , मूल आधार तथा स्वरूप को समझ सकेंगे |
3. भारतीय समाज में विद्यमान विषमता तथा इसके निराकरण के उपायों से अवगत हो जायेंगे |

7.1 प्रस्तावना

विषमता प्रकृति का शश्वत एवं सार्वभौमिक सत्य है। प्रकृति में समानता की अवधारणा का आदर्शात्मक रूप पाया नहीं जाता। यहाँ तक कि एक ही माँ के गर्भ से अल्प समयावधि के अन्तर से जन्म लेने वाले तथाकथित ' जुडवाँ बच्चों' में भी पूर्णत: समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समानता की अवधारणा मात्र कोरी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जब नैसर्गिक रूप से प्रकृति में समानता देखने को नहीं मिलती तो मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था में समानता ढूंढना सतही स्तर के बौद्धिक प्रयास के समान प्रतीत होता है। अत: विषमता एक ऐसा तथ्य एवं सत्य है जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक, इन दोनों स्तरों पर देखने को मिलता है। आज तक के मानव इतिहास का सिंहावलोकन करने से यह तथ्य सहज ही समझा जा सकता है कि विषमताएँ सभी समाजों में और प्रत्येक काल में षाश्वत सत्य के समान विद्यमान थीं, विद्यमान हैं और

विद्यमान रहेंगी। एल्विन गल्डनर ने अपनी पुस्तक 'कमिंग क्राइडसिस इनवैस्टर्न सोशियोलोजी– 1970 ' में लिखा है कि ' 'मानव की कुछ विशेषताएँ सभी जीवों में समान रूप से पाई जाती हैं, मानव की कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं, जो उसकी स्वयं की विशिष्टता होती है। वे अन्य प्राणियों में नहीं पाई जाती। "गल्डनर का यह अभिमत विषमता के दृष्टिकोण को स्पष्टत: उजागर करता है। वास्तविक सत्य तो यह है कि हम आदर्शात्मक दृष्टिकोण से बौद्धिक स्तर पर समानता की चर्चा तो कर सकते हैं पर सामाजिक जीवन में उसे देखना नामुमकिन सा प्रतीत होता है। समानता एक उच्च आदर्श है, परन्तु विषमता एक अनुभवपरक सत्य है।

किसी भी समाज में समाजवादी दृष्टिकोण से समानता को देखने का प्रयास कोरी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में, जिसमें निजीकरण एवं खुलेपन की विचारधाराएँ अनवरत रूप से अपना अस्तित्व सिद्ध कर चुकी हैं, समानता को ढूंढना असम्भव सा प्रतीत होता है। निजीकरण की विचारधारा व्यक्तिगत स्वार्थ एवं आर्थिक लाभ पर केन्द्रित है, जिसमें ध्येय की प्राप्ति के लिए गला काट प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। अत: वर्तमान आर्थिक एवं औद्योगिक युग में असमानता का विद्यमान रहना, एक ऐसी अवांछित अपरिहार्यता है जिसके बिना उक्त युग के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। विषमता व्यक्ति एवं समाज की चेतना का अभिन्न अंग बन चुकी है, जो एक पीढ़ी से लेकर दूसरी पीढ़ी तक समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम सेर बिना किसी हस्तक्षेप के हस्तांतरित हो रही है।

विषमता वर्तमान समय की एक प्रमुख सामाजिक–आर्थिक समस्या जा रूप ले चुकी है। जिसने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। भारतीय संविधान की विचारधारा किसी भी प्रकार की विषमता एवं असमानता के विरूद्ध है। यहाँ पर यह उल्लिखित करना उपयुक्त होगा कि वर्तमान दौर की दो प्रमुख सामाजिक–राजनैतिक विचारधाराएँ–

1. मानव की कुछ विशेषताएँ कतिपय जीवों में देखी जा सकती हैं और प्रजातन्त्र एवं समाजवाद दोनों ही मानव की समानता पर आधारित हैं, परन्तु दोनों ही विचारधाराओं में विषमता स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि विषमता के स्वरूप एवं प्रकार में भिन्नता समय, काल, स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार देखी जा सकती है।

वर्तमान समय में औद्योगिकीकरण के माध्यम से विकास की गंगा चहुँ ओर तीव्र गति से बह रही है, जिसके परिणामस्वरूप विषमता के प्राचीन स्वरूप लुप्त प्राय: हो गए हैं एवं उनके स्थान पर कतिपय नवीन स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यूरोप, उत्तरी अमेरिका एवं जापान जैसे विकसित राष्ट्रों में औद्योगिक एवं आर्थिक प्रगति के कारण विषमताओं का उग्र रूप देखने को कम ही मिलता है, जबकि भारत में स्थिति भयावह बनी हुई है। तीसरे विश्व के अल्प विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में असमानता के परम्परागत स्वरूप वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं। इन राष्ट्रों में निर्धन एवं धनवानों के मध्य एक गहरी खाई देखने को मिलती है। महज इतना ही नहीं, वरन् भिन्न–भिन्न वर्गो एवं समुदायों के लोगों के जीवन स्तर एवं जीवन शैली में रात–दिन का अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ये राष्ट्र आर्थिक, भौतिक एवं वैचारिक दृष्टिकोण से आदर्शात्मक समानता के नजदीक पहुँचने के लिए बेताब हैं तथा वहाँ समानता की विचारधारा की जड़ें इतनी गहरी पहुँच चुकी हैं कि इनका जीवन के विभिन्न आयामों में असरदार प्रभाव सहज रूप में देखा जा सकता है। दूसरी ओर अविकसित एवं अल्पविकसित राष्ट्रों में परम्परावादी, सामन्तवादी' एवं गुलामी की मानसिकता से सरोबार विचारों को इन राष्ट्रों के सांस्कृतिक तत्वों, सांस्कृतिक संकुलों एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों में देखा जा सकता है। सामाजीकरण के द्वारा ये विचार जड़वादी मानसिकता का रूप लेते हुए भविष्य की पीढ़ियों में भी हस्तांतरित हो रहे हैं।

7.02 विषमता का अर्थ

विषमता या असमानता की अवधारणा को उचित एवं सही रूप से समझने के लिए समानता की अवधारणा को समझना अपरिहार्य है। सामान्य अर्थो में समानता का तात्पर्य सभी प्रकार के सन्दर्भो में समस्त लोगों

में बिना किसी भेदभाव के परस्पर बराबरी से है। इसका आशय यह है कि मानव–मानव के मध्य किसी भी प्रकार का भेदभाव विद्यमान न हो। सभी मनुष्यों को समान शिक्षा, सुविधाएँ, वेतन, सम्पत्ति अर्जन एवं जीवन अवसर बिना किसी भेदभाव के सहज रूप से प्राप्त हों।

समानता की अवधारणा में यह बोध अन्तर्निहित रहता है कि सभी व्यक्तियों को अपने सर्वागीण विकास के समान अवसर मिलते हैं तथा समस्त प्रकार की निर्योह्यताओ और विशेषाधिकारो के शमन पर बल दिया जाता है। इसका आशय यह है कि जाति–प्रजाति, लिंग, धर्म, भाषा, प्रान्त–स्थान, क्षेत्र, संस्कृति, सामाजिक स्थिति इत्यादि के आधार पर किसी भी प्रकार का विभेद न तो वास्तविक रूप. मैं किया जाता है और न ही स्वीकार किया जाता है तथा न ही इसे किसी भी रूप में सामाजिक स्वीकृति, मान्यता एवं संस्तुति प्रदान की जाती है।

मूलत: सामाजिक असमानता का अर्थ किसी भी समरूप समाज में प्रमुखतया पारिवारिक पृष्ठभूमियों सामाजिक परम्पराओं एवं परिपाटियों, आय–सम्पदा, राजनैतिक प्रभाव, आचरण, (शिक्षा, नैतिकता इत्यादि पर आधारित भिन्नताओं के कारण सामाजिक पद–प्रतिष्ठा, अधिकार एवं अवसरों में उत्पन्न अन्तर को सामाजिक असमानता के सम्बोधन से अभिहित करते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा की भिन्नता का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पारिवारिक संस्थाओं, सम्पत्ति स्वामित्व तथा उत्तराधिकार की संस्थाओं के साथ–साथ समान सामाजिक वर्ग श्रेणी के व्यक्तियों के सम्पर्कों द्वारा सम्भव होता है।

विषमता के अन्तर्गत लोगों को अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के अवसर प्राप्त नहीं होते। समाज में विशेषाधिकार विद्यमान रहता है तथा जन्म, जाति, प्रजाति धर्म, भाषा, आय व सम्पत्ति के आधार पर अन्तर देखा जा सकता है। इन्हीं आधारों पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से, एक समूह दूसरे समूह से, एक समुदाय अन्य समुदाय से, एक जाति या प्रजाति अन्य जाति या प्रजाति से, एक धर्म दूसरे धर्म से उच्चता एवं निम्नता का भेद बनाए रखने के साथ–साथ उचित सामाजिक दूरी भी बनाता है। विषमता को अभिव्यक्त करने वाले प्रमुख कारकों में शक्ति, सत्ता, पद, प्रभुत्व, आर्थिक असमानता, सामाजिक विभेद तथा उत्पादन के साधनों पर असमान अधिकार इत्यादि प्रमुख स्थान रखते हैं। विषमता का आशय किसी समूह, समुदाय अथवा समाज के लोगों के जीवन–अवसर तथा जीवन शैली की भिन्नताओं से है, जो विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में इनकी असमान स्थिति में जीवनयापन करने के कारण होती है। प्रख्यात समाजशास्त्री आन्द्रे बिताई का मत है कि सामाजिक परम्पराओं तथा मानदण्डों के बिना किसी भी समाज की कल्पना करना असम्भव है और ये ही सामाजिक असमानतओं को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

7.03 विषमता की प्रमुख आधारभूत विशेषताएँ

विषमता की अवधारणा को बौद्धिक रूप से समझने के लिए निम्नांकित विशेषताओं का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है:–

1. **सामाजिक तथ्य के रूप में –**

विषमता एक ऐसा सामाजिक तथ्य है जिसकी प्रकृति सामाजिक है, अर्थात् यह सम्पूर्ण समाज में व्याप्त है तथा यह व्यक्ति केन्द्रित नहीं है। विषमता व्यक्तिगत गुणों यथा– आयु, लिंग, रंग, बौद्धिक क्षमता इत्यादि पर आधारित नहीं होती। इसे समाज द्वारा निर्धारित पदों, परिस्थितियों, शक्तियों एवं अधिकारों में भिन्नता के आधार पर समझा जा सकता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा चेतन एवं अचेतन रूप में व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों, मानकों, आदर्शो एवं मूल्यों को अपने व्यक्तित्व में समाहित कर, समाज में व्याप्त विषमता को अंगीकार करता है। सामाजिक संस्थाऐ यथा–शैक्षिक, विवाहित पारिवारिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि समाज में विषमता को जन्म देने में सहायक सिद्ध होती हैं।

2. सम्पूर्ण विश्व में व्याप्तता –

सम्पूर्ण विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जहाँ पर किसी न किसी रूप में विषमता पाई नहीं जाती हो। यद्यपि भिन्न–भिन्न समाजों में इसके स्वरूपों एवं आधारों में भेद हो सकता है। कार्ल मार्क्स की वर्गविहीन साम्यवादी, राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था की कल्पना केवल कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। न तो प्राचीन काल में सैद्धान्तिक रूप में वर्गविहीन समाज था और न ही इस प्रकार का समाज भविष्य में रहेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि विषमता मानव समाज की नैसर्गिक विशेषता है।

3. भिन्न–भिन्न स्वरूप

विश्व के सभी समाजों में तथा सभी युगों में विषमता के भिन्न–भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। विषमता के ये स्वरूप देश, काल, परिस्थिति एवं सामाजिक–राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के अनुसार अपने स्वरूप का निर्धारण करते हैं। यूरोप, अफ्रीका अमेरिका एवं लेटिन अमेरिका के देशों में किसी न किसी प्रकार का भेदभाव विद्यमान रहा है और वर्तमान समय में भी प्रचलन में है। भारत में विषमता का आधार जाति व्यवस्था है और पश्चिमी देशों में असमानता वर्ग व्यवस्था पर आधारित होती है। इसी प्रकार अगर हम सभी 'राष्ट्रों की परस्पर तुलना करें तो पायेंगे कि इनमें असमानता के विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं।

4. **विषमता का समन्वयक अस्तित्व** –

विषमता के अनेक आयाम होते हैं। इनकी संख्या का निर्धारण नहीं जा सकता। पद, व्यवसाय आय, शक्ति, सत्ता, शिक्षा, प्रस्थिति इत्यादि विषमता के प्रमुख आयाम हैं। समय विशेष में एक समाज में विषमता के एक से अधिक आधार प्रचलन में रह सकते हैं। उदाहरण के, भारत में वर्तमान समय में जाति, वर्ग, पद परिस्थिति, शिक्षा, शक्ति–सत्ता इत्यादि सामाजिक विषमता व्यावहारिक आधार, प्रचलन में हैं।

5. अपरिवर्तनशील प्रकृति –

सामाजिक विषमता एक सामाजिक तथ्य है तथा इसकी उत्पत्ति सामाजिक कारणों एवं सामूहिक अनुभवों के द्वारा होती है। इनमें समाज समय के साथ–साथ समाज की इच्छानुसार वांछित परिवर्तन कर सकता है, परन्तु किसी व्यक्ति के द्वारा विषमता की संरचना में व्यक्तिगत कारणों से प्रभावी परिवर्तन नहीं हो सकता।

6. समय सापेक्षता

सामाजिक स्थिरता एक सामाजिक तथ्य है, परन्तु यह एक गतिशील तथ्य है। इसमें समय–समय पर वांछित परिवर्तन हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, सदियों से भारत में विद्यमान जाति व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन होते रहे हैं। 1917 की क्रांति के पश्चात् रूस की सामाजिक–राजनितिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

7.04 विषमता का उद्भव

विषमता के संदर्भ में समाज वैज्ञानिकों की जिज्ञासा इसकी उत्पत्ति सम्बन्धित प्रश्नों को लेकर सदैव रही है। समाज वैज्ञानिकों ने असमानता की उत्पत्ति क्यों और कैसे है, के संबंध में अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। मुख्यत: विषमता की उत्पत्ति के संबंध में छह के दृष्टिकोण समीचीन मालूम पड़ते हैं, ये हैं :–

1. प्राकृतिक विभेद।
2. व्यक्तिगत सम्पत्ति के परिणाम के रूप में।
3. श्रम–विभाजन।
4. युद्ध एवं विजय का परिणाम।

5. प्रकार्यात्मक व्याख्या।
6. मानदण्डों, अभिमति एवं शक्ति का परिणाम।

1. प्राकृतिक विभेद व्याख्या (Natural Difference Explanation)

विषमता की उत्पत्ति एवं उद्भव के संदर्भ में इस दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक के रूप में अरस्तु का नाम प्रमुख है। अरस्तु ने अपनी कृति "पॉलीटिक्स" में अपना मत प्रस्तुत हुए लिखा है कि मनुष्य प्राकृतिक रूप से ही असमान है। स्वतन्त्र, गुलाम, स्त्री तथा पुरूष प्राकृतिक से ही विषम है। स्वतन्त्र एवं पुरूष लोग, गुलाम एवं स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं। इसीलिए ये लोग इन पर करते हैं। वस्तुत: प्रकृति ने ही इन्हें प्रभुत्व एवं शासन करने वाले गुण नैसर्गिक रूप से प्रदान किए हैं इन गुणों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। अत: समाज में विद्यमान असमानता एवं श्रेणीबद्ध एवं प्राकृतिक है। अरस्तु के इन विचारों का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है।

विषमता की उत्पत्ति के संदर्भ में अरस्तु के उपर्युक्त विचारों में अनेक त्रुटियाँ विद्यमान हैं। अरस्तु ने प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता में किसी भी प्रकार का भेद नहीं किन है, जबकि प्राकृतिक एवं सामाजिक असमानता पूर्णत: स्वतन्त्र व्यवस्थायें हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर यह लिखना समीचीन होगा कि असमानता की व्याख्या प्राकृतिक आधार पर पूर्ण रूप से स्थापित नहीं की जा सकती। रूसों ने अरस्तु के इन विचारों का खण्डन किया है तथा प्राकृतिक समानता के विचारों का प्रबल समर्थन किया है। रूसों ने प्राकृतिक नियमों के आधार पर समानता की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

2. व्यक्तिगत सम्पत्ति के परिणाम के रूप में विषमता

(Inequality as a result of private property) –

विषमता को व्यक्तिगत सम्पत्ति का परिणाम मानना इसकी प्रथम समाजशास्त्रीय व्याख्या है। अरस्तु ने प्रत्येक समाज में तीन वर्गो – सम्पन्न, मध्यम एवं निर्धन का उल्लेख किया है। आर्थिक आधार पर समाज में विद्यमान असमानता की व्याख्या काफी पुरानी है। इस संदर्भ में रूसों ने अपना मत प्रकट करते हुए ये विचार प्रस्तुत किये कि प्रारम्भिक अवस्था में मानव साम्यवादी जीवन व्यतीत करता था और इनमें समानता विद्यमान थी, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना के उद्भव ने समाज में विषमता को जन्म दिया। फरग्यूसन, मिल, जेम्स, मेडिसन इत्यादि ने रूसों के विचारों का समर्थन किया। इनका मत है कि सम्पत्तिवान एवं सम्पत्तिहीन लोगों ने समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार के स्वार्थो को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए भूस्वामी, भूमिहीन, सूदखोर, व्यापारी, निर्माता इत्यादि वर्गो के स्वार्थ भिन्न–भिन्न हैं। ये वर्ग अलग–अलग प्रकार के मानदण्डों एवं नियमों को जन्म देते हैं तथा संघर्ष को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

कार्ल मार्क्स एवं एडम स्मिथ भी भूमि, सम्पत्ति एवं श्रम को विषमता के लिए उत्तरदायी महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। कार्लमार्क्स एवं रूसो व्यक्तिगत सम्पत्ति को विषमता का कारण मानते हैं। इसीलिए कार्ल मार्क्स 'साम्यवादी समाज' की स्थापना के लिए एवं रूसों 'प्राकृतिक समाज' की स्थापना के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन को प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त मत को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक साम्यवादी राष्ट्रों में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने के पश्चात् भी वहाँ पर अनेक प्रकार के वर्ग एवं आय पर आधारित विषमता देखी जा सकती है।

3. असमानता का जोत श्रम विभाजन (Division of labour as a source of inequality)

एंजिल, कार्लमार्क्स, स्मालर, दुर्खीम इत्यादि ने श्रम विभाजन के आधार पर समाज में असमानता की व्याख्या की। एंजिल्स ने श्रम विभाजन के आधार पर वर्ग संरचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि

असमानता को जन्म देने का प्रमुख कारक है। स्मालर ने श्रम विभाजन के आधार पर भिन्न–भिन्न व्यावसायिक समूहों की व्याख्या की है। इसी प्रकार समाजशास्त्र के प्रमुख आधार स्तम्भ इमाइल दुर्खीम ने समाज में श्रम विभाजन के आधार पर विषमता की व्याख्या की है। जॉर्ज सिमेल शुमपीटर, फरग्यूसन, पहेलबैग इत्यादि समाज वैज्ञानिकों ने श्रम विभाजन को विषमता का स्रोत मानने वाली विचारधारा का समर्थन किया है। राल्फ डेहरनडोर्फ ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि श्रम विभाजन विषमता को जन्म नहीं देता, वरन् यह तो केवल मात्र कार्य का बंटवारा ही है।

4. असमानता : युद्ध एवं विजय के परिणाम के रूप में –

(Inequity : As conseqency of war and victory)

पहले बैग ने विषमता की उत्पत्ति के संदर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए यह मत प्रकट किया कि विषमता युद्ध और विजय का अवश्यभावी परिणाम है। प्रत्येक युग में शासक वर्ग ने युद्ध एवं विजय के आधार पर स्वयं को सर्वोच्च प्रस्थिति से विभूषित किया है तथा समाज में अन्य वर्गो की उत्पत्ति का कारक भी बने हैं।

5. विषमता की प्रकार्यात्मक व्याख्या (The Functional explanation of inequality)–

किंग्सले डेविस, विलबर्ट ई.मूर, टालकॉट पारसन्स इत्यादि समाजशास्त्रियों ' ने सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से समझाने का प्रयास किया है। प्रकार्यवादी समाज वैज्ञानिक समाज में व्याप्त विषमता को समाज के अस्तित्व, स्थायित्व एवं निरन्तरता के लिए प्रकार्यात्मक आवश्यकता मानते हैं, जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता। प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों का मत है कि समाज पद–परिस्थितियों का जाल है। सभी पद समान महत्व के नहीं होते। कुछ पद अधिक महत्व के होते हैं एवं अन्य पदों का महत्व सापेक्षिक रूप से कम होता है। प्रत्येक पद के साथ निश्चित पारिश्रमिक एवं पुरस्कारों की व्यवस्था निर्धारित निश्चित होती है। जिन पदों को समाज अपने अस्तित्व, स्थायित्व एवं निरन्तरता के लिए अपरिहार्य एवं अधिक उपयोगी स्वीकार करता है, उन पदों के प्रतिफल के रूप में अधिक पारिश्रमिक एवं पुरस्कार निर्धारित किए जाते हैं। समाज में इन महत्युपर्ण पदों को अर्जित करने के लिए विशेष योग्यता प्रतिभा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ पदों का प्रशिक्षण अधिक खर्चीला होता है तथा इन पदों का प्रशिक्षण कुछ अधिक कठिन भी होता है। इन पदों को समाज का प्रत्येक व्यक्ति अर्जित नहीं कर सकता। इसीलिए इन पदों के प्रतिफल के रूप में अधिक पारिश्रमिक सुविधाऐं एक पुरस्कार जुड़े रहते हैं। इस प्रकार भिन्न–भिन्न समाजों में विभिन्न पदों की समाज की आवश्यकतानुसार श्रेणियाँ एवं महत्व निर्धारित होते हैं, जिनके अनुरूप इनके प्रतिफल के रूप में भिन्न–भिन्न मात्रा में पारिश्रमिक सुविधाएं एवं पुरस्कार जुड़े रहते हैं। प्रतिफल की भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ समाज में विषमता को जन्म देती हैं। अत: विषमता के अभाव में समाज के विभिन्न कार्यो की पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती। मेलविन एम. ट्यूमिन. टीबी. बोटोमार इत्यादि समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। इनका मत है कि यह निर्णय करना कठिन है कि अमुक कार्य की समाज में अधिक उपयोगिता है तथा अमुक कार्य समाज के अस्तित्व के लिए गौण है। प्रकार्यवादी समाजशास्त्री विषमता के अप–प्रकार्य की चर्चा नहीं करते।

6. विषमता : मानदण्डों, अभिमति एवं शक्ति का परिणाम

(inequality emanates from norms, sanction and power)–

Ralph Dahrendorf ने प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य में निहित त्रुटियों को दूर ' करते हुए लिखा है कि असमानता एक समूह के व्यय पर अन्य समूह द्वारा लाभ या फायदा अर्जित करने के कारण उत्पन्न होती है। डेहरनडॉर्फ विषमता के लिए मानव प्रकृति और व्यक्तिगत सम्पत्ति को उत्तरदायी नहीं मानते। वे असमानता के लिए सामाजिक मानदण्ड, अभिमति तथा शक्ति को उत्तरदायी मानते हैं। इनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति में ही

असमानता के विचार निहित हैं। प्रत्येक समाज में विद्यमान मानदण्ड, समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। इन मानदण्डों की पृष्ठभूमि में सामाजिक अभिमति प्रच्छन्न रूप से कार्य करती है। मानदण्डों की पालना करने वाले सदस्य को पुरस्कार एवं उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को प्रतिफल के रूप में दण्ड दिया जाता है। अभिमति शक्ति एवं सत्ता की व्यवस्था के द्वारा समाज में क्रियान्वित की जाती है।

7.05 मूल आधार

विश्व में व्याप्त भिन्न–भिन्न समाजों में असमानता के भिन्न–भिन्न आधार। देखने को मिलते हैं। इन आधारों में निम्नलिखित आधार प्रमुख स्थान रखते हैं :–

1. जाति, प्रजाति एवं जन्म।
2. शिक्षा।
3. पद।
4. व्यवसाय।
5. आय।
6. सम्पत्ति
7. शक्ति।

1. जाति, प्रजाति एवं जन्म –

जाति, प्रजाति एवं जन्म असमानता को जन्म देने के लिए उत्तरदायी कारक होते हैं। परम्परागत रूप से स्वीकार्य उच्च कुल जाति, प्रजाति एवं उच्च वंश में जन्म लेने वाले लोग स्वयं को अन्य लोगों से श्रेष्ठ समझते हैं। यह श्रेष्ठता और हीनता का भाव ही असमानता को जन्म देता है। इसी प्रकार रंग रूप इत्यादि भी विषमता को जन्म देते हैं। गोरे लोग काले लोगों की तुलना में अपने आप को श्रेष्ठ समझते हैं। श्वेत वर्णनीय यूरोप एवं अमेरिका के लोग काले रंग के नीग्रों लोगों से अपने आप को श्रेष्ठ समझते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण एवं अन्य उच्च जाति के लोग अनुसूचित जाति एवं इनके समकक्ष जाति से स्वयं को उच्च समझते हैं। ग्रामीण भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था, ऊंच–नीच एवं असमानता का एक मूलभूत आधार है।

2. शिक्षा –

वर्तमान औद्योगिक एवं सूचना तन्त्र से सम्बद्ध समाज में शिक्षा सम्बन्धी अन्तर असमानता को जन्म देने एवं इसका प्रचार–प्रसार करने में महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षित लोग अपने बच्चों को अच्छे स्कूलों में पढने की सुविधा उपलब्ध कराते हैं तथा निर्धन एवं अभावग्रस्त लोग राजकीय विद्यालयों में अध्ययन करवाते हैं। वर्तमान समय में प्राथमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा एक महंगा उपक्रम बन जाने के कारण यह गरीब एवं निर्धन लोगों की पहुंच से दूर हो चुकी है। इस शिक्षा का फायदा साधन–सम्पन्न लोग ही उठा पाते हैं। जिसके फलस्वरूप ये लोग समाज में उच्च आय अर्जन करने वाले एवं सम्मानजनक पद प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं तथा जो इस शिक्षा से वंचित हो जाते हैं, वे निचले क्रम के पद स्वीकार कर समाज में विषमता को संस्थागत जामा पहनाते हैं। इस प्रकार आर्थिक विषमता, जीवन जीने के असमान स्तर एवं असमान सुविधायें समाज में व्याप्त विषमता की खाई को चौड़ा करने के साथ–साथ इसे संस्थागत रूप से सामाजिक संरचना में स्वीकार्य बनाते हैं।

3. पद –

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार समाज में कुछ पद समाज के अस्तित्व एवं संगठनात्मक एकता बनाये रखने के लिए अपरिहार्य होते हैं। समाज में भिन्न–भिन्न पदों में श्रेणीबद्धता पाई जाती है। इस श्रेणीबद्धता के अनुरूप इन पदों में प्रतिष्ठा निहित होती है। भिन्न–भिन्न समाजों में पदों का आधारप्रदत्त एवं अर्जित, इन दोनों

योग्यताओं के आधार पर होता है। परम्परागत भारत में जाति–व्यवस्था की उच्चता एवं संस्कारों की शुद्धता, उच्च पद एवं प्रतिष्ठा का मूलभूत आधार रहा है, परन्तु आधुनिक नगरीकृत भारतीय समाज में यह आधार बदल रहा है और इसके स्थान पर आधुनिक शिक्षा एवं प्रशासनिक पदों ने उच्च स्थान ग्रहण किया है। उच्च पद प्राप्त करने वाला चाहे वह किसी भी जाति से हो समाज में उच्च स्थान पाता है तथा वह अपने आप को अन्य लोगों से उच्च समझता है। इस प्रकार पदों की श्रेणीगत विभिन्नता समाज में असमानता को पनपाने में सहायक सिद्ध होती है।

4. व्यवसाय –

नेस्फील्ड के अनुसार जाति–व्यवस्था का आधार व्यवसाय है। इन व्यवसायों में ऊंच–नीच का एक संस्तरण पाया जाता है। इस संस्तरण के अनुरूप कुछ व्यवसाय अधिक प्रतिष्ठित माने जाते थे। विभिन्न व्यवसायों का इस प्रकार का मूल्यांकन इनसे सम्बद्ध लोगों में असमानता को पनपाता है। आध्यात्मिक ऊर्जा संग्रहण के कार्य में संलग्न ब्राह्मणों का समाज में, उब्दिष्ट एवं मल उठाने वाले निम्न जाति के लोगों से ऊंचा स्थान रहा है। इस संदर्भ में यह लिखना उचित होगा कि व्यवसायों के साथ शुद्धता एवं अशुद्धता तथा पवित्रता एवं अपवित्रता का बोध भी भारतीय जाति–व्यवस्था में संस्कारों के माध्यम से लोगों में गहन रूप से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न व्यवसायों में पाया जाने वाला संस्तरण समाज में असमानता को जन्म देने का महत्वपूर्ण उत्तरदायी कारक है।

5. आय –

समाज में भिन्न–भिन्न लोगों की आय में पर्याप्त अन्तर देखने को है। आय सम्बन्धी भिन्नता के परिणाम स्वरूप लोगों में भोजन, वस्त्र, आवास, आभूषण तथा जीवन की सुख–सुंविधाए जुटाने सम्बन्धी अन्तर पाये जाते हैं। ये विभेद समाज में विषमताओं को जन्म देते हैं। इस प्रकार समाज में लोगों की आयों में श्रेणीबद्धता असमानता को जन्म देने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

6. सम्पत्ति –

विश्व के सभी समाजों में सम्पत्ति स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार है और सम्पत्ति ही असमानता के लिए प्रमुख रूप में उत्तरदायी कारक है। सम्पत्ति के आधार पर सभी प्रकार के समाजों में ऊंच–नीच का भेद पाया जाता रहा है। सम्पत्ति की मात्रा के अनुरूप समाज में लोगों का ऊंघ नीच में स्तरीकरण होता रहा है। जिनके पास अधिक सम्पत्ति है उनके पास जीवन जीने के अधिक अवसर है। इनके पास विलासिता और सुख–सुविधाओं की वस्तुओं को खरीदने की क्षमता भी अधिक होती है। इसके ठीक विपरीत जैसे–जैसे लोगों के पास सम्पत्ति कम होती जाती है, लोगों की स्थिति निम्न होती जाती है और इस प्रकार समाज को असमानता के विभिन्न आयाम देखने को मिलते हैं। कार्ल मार्क्स ने समाज में सम्पत्ति को असमानता पैदा करने की दृष्टि से निर्णायक आधार माना है।

7. शक्ति –

असमानता एवं विषमता को निर्धारित करने वाला एक तत्व शक्ति एवं सत्ता भी है। जो लोग जितना अधिक शक्ति एवं सत्ता पर नियंत्रण स्थापित. करते हैं वे उतने ही समृद्धिशाली' होते हैं। शक्ति एवं सत्ता के आधारों पर समाज में भिन्नता देखने को मिलती है। जिन लोगों के पास जितनी अधिक शक्ति एवं सत्ता होगी, उतनी ही अधिक उन लोगों की स्थिति ऊँची होगी। इरा प्रकार शक्ति एवं सत्ता के क्रमबद्ध श्रेणीकरण के अनुरूप समाज में विषमता देखने को मिलती है। सत्ता एवं शक्तिविहीन लोग समाज में निर्धन एवं गरीब कहलाते हैं तथा इनकी समाज में निम्न स्थिति होती है। इसी प्रकार धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक आधारों पर शक्ति एवं राजनैतिक शक्ति का असमान वितरण, समाज में विभिन्न प्रकार के वर्गभेदों को दृष्टिगोचर करता है। धार्मिक शक्ति के आधार पर धर्म के ठेकेदारों मुनि महात्माओं, पण्डित पुजारियों, मुल्ला–मौलवियों पादरियों इत्यादि तथा आमजन के बीच विषमता देखने को मिलती है।

7.06 विषमता के विभिन्न स्वरूप

विषमता की उपर्युक्त वर्णित व्यवस्था से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि यह विश्व में विद्यमान समस्त समाजों की एक ऐसी विशेषता है, जिसे मिटाया नहीं जा सकता। कार्ल मार्क्स ने विश्व के सभी समाजों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि सभी समाजों में असमानता पर आधारित स्तरीकरण के निम्नलिखित स्वरूप होते हैं –

1. प्राचीन समाज।
2. सामन्तवादी समाज
3. पूँजीपति समाज।

मार्क्स ने यह बताया कि प्राचीनसमाज में गुलाम एवं इनके मालिक, ये दो वर्ग पाए जाते थे। सामन्तवादी व्यवस्था में समाज में अनेक समूह देखने को मिलते थे। यह बेगारी पर आधारित समाज व्यवस्था थी। पूँजीवादी समाज व्यवस्था पूँजीपति एवं श्रमिकों के विभाजन पर आधारित है। इस व्यवस्था के अन्दर भी अनेक वर्ग पाए जाते हैं। वर्तमान विश्व में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिए मार्क्स द्वारा वर्णित समाज में विभाजन का स्वरूप देखने को नहीं मिलता तथा इस वर्गीकरण में वर्तमान समय में विद्यमान' अनेक वर्गो को समायोजित नहीं किया जा सकता है।

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, निजीकरण एवं खुलेपन की आँधी ने सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित कर रखा है। पूँजीपति एवं साम्यवादी, ये दोनों समाज इस आँधी में पूर्ण रूप से सरोबार हैं। औद्योगिक पूर्व, औद्योगिक एवं साम्यवादी सामाजों में पाए जाने वाले विषमता के स्वरूप छिन्न–भिन्न होते नजर आ रहे हैं। सूचना–तकनीकी की क्रान्ति द्वारा जनित घुमंतुक (मोबाईल) यंत्र अब प्रत्येक मनुष्य की अपरिहार्यता बन गया है। समाज पर सूचना तकनीकी से सरोबार क्रांति आने वाले समय में विषमता के कौनसे स्वरूप समाज के सामने प्रस्तुत करेगी, यह तो भविष्य के गर्भ में अन्तर्निहित है।

टोम बोटोमोर ने समाज में विभाजन के चार स्वरूपों को प्रस्तुत किया है, जो निम्नांकित है :–

1. दास प्रथा।
2. सम्पदा / जागीरें।
3. जाति व्यवस्था।
4. सामाजिक वर्ग।

1. दास प्रथा.

दास प्रथा समाज व्यवस्था का वह स्वरूप था, जिसमें प्रत्येक दास का एक स्वामी (मालिक) होता था। इस मालिक के अधीन वह अपना जीवन यापन करता था। मालिक का हुक्म दास के लिए सर्वोपरि आज्ञा के समान होता था। स्वामी दास से अपने कार्य करवाने हेतु बल का प्रयोग करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता था। दास स्वामी की सम्पत्ति होता था, जिसका क्रय एवं विक्रय किया जा सकता था। दास राजनीतिक अधिकारों से वंचित, समाज द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति था। दास की अधीनता इस प्रकार की थी कि उसे अनिवार्य रूप से श्रम करना ही पड़ता था। समाज में एक धुरी पर दास एवं दासप्रथा विद्यमान थी तो दूसरी धुरी पर इनके स्वामियों से मिलकर कुलीन लोगों का एक ऐसा कुलीनतंत्र था, जो पूर्णत: दासों के श्रम पर आधारित था।

दास प्रथा असमानता के चरम बिन्दु का परिचायक है, जिसमें व्यक्तियों के एक समूह को सामाजिक–राजनैतिक अधिकारों से पूर्णत: वंचित कर दिया जाता है। प्राचीन यूनान एवं रोमन साम्राज्य तथा मध्यकालीन

दक्षिणी अमेरिका में यह समाज व्यवस्था प्रचलन में थी। आधुनिक समय में मानवाधिकार एवं प्रजातान्त्रित मूल्यों के प्रतिकूल होने के कारण इस प्रथा का उन्मूलन हो चुका है।

2. सम्पदा / जागीरें –

मध्यकालीन यूरोप में जागीर प्रथा सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का प्रचलित स्वरूप था, जिसे प्रथा एवं कानून द्वारा स्वीकृति तथा मान्यता प्राप्त थी। मुख्यत: जागीर प्रथा तीन वर्गो में विभाजित थी – 1 पादरी, 2 सरदार (कुलीन) एवं 3 साधारणजन। प्रत्येक वर्ग की संस्कृति (जीवन–शैली) अन्य वर्गो से विशिष्टीकृत थी। तत्कालीन यूरोपीय समाज में राज्य चर्च के अधीन था। इसीलिए सामाजिक संस्तरण में सर्वोच्च स्थान पादरियों का था। बोटोमोर ने जागीर प्रथा की तीन विशेषताओं का वर्णन किया है –। प्रत्येक जागीर की एक वैधानिक परिभाषा थी। उसके अधिकार, विशेषाधिकार, कर्त्तव्य एवं दायित्वों के आधार पर समाज में उसकी एक सुनिश्चित प्रस्थिति होती थी। 2 जागीरों में स्पष्ट श्रम–विभाजन देखने को मिलता है। सरदार (कुलीन) वर्ग पर समाज में सभी की रक्षा का दायित्व था। पादरी वर्ग पारलौकिक सत्ता से सभी की समृद्धि एवं खुशहाली के लिए प्रार्थना करते थे तथा जन साधारण कृषि एवं अन्य कार्यो में संलग्न थे। 3 जागीरें राजनीतिक समूह थी। इनके पास राजनैतिक शक्ति विद्यमान थी। मध्यकालीन यूरोप में विद्यमान जागीर प्रथा के कुछ लक्षण भारत में मौर्यकाल, गुप्तकाल एवं मुगलकाल में व्याप्त सामन्ती व्यवस्था में देखने को मिलते हैं, परन्तु इसका स्वरूप आर्थिक एवं सैनिक रहा है।

3. जाति व्यवस्था –

भारत में सामाजिक असमानता सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में समाज द्वारा स्वीकृत रही है। जाति प्रथा विषमता का वह विशिष्टीकृत स्वरूप है, जो केवल भारत में ही देखने को मिलता है। जाति व्यवस्था परम्परावादी कृषि प्रधान भारतीय समाज में प्रभावशाली रूप में सदियों से विद्यमान रही है। जाति व्यवस्था में व्याप्त असमानता को धर्म की स्वीकृति एवं समर्थन प्राप्त है। इसके साथ–साथ प्रथागत कानून नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों ने भी इसका पुरजोर समर्थन किया है।

जाति एक ऐसा समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है। प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का निश्चित वंशानुगत पेशा होता है तथा जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। प्रत्येक जाति की अपनी –एक विशिष्ट संस्कृति (जीवन शैली) होती है। संक्षेप में, शास्त्रानुसार जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेशतायें निम्नलिखित हैं :–

1. 1 जाति समाज का खण्डात्मक विभाजनयुक्त स्तरीकरण है।
2. 2.जाति की सदस्यता जन्मजात है।
3. प्रत्येक जाति एक अन्तवैवाहिक समूह है।
4. जाति व्यवस्था में उच्चता एवं निम्नता का एक संस्करण पाया जाता।
5. प्रत्येक जाति का एक वंशानुगत पेशा / व्यवसाय होता है।
6. प्रत्येक जाति के सदस्य अन्य जाति के साथ अन्तःर्क्रिया करते खानपान एवं सामाजिक सहवास सर्वश्री परम्परागत नियमों का पालन करते हैं।
7. प्रत्येक जाति की एक जातीय पंचायत होती है, जो इसके सदस्यों से जाति के नियमों का पालन करवाती है।
8. जाति की सदस्यता मृत्यु पर्यन्त तक होती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपने प्रयास द्वारा अथवा उपलब्धि के द्वारा अपनी जाति की सदस्यता बदल नहीं सकता।

इस प्रकार जाति की उपर्युक्त वर्णित विशेषताओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह कह सकते हैं कि जाति व्यवस्था में अन्तर्निहित ऊंच–नीच का संस्तरण तथा दृष्टिकोण उच्च एवं निम्न जातियों के बीच विद्यमान अधिकारों एवं कर्तव्यों का असमान वितरण भारतीय समाज सामाजिक असमानता के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी कारण है। सामाजिक असमानता का घिनौना स्वरूप अस्पृश्यता के रूप में भारतीय समाज में देखने को मिलता है। महज इतना ही नहीं कुछ जातियों को जन्म से इतना अछूत मान लिया गया कि उनकी छाया तक देखना भी अशुभ माना जाने लगा तथा उन्हें उच्च जातियों द्वारा उपभोग किए जाने वाले समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

कार्ल मार्क्स की विचारधारा के अनुसार उत्पादन के समस्त साधनों पर विशेषत: भूमि पर नियन्त्रण उच्च जाति के लोगों के हाथों में रहा तथा निम्न जातियों व अस्पृश्य जातियों के सदस्यों को इससे वंचित किया गया। ये लोग केवल अपना श्रम बेचकर अथवा अन्य पेशों को अपनाकर अपना भरण–पोषण करते रहे हैं। गाँवों में वर्तमान समय में भी सिर पर मैला ढोने की प्रथा विद्यमान है। यद्यपि इसे कानून के द्वारा अवैध घोषित किया गया है। इन निम्न जातियों को समाज में शक्ति सत्ता एवं प्रभुत्व से वंचित कर दिया गया, क्योंकि संस्करण प्रणाली में इनका स्थान सबसे नीचे था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च एवं निम्न जातियों में सांस्कृतिक विभेद पाया जाता है। प्रदत्त गुणों पर आधारित जाति–व्यवस्था प्रणाली में जन्म को महत्व दिया जाता है न कि व्यक्तिगत उपलब्धियों एवं अर्जित गुणों को।

4. वर्ग व्यवस्था –

औद्योगिक समाज में वर्ग व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार है। एक समान सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के समूह को एक वर्ग कहा जाता है। एक वर्ग कतिपय सामान्य विशेषतायें जैसे – समान सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति, समान जीवन के अवसर, समान जीवन शैली एवं एक निश्चित सामाजिक स्तर लिए हुए होता है। कार्ल मार्क्स ने उत्पादन के साधनों के सम्बन्धानुसार वर्ग को परिभाषित किया है। वर्ग का आधार केवल आर्थिक ही नहीं है वरन् सामाजिक सांस्कृतिक भी है।

वर्ग की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं:–

1. वर्ग एक ऐसा समूह है जिसका आधार आर्थिक होता है।
2. वर्ग में उच्चता एवं निम्नता का क्रम पाया जाता है।
3. एक वर्ग के सभी सदस्यों की समान सामाजिक प्रस्थिति होती है।
4. प्रत्येक वर्ग में वर्ग चेतना देखने को मिलती है। यह वर्ग चेतना एक वर्ग के लोगों को अपने अधिकारों के प्रति सचेत एवं सजग रखती है।
5. एक वर्ग मुक्त या खुली व्यवस्था है जिसमें एक व्यक्ति अपनी योग्यता एवं उपलब्धियों के आधार पर अपने वर्ग की सदस्यता त्यागकर अन्य वर्ग में सम्मिलित हो सकता है।
6. वर्ग की सदस्यता पूर्णत: अर्जित होती है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एवं सुविधायें समान रूप से प्राप्त होते हैं। एक वर्ग की एक निश्चित संस्कृति (जीवन जीने का तरीका) होती है।
7. वर्ग गतिशील होते हैं, अर्थात् वर्ग की सदस्यता को बदलना आसान एवं सम्भव है।
8. एक वर्ग में बाह्य एवं अभ्यान्तरिक गुण विद्यमान होते हैं। वर्ग के बाहरी लक्षणों में आवास, शिक्षा आय, खानपान, पहनावा इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं।
9. वर्ग व्यवस्था वाले समाजों में सामाजिक गतिशीलता अधिक देखने को मिलती है।

बोटोमोर का मत है कि वर्ग अपेक्षाकृत उक्त समूह होते हैं, जिनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक होता है, परन्तु वे आर्थिक समूहों से अधिक होते हैं। वर्ग औद्योगिक समाजों के लाक्षणिक समूह हैं। मुख्यत: वर्ग व्यवस्था युक्त समाजों में साधारणतया तीन प्रकार के बर्ग पाये जाते हैं–

1. उच्च वर्ग।
2. मध्यम वर्ग।
3. निम्न वर्ग।

जिनका आधार आर्थिक उपलब्धि, आय एवं सम्पत्ति होता है। वर्तमान औद्योगिक एवं सूचना क्रान्ति के आप्लावित समाजों में विभिन्न कार्यो में असमानता अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। उच्च वर्ग के लोग शक्ति एवं सत्ता से सम्पन्न युक्त होते हैं। इन लोगों का राजनीति में वर्चस्व होता है तथा उत्पादन के साधनों पर अधिकार एवं नियन्त्रण भी होता है। इसके ठीक विपरीत, श्रमिक वर्ग होता है जो अपने श्रम को बेचकर अपने परिवार का भरण–पोषण करता है। इन दोनों वर्गो के बीच एक ऐसा वर्ग भी होता है, जिसे मध्यम वर्ग कहते है, जो कि पूंजीपति एवं श्रमिक, शासक एवं शासित, धनी एवं निर्धन के मध्य स्थापित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ग व्यवस्था में भी गतिशील विषमता पाई जाती है जिसे व्यक्ति अपने प्रयासों से दूर कर सकता है।

7.07 भारतीय समाज में विद्यमान विषमता :

भारतीय समाज अनेक व्यवस्थाओं का एक पुंज है। परम्परागत रूप से भारत एक कृषि प्रधान देश है। जिसमें समाज व्यवस्था के रूप में जाति व्यवस्था पाई जाती है। जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। ग्रामीण समाज में जाति व्यवस्था का जटिल स्वरूप देखने को मिलता है। ग्रामीण समाज में कृषि व्यवस्था के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। मोटे तौर पर इन्हें छह स्तरों में विभाजित किया जा सकता है, ये है –

1. गैर–खेतीहर भूस्वामी।
2. गैर–खेतीहर पट्टेदार।
3. खेतीहर भूस्वामी।
4. खेतीहर रैयत।
5. बटाईदार।
6. भूमिहीन खेतीहर मजदूर।

इन छह स्तरों के मध्य सामाजिक असमानता के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। इन स्तरों में जीवनयापन करने वाले कृषकों के मध्य जीवन अवसर तथा जीवन शैली में पर्याप्त मात्रा में विभेद देखा जा सकता है। सामान्यत: बड़े भू–स्वामी ऊँची जाति के लोग होते हैं तथा भूमिहीन मजदूर निम्न या अस्पृश्य जाति के सदस्य होते हैं। परम्परागत भारतीय समाज में भूमि के नियन्त्रण एवं उपयोग में असमानताओं को व्यावहारिक एवं न्यायसंगत रूप में स्वीकार किया गया है। जाति–व्यवस्था ने असमानताओं को उन मानदण्डों एवं मूल्यों के द्वारा स्थायित्व प्रदान किया है, जो कृषि अधिक्रम के वांछित रहे हैं।

वर्तमान में समय भारत में तीव्र गति से औद्योगिकरण एवं नगरीकरण हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप वर्ण–व्यवस्था के गुण नगरों एवं औद्योगिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इनमें जाति की व्यवसाय के साथ सम्बद्धता के संबंध टूटते जा रहे हैं। इन क्षेत्रों में निर्धनता एवं अमीरी के बीच असमानता के भिन्न–भिन्न स्तर देखने को मिलते हैं। रेल यात्रा के दौरान रेल पटनै के दोनों तरफ दृष्टिपात करने से गन्दी बस्तियों का अभावग्रस्त जीवन अनायास ही देखने को मिल जाता है तथा दूसरी ओर हजारों ऐसे लोग भी हैं जो भव्य भवनों में वातानुकूलित जीवन शैली का उपभोग करे हैं। वास्तविक सत्य तो यह है कि समाज में व्याप्त असमानता के भिन्न–

भिन्न स्तरों को मिटाकर एक करना असम्भव कार्य है। लेकिन समाज के उन स्तरों में जीवनयापन करने वाले लोगों के लिए मूलभूत जीवनयापन करने की सुविधाओं की व्यवस्था की जा सकती है जिनसे ये वंचित हैं।

7.08 समाज में विषमता के निराकरण हेतु सुझाव

भारतीय समाज भिन्न–भिन्न व्यवस्थाओं से मिलकर बना है जिनमें के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। इनके निराकरण हेतु निम्नांकित प्रयास किए जा सकते हैं :–

1. देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जाएं, क्योंकि आर्थिक विकास निर्धनता एवं बेरोजगारी को घटाकर विषमता को कम करता है।,
2. सामाजिक एवं राजनैतिक विषमता को दूर करने के लिए दृढ़ राजनैतिक इच्छा पूर्ति की महती आवश्यकता है, जिससे कि वे कानून बनाये जा सके जिनका क्रियान्वयन व्यावहारिक स्तरपर किया जा सके।
3. समाज में प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास करने के लिए एक सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन चलाने की सख्त आवश्यकता है।
4. पिछड़े वर्ग के लोगों के समुचित विकास के लिए सरलीकृत विकास कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया जाना चाहिए। भारत में पद दलित, जनजातीय समूह एवं अन्य पिछडे के उत्थान हेतु आरक्षण नीति में समय–समय पर सुधार करने की आवश्यकता है, जिससे कि नीति का फायदा इन वर्गो में अति पिछड़े समूहों को मिल सके।
5. राजनैतिक तथा प्रशासनिक कार्यक्रमों को पिछड़े वर्गो के लिए सहज एवं सुलभ बनाना चाहिए।
6. भूमि एवं पूंजी के पुन: वितरण की व्यवस्था में समाज की आवश्यकतानुसार सुधार किए जाने चाहिए।
7. गरीबों के चहुंमुखी विकास के लिए तथा अनिश्चितता एवं भय को हटाने के लिए भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में बीमा योजनाओं का क्रियान्वयन करना चाहिए।
8. समाज में व्याप्त प्रशासनिक एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए नये सिरे से प्रयास करने की महती आवश्यकता है।
9. खुले विश्वविद्यालयों के माध्यम से निर्धन वर्ग एवं जाति के लोगों के लिए सरकार द्वारा प्रवेश शुल्क एवं परीक्षा शुल्क में अनुदान दिया जाना चाहिए।
10. दूरस्थ क्षेत्रों में कार्यरत स्वयंसेवी संगठनों को उपयुक्त आर्थिक मदद देकर सक्षम बनाना चाहिए।
11. समाज में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं कानूनी चेतना लाने के लिए समन्वित प्रयास किया जाना चाहिए।

7.09 सारांश

विषमता एक ऐसा शाश्वत सत्य है जो समस्त जीवों में एवं सभी प्रकार की व्यवस्थाओं, संस्थाओं एवं अभिकरणों में देखने को मिलता है। सृष्टि की रचना के समय से वर्तमान समय तक विषमता के नाना प्रकार के स्वरूप समाज एवं प्राकृतिक वातावरण में देखने को मिलते हैं। समातना एक ऐसा आदर्शात्मक विचार है जिसका व्यावहारिक अस्तित्व देखने को बड़ी मुश्किल से मिलता है। विषमता जाति, प्रजाति, लिंग, धर्म, भाषा, प्रान्त, क्षेत्र, संस्कृति, सामाजिक स्थिति, शिक्षा, पद, व्यवसाय, आय, सम्पत्ति, शक्ति इत्यादि के आधार पर देखी जा सकती है। वर्तमान समय में विषमता को आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया जाता है। विषमता एक ऐसी सामाजिक–आर्थिक समस्या है जिसके निराकरण हेतु समाज एवं राज्य द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं।

7.10 बोध–प्रश्न

1. विषमता की आधारभूत विशेषताएँ कौन–कौन सी हैं?
2. विषमता के आधारभूत तत्वों पर प्रकाश डालिये?
3. टॉम बोटोमार द्वारा प्रस्तुत विषमता के चार स्वरूपों को वर्णन कीजिये?

7.09 संदर्भ ग्रन्थ

1. एच. एस. अस्थाना एवं सूमा चिटनिश : "दी डिस्टर्ब केम्पस" सोसियोलोजी एजुकेशन इन इण्डिया में एम.एस. गोरे द्वारा लिखित पुस्तक में प्रकाशित।
2. राम आहूजा (1997) : सामाजिक समस्याएं, रावत प्रकाशन, जयपुर।
3. बी. वी. शाह सोसियोलोजिकल बुलेटिएन, मार्च, 1968
4. ब्रजमोहन (1978) : इण्डियन सोशल प्रोब्लम्स, नई दिल्ली, मेहता प्रकाशन
5. मिन्टा स्पेन्सर (1982) : प्रिजिनयल साइन्टिफिक एण्ड इन्टेलेक्चुयल स्ट्रडेंन्ट पॉलिटिक्स (एडिटेड) बाई लिपसेट
6. एडवर्ड शिल्स (1981) इंडियन स्ट्रडेन्टस. इन एनकाउन्टर, वाल्यूम–15
7. इलिएट मेरिल (1961) : सोशियल डिसआर्गनाइजेशन न्यूर्याक, हार्पर
8. बी. एल. बिजारनिया (2002)ए. उच्चशिक्षा में विद्यार्थी असन्तोष (अप्रकाशित)

इकाई 8

भ्रूण हत्या

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 भ्रूण हत्या अर्थ एवं अवधारणात्मक विवेचन

8.3 कन्या भ्रूण हत्या एवं लिंग असमानता

8.4 कन्या भ्रूण हत्या के कारण एवं समाज पर प्रभाव

8.5 भ्रूण हत्या रोकने के लिए उपाय

8.6 सारांश

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.8 शब्दावली

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- भारत में महिलाओं के प्रति लिंग असमानता के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- भारत में भ्रूण हत्या की समस्या उत्पन्न होने के मूल कारण समझ सकेंगे।
- भ्रूण हत्या का सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव तथा समाज में इसे रोकने व महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने के किये गये प्रयासों के बारे में जान सकेंगे।
- भ्रूण हत्या की समस्या को जानने के लिए जनांकिकीय राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं प्रौद्योगिक कारणों की व्याख्या कर सकेंगे।
- भ्रूण हत्या की परम्परागत समस्या के साथ ही भारतीय समाज में महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार, हिंसा, लिंग विभेद, एवं शारीरिक मानसिक शोषण आदि की कारणात्मक व्याख्या कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

अपराध एक सामाजिक बुराई है। मानव समाज में अतीत काल से ही अपराध की प्रवृत्ति पाई जाती रही है। जब मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति कम थी तब सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध कम होते थें। मनुष्य जब स्वार्थ और भौतिकवाद की और प्रवृत्त हुआ तब से सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधों में वृद्धि हुई। अति भौतिकवाद से प्रभावित होकर मानव विलासिता की ओर अग्रसर हुआ और उसने अनैतिक अपराध भी करने प्रारंभ कर दिये। यह क्रम निरंतर चलता रहा और आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि व्यक्ति अपनी स्वयं की अजन्मी संतान को नृशंस

तरीके से गर्भ में ही समाप्त करवा देता है। इसमें भी लिंग विभेद के आधार पर अपने स्वार्थ के कारण कन्या भ्रूण की हत्या का मुख्य कारण मनुष्य का नैतिक एवं चारित्रिक पतन है। मानव मूल्यों में गिरावट ने इस प्रवृति की दर को और तेज कर दिया है। भ्रूण हत्या की इस प्रवृति ने हमारी सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में गंभीर विसंगतियाँ पैदा की है। वहीं महिलाओं की घटती संख्या ने भी लिंगानुपात में भारी अंतर उत्पन्न किया है।

8.3 भ्रूण हत्या अर्थ एवं अवधारणात्मक विवेचन

पाषाण युग से परमाणु युग की यात्रा तक विकसित मानव समाज ने अनेक नवीन परिवेश बदले है। इसमें समाज की संरचना, संगठन और व्यवस्था में लिंग की समानता और असमानता का विशेष महत्व रहा है। मानव समाज के निर्माण से ही नारी सृष्टि का केन्द्र और पुरूष की मूल प्रेरणा रही है। नारी के बिना नर की कल्पना विधाता को मान्य नहीं है। नारी जन्म देने वाली है, इसलिए उसका स्थान सभी धर्मग्रन्थो में पुरुष से श्रेष्ठ बताया गया है।

भ्रूण का लिंग परीक्षण– एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

गर्भजल परीक्षण या एमिनोसिन्टेसिस का प्रारंभ अनुवांशिक विकशितयों, वंशानुगत रोगों तथा गुणसूत्रों में दोषों का पता लगाने के उद्देश्य से किया गया था। यह एक वैज्ञानिक उपलब्धि थी क्योंकि इन परीक्षणों से 72 असाध्य एवं वंशानुगत रोगों की पुष्टि की जा सकती थी। जिसमें गर्भस्थ शिशु में कोई रोग या दोष होने पर उसका तभी से उपचार प्रारंभ करना संभव हो जाता था। निश्चित ही विज्ञान की पद्धति का यह एक वरदान व सराहनीय प्रयास था। इस परीक्षण से शिशु के लिंग की जानकारी भी मिल जाने के कारण यह शीघ्र ही वरदान से अभिशाप में परिवर्तित हो गया।

प्रारंभ में तो यह परीक्षण गर्भस्थ शिशु के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने की उत्सुकता को रोक नही पाने के कारण कराया जाता रहा। बाद में उत्सुकता व ममता का स्थान बेटी को बेटे से हीन मानने हाली दुर्भावना ने ले लिया और ये परीक्षण ऐसी कुटिल, स्वार्थी व द्वेषपूर्ण भावना से करायें जाने लगे कि गर्भ में कहीं लड़के की बजाय लड़की तो नहीं है। बेटी को बेटे से अधिक कमतर व भार के रूप में आँकने वालों ने भ्रूण परीक्षणों को भ्रूण हत्या के व्यवसाय में बदल दिया। देखते ही देखते प्राय: सभी शहरों में ऐसे क्लीनिकों की बाढ़ आ गई। जहाँ गर्भ परीक्षण और गर्भपात द्वारा भ्रूण नष्ट करने की सुविधा प्राप्त होने लगी। कुछ लोभी व्यक्तियों ने तो गर्भस्थ लड़की सन्तान की हत्या को उकसाने वाले ऐसे नारे "दहेज का सस्ता विकल्प– गर्भपात" तक फैलाने में भी संकोच नहीं किया। परिणामस्वरूप लिंग परीक्षण के बाद होने वाले गर्भपातों में 97 प्रतिशत अर्थात प्राय: सभी गर्भस्थ लड़की की हत्या हुई। गर्भस्थ लड़के की हत्या कराने से प्राय: सभी माँ–बाप कतराते है, भले ही उनके पहले से ही कई पुत्र क्यों न हो! एक अध्ययन के अनुसार बीते पाँच सालों में मादा भ्रूण को खत्म करने की संख्या करीब 200 प्रतिशत बढी है। इस अमानुषिक प्रवृति ने स्त्री–पुरूष जनसंख्या के बीच गहरा असंतुलन पैदा कर दिया है। इसे निम्न तालिका से भी समझा जा सकता है–

तालिका– 1

भारतीय जनसंख्या में लिंग अनुपात	
वर्ष	अनुपात (स्त्री–पुरुष)
1971	930
1981	934
1991	927
2001	933
2011	940

भारतीय जनसंख्या में विभिन्न जनगणना आँकड़ों में स्त्री–पुरूष अनुपात में स्त्रियों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है। स्त्री–पुरूष का न्यून अनुपात जनांकिकी में विषमता उत्पन्न कर रहा है।

8.4 कन्या भ्रूण हत्या एवं लिंग असमानता

समाज की संरचना, संगठन और व्यवस्था में लिंग की समानता और असमानता का विशेष महत्व है। लिंग की असमानता पर समाज के संरचनात्मक, संस्थागत और संगठनात्मक ढाँचे का प्रभाव पड़ता है। लिंग की असमानता भी समाज के संतुलन, व्यवस्था और विकास को प्रभावित करती है । लिंग की असमानता का अध्ययन आज समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। लिंग की असमानता के कारण स्त्री और पुरुष में से किसका शोषण हो रहा है? असमानता के कारण शोषण का वर्ग स्त्री या पुरूष में से कौनसा है। लिंग के अनुसार समाज की धारणाएँ क्या है? भेदभाव के क्षेत्र कौन–कौन से हैं? लिंग की असमानता को दूर करने के लिए क्या प्रयास और प्रावधान किये गये है? संवैधानिक प्रावधानों और उनके व्यवहार में कितना अंतर है?

सामाजिक विज्ञानों में विशेष रूप से समाजशास्त्र में स्त्री–पुरूषों का अध्ययन लिंग भेद के आधार पर किया जाता है?, जिसका तात्पर्य है कि उन्हें सामाजिक अर्थ प्रदान किया जाता है। "स्त्री" और "पुरूष" का अध्ययन सामाजिक सम्बन्धों को गहराई से समझने के लिए किया जाता है। योनि भेद जैविक–सामाजिक है और लिंग भेद सामाजिक–सांस्कृतिक (Socio Cultural) है। लिंग भेद में स्त्री–पुरूष का अध्ययन, पति–पत्नी, माता–पिता, भाई–बहिन, पुत्र–पुत्री, के रूप में अर्थात् सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया जाता है। उनकी समाज में स्थिति और भूमिकाएँ क्या है? उनके कर्तव्य और अधिकार क्या हैं? का अध्ययन किया जाता है। लिंग भेद की अवधारणा का उद्देश्य "स्त्री" और "पुरूष" के बीच सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि विभिन्नताओं, समानताओं और असमानताओं का वर्णन और व्याख्या करना है।

लिंग असमानताएँ – समाजशास्त्र में लिंग भेद शब्द का प्रयोग अन्न ओकले ने 1972 में अपनी कृत्ति "सेक्स, जेण्डर एण्ड सोसायटी" में किया था। लिंग भेद से ओकले का तात्पर्य स्त्रीत्व और पुरूषत्व के रुप में समानान्तर एवं सामाजिक रूप से असमान विभाजन से है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि लिंग असमानता एक समाजशास्त्रीय महत्वपूर्ण अवधारणा है जिसका प्रयोग स्त्री–पुरूषों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक तथा अन्य ऐसी ही विशेषताओं और लक्षणों के आधार पर भिन्नताओं के क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन विश्लेषण और व्याख्या करने के लिए किया जाता है। लिंग भेद या स्त्री पुरूषों में असमानताएँ इसी समाज में

प्रस्थिति और भूमिकाओं के आधार पर देखी जा सकती है। इतना ही नहीं प्रस्थिति के महत्वपूर्ण सूचकों–काम में सहभागिता, समाजीकरण, स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त करने की क्षमता, साक्षरता दर, सम्पत्ति में हिस्सेदारी आदि के आधार पर पाया गया है कि स्त्रियों की प्रस्थिति सभी क्षेत्रों में खराब हैं भारतीय समाज पुरूष प्रधान है तथा पुरुषों की प्रस्थिति सभी क्षेत्रों में अच्छी है।

भारत में लिंग असमानताएँ

समकालीन भारत में विकास योजनाओं के द्वारा अनेक सामाजिक परिवर्तन हो रहे है।संविधान के द्वारा अनेक क्षेत्रों में सभी वर्गो को समानताओं के अधिकार दिये गये है। चुनाव प्रक्रियाओं ने मतदान के अधिकार के माध्यम से स्त्री–पुरूषों में जन–चेतना का विकास किया है। कृषि का आधुनिकीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण, आर्थिक विकास, शिक्षा के प्रचार और प्रसार के व्यापक परिवर्तनों की प्रक्रियाओं को गति प्रदान की है। परन्तु इनसे अनेक असमानताएँ, क्षेत्रीय असंतुलन, वर्ग संघर्ष तथा लिंग असमानताएँ भी बढी है। इन सभी परिवर्तनों ने भारतीय समाज में लिंग असमानता के कारण नारी की प्रस्थिति को दयनीय बनाया है। समाज में सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त नहीं होते है। अधिकारों की भिन्नता का प्रमुख कारण लिंग असमानता भी है। समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, प्रथाओं, रूढियों एवं जनरीतियों के कारण स्त्रियों के विरूद्ध अनेक भेदभाव किये जाते है। गर्भ में भ्रूण परीक्षण से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक महिलाओं के प्रति भेदभाव और असमानताओं की क्रूर श्रृंखला देखी जा सकती है। निम्नलिखित कुछ लिंग असमानताओं के सूचक एवं क्षेत्र है जो समकालीन भारत में नारी असमानता एवं भ्रूण हत्या के लिए जिम्मेदार है।

(1) लिंग की सामाजिक, सांस्कृतिक असमानताएँ

समाज की संरचना पुरुष और स्त्रियों से मिलकर बनती हे। ये परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया करके सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते है। समाज की परम्परा के अनुसार प्रत्येक स्त्री–पुरूष की निश्चित प्रस्थिति और भूमिकाएँ होती है। ये प्रस्थिति और भूमिकाएँ समाज की परम्परा के अनुसार लिंग–भेद पर आधारित होती है तथा असमान होती है।

(2) स्थान, सत्ता, वंश तथा लिंग असमानता

स्थान असमानता से तात्पर्य है कि विवाह के बाद वर या वधू में से कौन अपना जन्म आवास त्याग कर जीवन साथी के आवास में जाकर रहता हैं। भारत में परम्परानुसार वधु अपने माता–पिता का घर छोड़कर वर के घर में रहती है। सत्ता का पिता से पुत्र तथा वंश परम्परा पिता से पुत्र की दिशा में हस्तान्तरित होती है। भारत के अधिकांश परिवार पुरूष प्रधान है। सभी प्रकार के निर्णय पुरूष लेते है। सास, बहु, पत्नी, बहिन और बेटी की परिवार में निम्न प्रस्थिति होती है।

(3) गृहस्थी के कार्य और लिंग असमानताएँ

भारतीय समाज की यह परम्परागत धारणाएँ है कि कुटुम्ब के सभी कार्यो को सम्पन्न करने का दायित्व गृहणियों का है। परिवार के सभी कष्टप्रद कार्य स्त्रियों द्वारा किये जाते है। घर की व्यवस्था के लिए किये गये कार्यो को जिनमें उसे श्रम व समय दोनों लगाना पड़ता है। उस कार्य का रोजगार में गणना नहीं की जाती है जिससे उसका मूल्य भी नहीं मिलता और महत्व भी नहीं दिया जाता।

(4) पारिवारिक अपेक्षाएँ एवं लिंग असमानता

कन्या, लड़की और स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वे देर रात तक घर के बाहर नहीं रहे। अकेली, एकान्त तथा सुनसान स्थान में नहीं जाये। आयु में छोटी या बड़ी होने पर भी उसे पुरूष की सुख सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। महिलाओं के विरूद्ध हिंसा और बलात्कार जैसी घटनाएँ होने पर भी महिलाओं को ही दोषी ठहराया जाता है।

(5) दहेज एवं लिंग असमानता

भारत की अधिकांश जातियों और वर्गो में विवाह के समय वर पक्ष वाले कन्या पक्ष से दहेज की मांग करते है। उच्च शिक्षित दर हेतु उतना ही अधिक दहेज देना पड़ता है। दहेज के दम पर अच्छा वर उपलब्ध नहीं होने पर लड़की का बेमेल विवाह कर दिया जाता है। लालची वर पक्ष वाले अच्छा खासा दहेज लेने के बाद भी वधु हत्या में कोई संकोच नहीं करते है। दहेज निरोधक कानून तथा विधवा, पुर्नविवाह के कानूनी प्रावधानों के उपरान्त भी नारी की स्थिति दयनीय बनी हुई है। लिंग असमानता के घटने के स्थान पर वृद्धि ही होती जा रही है। दहेज के कारण अनेक माता–पिता अपनी पुत्रियों का विवाह बाल्यकाल में ही कर देते है। जिससे आगे चलकर उसे अनेक शारीरिक, मानसिक व सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(6) समाजीकरण और लिंग असमानता

सभी समाजों में समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा उन भूमिकाओं एवं कर्त्तव्यों को सिखाया जाता है, जिसकी व्यस्क होने पर संबंधित समाज उससे आशा और अपेक्षा करता है। व्यक्ति की अपेक्षित भूमिकाएँ और कर्त्तव्य लिंग, जाति, वर्ग, परिवार, आदि के अनुसार भिन्न–भिन्न होते है। परिवार और समय लिंग भेद एवं इससे संबंधित अनेक विशेषताओं के कारण पुत्र जन्म का स्वागत करता है, और कन्या जन्म को अभिशाप मानता है। अनेक समाजों में प्रचलित भ्रूण हत्या इसी का परिणाम है। ये यौन भेद पर आधारित लिंग असमानता का कारण लिंग से सम्बन्धित सामाजिक–सांस्कृतिक परम्पराओं, मूल्यों, धारणाओं आदि में सब पुरूष प्रधान एवं कन्या विरोधी मूल्य एवं धारणाएँ एक पीढी से दूसरी पीढी को समाजीकरण के द्वारा हस्तान्तरित एवं प्रसारित होते रहते है।

समाजीकरण की प्रक्रिया लगभग सभी समाजों में स्त्रियों और पुरूषों के मध्य अन्तर विकसित करती है। जिसे पुरूषोचित और स्त्रियोचित भूमिकाओं के रूप में देखा जा सकता है। समाजीकरण के द्वारा स्त्रियों में आज्ञाकारिता, विनम्रता, पराश्रितता, दुर्बलता, और शील संकोच जैसे लक्षणों को सशक्त बना दिया जाता है। इसके विपरीत पुरुषों में बहादुरी, साहस, निर्भयता, स्वावलम्बन, शक्तिशाली, कठोरता और आदेश देने वाला बना दिया जाता है। समाजीकरण के द्वारा ही स्त्री–पुरूष को श्रम विभाजन सम्बन्धी जानकारी भी दी जाती है।

(7) शिक्षा और लिंग असमानता

परम्परागत भारतीय समाज के मूल्यों को आज भी अधिक महत्व दिये जाने के कारण विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कों की शिक्षा पर अधिक खर्च किया जाता है और लड़की पर कम। यही कारण है कि उच्च शिक्षा में तो लड़कियों की कमी रही है। वहीं साक्षरता के आँकडों को देखने से पता चलता है कि अभी महिला साक्षरता व पुरुष साक्षरता में भारी अन्तर है।

भारत में पुरूष एवं महिला साक्षरता की स्थिति 2001 की जनगणना के अनुसार निम्न प्रकार से रही–

वर्ष 2001 पुरुष – 75.85, महिला – 54.16

पुरूषों की साक्षरता दर में उत्साहजनक वृद्धि हुई है, वहीं महिला साक्षरता में अपेक्षित वृद्धि नही हुई है। इससे भी लिंग असमानता के भेद का पता चलता है। राजस्थान राज्य के संदर्भ में विवेचना करे तो ज्ञात होता है कि पुरूष साक्षरता दर 76.46 है, वही महिला साक्षरता आज भी समस्त प्रयासों के बावजूद 44.34 प्रतिशत ही हो पाई है। इसमें भी पश्चिमी राजस्थान व डूंगरपुर, उदयपुर व बाँरा के आदिवासी क्षेत्रों में तो महिला साक्षरता की स्थिति अत्यन्त कम पाई गई है।

(8) संचार माध्यम और लिंग असमानता

वर्तमान में समाजीकरण के प्रभावशाली और महत्वपूर्ण साधन आधुनिक संचार माध्यम जैसे–दूरदर्शन, आकाशवाणी चलचित्र, वीडियोफिल्म, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, इन्टरनेट आदि ने समाज में महिलाओं के प्रति

चेतना जागरण का कार्य किया है। वहीं इनमें दिखाये जाने वाले पूर्वाग्रहित कार्यक्रमों ने लिंग असमानता को भी बढ़ाया है। विज्ञापनों के बढते प्रभाव ने नारी के समान को घटाया है।

(9) आर्थिक क्षेत्र में लिंग असमानता

भारत की श्रम शक्ति में महिलाओं का प्रमुख हिस्सा है। परन्तु रोजगार के स्तर और गुणवत्ता के दृष्टिकोण से ये पुरूषों से बहुत पीछे है। वर्तमान में देश में महिला श्रमिकों की संख्या 22.73 प्रतिशत है। इनमें से भी अधिकांश महिलाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में है। ग्रामीण क्षेत्रों की महिला श्रमिकों में 87 प्रतिशत खेतीहर मजदूर है। शहरी क्षेत्रों में 80 प्रतिशत श्रमिक महिलाएँ, घरेलू उद्योगों, छोटे–मोटे व्यवसायों और नोकरी तथा महन निर्माण जैसे असंगठित क्षेत्रों में कार्य कर रही है। इनके काम करने वाले स्थानों पर इन्हें पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा प्राप्त नहीं हो पाती है। वही महिलाएँ, पुरूषों की तुलना में अपनी योग्यताओं, विशेषताओं को अपेक्षित स्तर तक नहीं बढ़ा पाती है। इनके पास व्यवसायिक विकल्प भी सीमित होते है। स्त्रियों में व्यवसायिक गतिशीलता सीमित होती है। इसके विभेद के कारण भी महिलाओं की प्रस्थिति निम्नतर आँकी जाती है।

(10) महिला और राष्ट्रीय उत्पादन नीति

अर्थशास्त्री वर्ष के कुल उत्पादन की गणना में गृहणी की सेवा की उपेक्षा कर देते है। गृहिणी अनेक घरेलू कार्य करती है जैसे बच्चों को पालना, खाना बनाना, घर की देखभाल करना, गृहस्थी का संचालन आदि इसके साथ ही उसे परिवार के परम्परागत व्यवसाय में भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भागीदारी निभानी होती है। कृषक परिवारों में तो महिलाएँ पुरुष के साथ खेती का कार्य भी करती है लेकिन अर्थशास्त्री इन गृहणियों को आश्रितों के रूप में मानते है। गृहणियों की सेवाओं की उपेक्षा करना पुरुष प्रधान समाज के पूर्वाग्रह एवं नारी के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त प्रमाण है।

8.5 कन्या भ्रूण हत्या के कारण एवं समाज पर प्रभाव

जैविक दृष्टि से प्रकृत्ति ने स्त्री एवं पुरुष को भिन्न संरचनाएँ प्रदान की है, एक दूसरे की परिपूरकता के लिये विरसन भेदमाव, आधिपत्य या शोषण के लिए नहीं। आदिम समाजों की जीवन शैली इस बात का प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक काल में स्त्री–पुरूष समानता विद्यमान थी। संगठित समाज की संरचना, उत्पादन के साधनों में बदलाव, परिवार संस्था के अभ्युदय एवं स्वामित्व तथा सम्पत्ति के उदय के साथ सामाजिक संरचनाओं में आये परिवर्तनों ने स्त्री–पुरूष असमानता, भेदभाव एवं स्त्री की अधीनता तथा अशक्त करण की प्रक्रिया का सूत्रपात किया। यह प्रक्रिया आश्चर्यजनक रूप से विश्व की सभी सभ्यताओं एवं सभी काल खण्डों में कमोवेश पनपती रही। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक–नैतिक–मूल्य, मानकों, अर्थतंत्र, राजनैतिक संस्थाओं सहित अनेक कारको का योगदान रहा। स्त्री द्वारा अधीनता की मनोवैज्ञानिक स्वीकृति भी एक महत्वपूर्ण कारण रहा। विभिन्न सदियों में भौतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, औद्योगिकराजनैतिक, क्रान्तियाँ हुई, किन्तु स्त्री प्रस्थिति के सन्दर्भो में सतही परिवर्तन ही हुए। महिला सशक्तीकरण के लिए संघर्ष जारी है, किन्तु अशक्तिकरण की प्रक्रिया भी समानान्तर स्तर पर नित नये प्रसंगों में जारी है, जिसमें कन्या भ्रूण हत्या महिला के अस्तित्व को सबसे बड़ी चुनौती के रूप में सामने आई है।

आदिकाल से नारी सृष्टि का केन्द्र बिन्दु और पुरूष की मूल प्रेरणा रही है। नारी के बिना नर की कल्पना सृष्टि में स्वीकार्य नहीं है। इस विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति की पावन परम्परा में नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त हुआ है। मानव जाति के विकास में नारी का स्थान पुरूष से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। नारी के मन में प्रेम, दया, ममता, त्याग और श्रद्धा जैसे मानवीय गुण नैसर्गिक रूप से पाये जाते है। भारतीय संस्कृति में नारी को सभी रूपों में वन्दनीय माना गया है एवं सभी पर्वों, त्यौहारों व सांस्कारिक अवसरों पर उसकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। यह भी ऐतिहासिक रूप से सत्य है कि किसी भी देश में सामाजिक अवस्था की उन्नति व अवनति वहाँ

की नारियों पर अवलंबित है, जिस देश में नारी की स्थिति जितनी श्रेष्ठ है, वही देश संसार में सर्वाधिक उन्नत माना जाता है। इतना सब कुछ होने पर भी नारी के जीवन का अस्तित्व खतरे में है।

भ्रूण हत्या का उद्भव

ऐतिहासिक रूप से नारी के समान की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भारतीय समाज में नारी का स्वरूप समादरणीय रहा है। यहीं पहले नारी को लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती का रूप मानकर पूजा की जाती रही है। नक्षत्रों में कन्याओं का विशेष पूजन, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। वैदिक काल में नर–नारी के सम्मान, अधिकार एवं समान आदर्श थे। उत्तरवैदिक काल में नारी की सामाजिक स्थिति निरन्तर गिरती रही। नारी पूर्णत: पुरुष के अधीन हो गई और धन, भूमि आदि की भाँति व्यक्ति की सम्पदा मान ली गई। महाभारत काल में युधिष्ठर ने समस्त राजपाट के साथ द्रोपदी को भी जुऐं में लगा दिया था। उस समय नारी क्रीतदासी और केवल भोग–विलास की पूर्ति का साधन समझी जाने लगी।

उत्तरवैदिक काल के बाद वर्णाश्रम व्यवस्था छिन्न–भिन्न होने लगी। समय की गति के साथ समाज में अनेक कठोर नियम लाग किये गये। भारत में विदेशियों के आक्रमण के दौरान नारियों की स्थिति में बहुत गिरावट आई। मुगलकाल में नारी केवल भोग्या बना दी गई और रूपसी नारी हथियाने के लिए युद्ध लडे जाने लगे। इस प्रकार मध्यकाल में नारी अत्याचारों के कारण बेटियों को बोझ समझा जाने लगा। मध्यकाल में ही मुगल राजपूत संघर्ष के कारण पर्दा प्रथा व जौहर प्रथा का भी प्रचलन प्रारम्भ हुआ। पर्दा प्रथा व जौहर प्रथा जैसी प्रवृत्ति ने आगे चलकर कन्या को गर्भ में ही मारने पर मजबूर कर दिया। राजस्थान की अनेक जातियों में तो कन्या को जन्म लेने के पश्चात ही गला दबाकर या अन्य किसी तरह से मार दिया जाने लगा। जब से विज्ञान की तकनीक से सोनोगाफी व अन्य परीक्षणों से लिंग परीक्षण द्वारा लिंग का पता चलने लगा है, तब से ही उसे 4 माह के भ्रूण को गर्भ में ही समाप्त किया जाने लगा। इसमें अनेक निजी क्लिनिकों ने व्यवसाय के रूप में अपना लिया। माँ–बाप अनेकानेक कारणों से बच्चों के प्रति मोह रखते हुए कन्याओं को बोझ मानने लगे। फलस्वरूप सांस्कारिक, शिक्षित भारतीय समाज में भी कन्या भ्रूण हत्या जैसी अमानवीय घटनाएँ प्रतिदिन देखने को मिली।

भ्रूण हत्या को बढ़ावा देने वाले कारक

भारतीय संस्कृति जीव मात्र की हिंसा को निषेध मानती रही है। "सर्व धर्म समभाव" व अनुकूलनशील प्रवृत्ति होने के बावजूद कन्या भ्रूण हत्या जैसी घटनाऐं आम घटनाऐं बन गई। हमारे देश में ऐसे अनेक कारण है जो कन्या भ्रूण हत्या को बढ़ावा देते है–

(1) पुरूष प्रधान व पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता

भारतीय समाज में अधिकांश जातियो में परिवार के आर्थिक कार्यो में पुरूषों का वर्चस्व रहने के कारण निर्णय लेने की क्षमता भी उन्हीं के पास रहती है जिससे पिता से पुत्र को सत्ता प्राप्त होने से बेटी को पराया धन समझा जाने लगा। उच्च शिक्षित महिला भी अपनी बेटी के साथ लिंग समानता का व्यवहार नहीं कर पाती। यह विभेदीकरण ही आगे चलकर भ्रूण हत्या जैसे जघन्य अपराध को जन्म देता है।

(2) रूढिवादिता एवं अन्धविश्वासी परम्पराएँ

वैश्वीकरण एवं भूमंडलीकरण के दौर में भी भारतीय ग्रामीण समाज में आज भी अनेक जातियों में आदिम परम्पराएँ प्रचलन में है जिनमें महिला को दोयम दर्जे का समझा जाता रहा है। ग्रामीण समाज में अनेक जातियों में कन्या का जन्म अशुभ माना जाता है तथा उसे जन्म देने वाली माँ को अभागिन कहा जाता है। लडका होने पर खुशी मनाई जाती है, वही लड़की को हीन दृष्टि से देखा जाता है। पिछडी जातियों में लडकियों के लिए शिक्षा की भी व्यवस्था नहीं की जाती, जिससे धीरे–धीरे इन समाजों में लड़कियों की भारी कमी होने लगी है।

(3) महिला शिक्षा की उपेक्षापूर्ण नीति

परम्परागत भारतीय समाज में स्वतंत्रता से पूर्व महिलाओं पर अनेक प्रतिबंध लगाये गये। यद्यपि संविधान द्वारा सभी वर्गो को समानता का दर्जा दे दिया गया है। वस्तुत: बालिकाओं को आज भी सामाजिक सुरक्षा के भय से में नहीं भेजा जाता है। उनसे केवल घर का कार्य करवाया जाता है। शिक्षित महिला व नौकरीपेशा महिलाओं को अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। महिला शिक्षा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं होने से रोजगार के क्षेत्र में भी पिछड़ जाती है।

(4) दहेज का बढ़ता प्रचलन

महाकवि कालिदास ने कन्या के लिए कहा है– "अर्थो हि कन्या परकीय एवं" अर्थात कन्या पराया धन है। कन्या पिता के पास सुरक्षित एक मूल्यवान धरोहर है जिसका उसे सावधानी से पालन–पोषण करना है। इस भावना ने कन्या के व्यक्तित्व पर निर्गम प्रहार भी किया है। उसे एक दान की वस्तु बनाकर उसमें अवांछित दीनता और पिता के घर पर भार होने की भावना भर दी है। उच्च शिक्षा के बढते –महत्व के बावजूद वर्तमान में दहेज एक सामाजिक रूप से स्वीकृत मान्यता बन चुका है। हर पिता अपनी पुत्री को अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज देता है जिससे वह परम्परा समाप्त नहीं हो सकती। अनेक गरीब माता–पिता दहेज के डर से लिंग परीक्षण करवा कर कन्या भ्रूण हत्या कर देते है।

(5) महिलाओं के प्रति बढ़ते अत्याचार व हिंसा

आज की वर्तमान स्थिति में समाज में नारी के घटते सम्मान ने उसे असुरक्षित बना दिया है। संचार साधनों की गतिशीलता ने महिलाओं के प्रति अत्याचार व हिंसा को बढावा दिया। दैनिक जीवन में बढते तनाव ने भी महिला हिंसा को बढावा दिया है। आज दैनिक जीवन में महिलाओं के प्रति बदलते व्यवहार ने नारी को अनेक क्षेत्रों में प्रवेश से सीमित कर दिया है। अनेक परिवारों में तो नारी के प्रति बढते आत्याचार या घटनाओं से क्षुब्ध होकर भविष्य में कन्या को जन्म ही न देने की ठान ली है।

(6) भ्रूण हत्या बढ़ती दर के लिए तकनीकी भी जिम्मेदार

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने त्वरित विकास से हर समस्या का समाधान खोजा है। वहीं विज्ञान ने मानव के सामने नवीन समस्याएँ भी उत्पन्न की है। आज गर्भ में लिंग परीक्षण के लिए भारत में व विदेशों में अनेक तकनीक आ चुकी है। इन मशीनों के द्वारा गर्भ में पल रहे शिशु के लिंग का आसानी से पता चल जाता है। अनेक क्लीनिक कम खर्च में यह दुष्कृत्य कर रहे है। अब इन्टरनेट के माध्यम से गर्भ में पल रहे शिशु के लिंग का पता चलाने के लिए आई.एफ.टी. तकनीक काम में ली जा रही है। देश के विकसित राज्य पंजाब व हरियाणा में लिंगानुपात में स्त्रियों की भारी कमी होने के बावजूद वही सबसे अधिक भ्रूण हत्या के मामले सामने आ रहे है। बढती जनसंख्या पर रोक लगाने के उद्देश्य से गर्भपात को कानूनी मान्यता दी गई है। इसकी आड़ में अवैध गर्भपात कर कन्याओं को समाप्त करवाया जा रहा है।

8.6 भ्रूण हत्या रोकने के लिए उपाय

कन्या भ्रूण हत्या रोकने के लिए सरकारी स्तर और स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा व्यापक प्रयास किये गये है। जनगणना के आकड़ों के आधार पर लिंगानुपात में भारी अन्तर को यद्यपि सभी जातियों में अब देखा व समझा जाने लगा है। नारी सशक्तीकरण की दिशा में सरकार ने अनेक कदम उठाये है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सरकार ने विभिन्न योजनाओं, कार्यक्रमों, संवैधानिक व कानूनी अधिनियमों को लागू किया। नारी वर्ग के उत्थान के लिए विभिन्न सुरक्षात्मक उपयोगी एवं कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित कर नारी वर्ग में शैक्षणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक, आर्थिक वातावरण को सुदृढ़ किया गया है। यहाँ पर भारतीय संविधान में महिलाओं के लिये विशेष प्रावधान किये गये है।

अनुच्छेद 15 में लिंग, जाति, धर्म व जन्म स्थान आदि किसी भी आधार पर किसी से भी भेदभाव नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद 15(3) में नारियों को विशेष सुविधा व सुरक्षा प्रदान की गई है। अनुच्छेद 16 के आधार पर लोक नियोजन या सेवाओं में स्त्री पुरूषों को बिना भेद किये समानता प्रदान की गई है। अनु.21 में वैवाहिक स्वतंत्रता व संरक्षण का प्रावधान किया गया है। अनु.40 में पंचायती राज संस्थाओं में 73वें व 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से आरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनु. 41 में नारी को काम का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, बेरोजगारी, वृद्धावस्था में सुरक्षा की गई है। अनु.21 में वैवाहिक स्वतंत्रता व संरक्षण का प्रावधान किया गया है। अनु.40 में पंचायती राज संस्थाओं में 73वें व 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से आरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनु. 41 मे नारी को काम का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, बेरोजगारी, वृद्धावस्था में सुरक्षा प्राप्त करने का प्रावधान किया गया है। अनु. 42 में महिलाओं के लिए प्रसूति सहायता की व्यवस्था की गई है। अनु.47 व अनु.370 में प्रस्तावित 84वें संविधान संशोधन के जरिये लोकसभा में महिलाओं के आरक्षण की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं विभिन्न अधिकार संविधान द्वारा दिये गये है। इन सभी की सुरक्षा हेतु हमारी सरकार ने निम्न अधिनियम बनाये है-

- विशेष विवाह अधिनियम–1954 : इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न धर्मो एवं जातियों के लोगों को परस्पर विवाह करने की स्वीकृति प्रदान की गई है।
- हिन्दू विवाह अधिनियम–1955 : इसमें विवाह की आयु विच्छेद सम्बन्धी कानून बनाये गये है। वैश्यावृति निवारण अधिनियम 1956 : यह अधिनियम वैश्यावृति से मुक्त कराने एवं नारी की शारीरिक सुरक्षा हेतु बनाया गया हे।
- दहेज निषेध अधिनियम, 1961– यह अधिनियम दहेज की मांग करने दहेज लेने व दहेज देने को रोकने के लिए यह अधिनियम बनाया गया है।
- प्रसूति सुविधा अधिनियम–1961
- बाल विवाह अधिनियम, 1976– इसमें कम उम्र की बालिकाओं व बालकों के विवाह पर रोक लगाना प्रमुख है।
- समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976
- स्त्री अशिष्ट निरूपण निषेध अधिनियम, 1986
- सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1987
- राष्ट्रीय महिला आयोग गठन–1992– इसमें नारी स्वतंत्रता समानता व न्याय दिलाना एवं नारी शोषण, उत्पीडन रोकना है।

महिलाओं के प्रति किये गये अपराधों को रोकने हेतु भारतीय दण्ड संहित में विशेष प्रावधान किये गये। नारी का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक शोषण रोकने हेतु एवं समाज में महिलाओं की छवि को सुधारने हेतु पुरूषों के कुकर्मो को रोकने हेतु भारतीय दण्ड संहित की विशेष धारायें भी लागू की गई है।

कन्या भ्रूण हत्या (धारा 312 से 318)

यह एक गैर जमानती अपराध है जिसमें माता–पिता डॉक्टर व इससे जुड़े अन्य व्यक्तियों को सजा का प्रावधान है। भारतीय दण्ड संहित की धारा 312 से 316 तक भ्रूण हत्या को रोकने के लिए कई दाण्डिक प्रावधान

किये गये है। धारा 312 में यह व्यवस्था है कि कोई व्यक्ति किसी स्त्री को जानबूझकर गर्भपात करवाता है तो ऐसे व्यक्ति को तीन वर्ष के कारावास व जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है।

धारा 313 में स्त्री की सहमति के बिना गर्भपात कराने पर दस वर्ष की सजा व जुर्माने से दण्ड का प्रावधान है। धारा 315 में शिशु को जीवित पैदा होने से रोकने या जन्म के पश्चात् उसकी मृत्यु करना भी दस वर्ष तक के कारावास व जुर्माने से दण्डनीय अपराध है।

इस प्रकार भ्रूण हत्या रोकने के लिए सरकार ने कानूनी प्रावधान किये है। वहीं स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा भी व्यापक प्रचार–प्रसार किया जा रहा है। धर्म गुस्सा द्वारा भी भ्रूण हत्या को धर्म विरूद्ध घोषित किया गया है।

8.7 सारांश

1. भारतीय समाज में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक नारी शक्ति ने अद्भुत नेतृत्व क्षमता का परिचय देते हुए विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कीर्ति फताका फहराई है। इनमें निम्न बिन्दु प्रमुख है:– 1. प्राचीन काल में – ऋषि पत्नियाँ गार्गी, मैत्रेयी, घोषा अपाला, अनुसूइया आदि।
2. क्रांतिकारी महिलाएँ. – नाना साहब की पुत्री मैना, रानी लक्ष्मीबाई, प्रकाशवंती पॉल, महारानी, तपस्विनी, सुशीला मोहन, वीणा दास आदि।
3. संगीत के क्षेत्र में– इस क्षेत्र में लता मंगेशकर, आशा भौसलें, कविता कृष्णमूर्ति आदि ने अपनी कला दिखाई है।
4. अंतरिक्ष क्षेत्र में – कल्पना चावला व सुनीता विलियम्स, भारतीय मूल की नासा (अमेरिका) की वैज्ञानिक, आदि करोडों भारतीय महिलाओं का विश्व में प्रतिनिधित्व करती है।
5. खेल क्षेत्र में – सानिया मिर्जा, अंजू बॉबी जॉर्ज, आदि ने विशेष योगदान दिया है।
6. राजनीति के क्षेत्र में– वर्तमान राष्ट्रपति श्रीमती देवसिंह प्रतिभा पाटिल, स्व. इंदिरा गांधी, सोनिया गांधी, वसुंधरा राजे सिंधिया, उमा भारती, मायावती आदि ने राजनीति में नाम कमाया है।

इन सबके अतिरिक्त हमारे देश की आबादी के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी शक्ति को मिटाने का नहीं वरन् देश के निर्माण में उनकी भागीदारी तय करने का समय है। यह भी कटु सत्य है कि भ्रूण हत्याओं के सम्बन्ध में प्रसवपूर्ण नैदानिक तकनीक और दुरूपयोग बचाव अधिनियम 1996 से लागू होने के बावजूद इस मामले में एक भी व्यक्ति को आज तक सजा नहीं हुई है। यह महिला वर्ग के साथ ज्यादती ही कही जायेगी। महिला के प्रति समानता का व्यवहार कानूनी प्रावधानों से नहीं, वरन् समाज की सर्वमान्य स्वीकार्यता से हो सकता है।

8.8 शब्दावली

लिंग भेद	–	स्त्री और पुरूष का दो जैविक इकाईयों में पृथक्करण। इसमें योनि–भेद जैविक सामाजिक है तथा लिंग भेद सामाजिक सांस्कृतिक माना जाता है।
लिंग असमानताएँ	–	स्त्रीत्व और पुरूषत्व के रूप में समानान्तर एवं सामाजिक रूप में असमान विभाजन से है।
भ्रूण हत्या	–	जन्म से पूर्व शिशु को गर्भ में ही समाप्त करना।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में महिलाओं की सामाजिक प्रस्थिति पर एक लेख लिखिए।

2. भारतीय समाज में लिंग असमानता के मुख्य कारण कौन–कौन से है ?
3. कन्या भ्रूण हत्या के मुख्य कारण बताइये।
4. कन्या भ्रूण हत्या का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ? इसके रोकथाम के उपाय क्या है ?
5. "कन्या भ्रूण हत्या एक सामाजिक अपराध है।" विवेचना कीजिए।

8.10 संदर्भ ग्रन्थ

देसाई, नीरा और ठक्कर, उषा – वूमेन इन इंडियन सोसायटी,इण्डिया,नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली।

खेतान, प्रभा (2002) – उपेक्षिता, नई दिल्ली, हिन्द पॉकेट बुक्स

कौशिक, आशा (2004) – नारी सशक्तिकरण : विमर्श एवं यथार्थ, जयपुर, पोइस्टर पब्लिशर्स

शर्मा प्रज्ञा (2001) – भारतीय समाज में नारी, जयपुर पोइस्टर पब्लिशर्स।

राय, अरूणा (2002) – भारत का राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स

महिला आयोग की वार्षिक रिपोर्ट – (2002, 2003, 2005, 2007)

लक्ष्मी नारायण (1999) – एम्पावर ऑफ वूमेन, यू पंचायत राज इंस्टीट्यूशन्स इन जेण्डर पर्सपेक्टिव, नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स

मेहरोत्रा दीप्ती (2000) – भारतीय महिला आन्दोलन, नई दिल्ली, सम्पूर्ण ट्रस्ट

माथुर ए और ए. चौधरी (1999) – "साथ–साथ" –सामाजिक लिंग सच और विकास दृष्टिकोण भाग– 1, उदयपुर

समाजशास्त्र हिन्दी कार्य समिति – सशक्तिकरण एवं विकास, भाग–6 उदयपुर, (2005)

इकाई-9

घरेलू हिंसा

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 घरेलू हिंसा का अर्थ

9.3 घरेलू हिंसा के प्रकार

9.4 पीडित महिला की पहचान

9.5 घरेलू हिंसा की रिपोर्ट

9.6 घरेलू हिंसा के व्यापक प्रभाव

9.7 घरेलू हिंसा और उसके कानूनी पक्ष

9.8 घरेलू हिंसा और महिला संरक्षण विधेयक - 2005

9.9 राजस्थान में घरेलू हिंसा की व्यापकता

9.10 घरेलू हिंसा रोकने में महिला आंदोलन की भूमिका

9.11 घरेलू हिंसा को रोकने के लिए बनी नई संस्थाएं

9.12 घरेलू हिंसा पर नियंत्रण के उपाय

9.13 सारांश

9.14 बोध प्रश्न

9.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- घरेलू हिंसा का अर्थ इसकी परिभाषा एवं इसके प्रकार के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजस्थान में घरेलू हिंसा की स्थिति के बारे में जान सकेंगे।
- महिला आंदोलन की भूमिका के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- घरेलू हिंसा को रोकने के लिए बनी कुछ नई संस्थाएँ है इनके बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

अनेक महिलाएं परिवार में अपने आपको न केवल उपेक्षित मानती हैं, अपितु वे अपने ही परिजनों की प्रताड़ना व क्रूरता का शिकार बनती हैं। यह एक पारिवारिक हिंसा है। इस इकाई में आप घरेलू हिंसा क्या है, पीड़ित महिला कौन है और हिंसा के प्रकार के बारे में विस्तृत रूप से जानकारी प्राप्त करेंगे।

सन 1947 में, आजादी के साथ ही भारत में महिलाओं को भी पुरूषों के समान बराबर का दर्जा दिया गया। फिर भी वैवाहिक हिंसा के क्षेत्र में वे अपने अधिकारों का प्रभावी उपयोग करने में असमर्थ रही हैं।

औरतों पर हिंसा लगातार बढ़ती जा रही है। घर की चारदीवारी में कई औरतें अपराध और हिंसा झेलती हैं। जाहिर है कि हमारी सामाजिक स्थिति के चलते यह हिंसा औरतों पर ही अधिक होती है। इस हिंसा का असर केवल पीड़ित महिला तक सीमित नहीं रहता बल्कि घर के बच्चे और वृद्ध भी इसकी लपेट में आते हैं। औरतें अपनी असमर्थता, सामाजिक जकड़न और विकल्पहीनता के कारण लगातार इस स्थिति को झेलने पर मजबूर होती हैं।

औरतों पर हिंसा हमारे समाज में व्याप्त लैंगिक असमानता का प्रमाण है। इस कारण औरतों के जीवन, स्वतंत्रता और समानता के मौलिक अधिकारों का हनन होता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दुनिया के तमाम देशों ने इस हिंसा को रोकने की जिम्मेदारी स्वीकारी है। भारत ने भी सीडी समझौते पर हस्ताक्षर किए हैं। यह समझौता दुनिया भर की महिलाओं पर सभी तरह की हिंसा और भेदभाव को रोकने के लिए बनाया गया है। जाहिर है कि इस कटिबद्धता के चलते ऐसे प्रावधानों और कानूनों को बनाने की जिम्मेदारी भी सरकार की बनती है, जो इस घरेलू हिंसा का निवारण कर सके।

9.2 घरेलू हिंसा का अर्थ

घरेलू हिंसा सामाजिक मुद्दा है क्योंकि हिंसा के कारण औरत अपने नागरिक अधिकारों व इन्सान बनने के हक से वंचित होती है। मात्र घर में होने के कारण ही इसे व्यक्तिगत मुद्दा नहीं माना जा सकता, घर में गैर बराबरी का एक संकेत है यह हिंसा। इस हिंसा से औरत की पहचान, प्रतिष्ठा, स्वतंत्रता, समानता, क्षमता, गरिमा, सम्मान समादर सब पर असर पड़ता है।

घरेलू हिंसा का अर्थ

कोई भी वह आचरण या व्यवहार जो औरत या घर के बच्चों को चोट या नुकसान पहुंचाता हो या उसकी संभावना वाला हो वह उसकी सुरक्षा व स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा करने वाला हो। घरेलू हिंसा की परिभाषा के अन्तर्गत वे सब कार्य व प्रक्रियाएं आती हैं जो कि शारीरिक, मौखिक, दृश्यगत अथवा यौन-शोषण को घर-परिवार में विशेषरूप से बच्चे, वृद्ध व महिलाओं को भय, आक्रमण, प्रताड़ना के रूप में पीड़ा व चोट का अनुभव कराती हैं और इनके जरिए इन्हें निम्न व छोटे होने का अहसास कराने का प्रयास कराया जाता है।

9.3 हिंसा के प्रकार

शारीरिक उत्पीडन

- महिला के शरीर को कष्ट पहुंचाना जैसे मारना, पीटना आदि।
- कोई भी ऐसा कार्य जिससे महिला के जीवन को खतरा हो।
- कोई भी ऐसा कार्य जिससे महिला का स्वास्थ्य गिरे जैसे कि पूरा खाना न देना, बीमारी में सही उपचार न करना आदि

- किसी भी प्रकार से महिला के ऊपर हमला करना आदि।

यौनिक उत्पीड़न

- महिला के सम्मान को ठेस पहुंचाना और उसके साथ गलत व्यवहार करना।

भावनात्मक उत्पीड़न

- किसी भी कारण से महिला को गाली-गलौच देना।
- कोई सन्तान न होने के कारण या केवल लड़कियों को जन्म देने के कारण उसे गाली देना और उसका अपमान करना।
- दहेज या अन्य कोई महंगी चीज प्राप्त करने के लिए महिला या उसके किसी भी रिश्तेदार को तंग करना, कष्ट देना।

आर्थिक उत्पीड़न

- महिला को साझा गृहस्थी की चीजों जैसे पंखा, रेडियो, अलमारी आदि का उपयोग करने से रोकना।
- किसी भी प्रकार से धन या सम्पत्ति जिस पर महिला का कानूनन अधिकार है, उससे महिला को दूर करना, उससे छीन लेना या छीनने का प्रयास / कोशिश करना।

अन्य

- महिला या उसके किसी रिश्तेदार या मित्र / सहयोगी को धमकी देना।
- ऐसे किसी भी व्यक्ति को धमकी देना या गलत व्यवहार करना जो पीड़ित महिला के लाभ हित की बात सोचता हो या जो पीडित महिला का किसी भी रूप में साथ दे रहा हो या उसकी मदद कर रहा हो।

9.4 पीड़ित महिला की पहचान

हर वह महिला जिसके साथ हिंसा हुई हो या हिंसा हो रही है या हिंसा होने की संभावना है वह पीड़ित या दुखी महिला है। इस विधेयक के अन्तर्गत वे सभी महिलाएं आती हैं जिनका दुर्व्यवहार करने वाले व्यक्ति से कोई संबंध है अथवा रहा है। यदि दुर्व्यवहार करने वाले व्यक्ति और पीड़ित महिला के बीच सम रक्तता, विवाह या दत्तक ग्रहण पर आधारित कोई संबंध रहा है या फिर एक महिला और एक पुरूष एक ही परिवार की तरह साथ रह रहे हैं या रह चुके हैं तो वह महिला भी इस कानून के अंतर्गत संरक्षण प्राप्त कर सकती है। यानि कि कोई भी एक औरत जो किसी पुरूष के साथ एक पारिवारिक संबंध बनाकर रह रही है वह संरक्षण की हकदार है। यह आवश्यक नहीं है कि वह पारिवारिक संबंध कोई सामाजिक रूप से मान्य रिश्ता ही हो। इस विधेयक के अंतर्गत पत्नी और विवाह जैसे संबंध में रह रही महिला तो अपने पति या पुरूष साथी तथा उसके किसी रिश्तेदार के खिलाफ शिकायत दर्ज कर सकती है लेकिन पति या पुरूष साथी के महिला रिश्तेदार, महिला साथी के खिलाफ शिकायत दर्ज नहीं कर सकते। स्पष्ट रूप से समझना चाहें तो पीड़ित महिला निम्न में से कोई भी हो सकती है।

- कोई भी ऐसी महिला जो हिंसा या गलत व्यवहार करने वाले की नातेदार है या रही है।
- जहाँ दोनों पक्षों के लोग किसी साझा गृहस्थी में रहे हों। इसमें रक्त संबंधी, विवाह संबंध और दत्तक ग्रहण के संबंध भी शामिल हैं। उदाहरण के लिए कोई बहन, पत्नी, माता या विधवा महिला।
- संयुक्ता परिवार के रूप में साथ-साथ रह रहे लोगों की नातेदारी भी इसमें शामिल हैं। उदाहरण के लिए भाभी, चाची, ताई, मौसी।

♦ कोई भी बहन, विधवा, माता या एकल महिला जो हिंसा / दुर्व्यवहार करने वाले के साथ रह रही है।

9.5 घरेलू हिंसा की रिपोर्ट

कोई भी व्यक्ति जो यह जानता है कि किसी महिला पर घरेलू हिंसा हो रही है या हो सकती है वह ऐसी घटना की रिपोर्ट (संबंधित अधिकारी को) कर सकता है। वह व्यक्ति यदि सही जगह पर सूचना देता है तो वह भी रिपोर्ट ही मानी जाएगी। इस विषय में सूचना देने वाले की कोई भी सिविल या आपराधिक जिम्मेदारी नहीं होगी। उदाहरण के लिए यदि श्यामलाल अपने पड़ोस में रहने वाली मंजुला पर उसके पति द्वारा किए जा रहे जुल्म की सूचना संबंधित अधिकारी को देता है, तो वह भी रिपोर्ट ही मानी जाएगी। इस बारे में कानूनी तौर पर श्यामलाल की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी। यह जरूरी नहीं है कि शारीरिक हिंसा हो रही हो तभी सूचना दी जाए। यदि ऐसा संदेह है कि हिंसा हो सकती है तो भी सूचना दी जा सकती है।

सरकार द्वारा इस कानून के अंतर्गत पीड़ित महिला को राहत पहुंचाने के लिए और कानून की प्रभावशाली रूप से पालना के लिए राज्य सरकार प्रत्येक जिले में कुछ अधिकारियों की नियुक्ति करेगी जिनके स्पष्ट रूप से निश्चित कर्तव्य और अधिकार होंगे। इस हेतु नियुक्त किए गए अधिकारियों का कर्तव्य होगा कि वह अन्याय और हिंसा के खिलाफ लड़ाई में पीड़ित महिला को सहयोग व संरक्षण दें। सरकार निम्न अधिकारियों और संस्थाओं को चिन्हित कर सकती है।

1. **पुलिस अधिकारी**

जहाँ पर हिंसा की घटना हुई है, या फिर जहां पीड़ित महिला रहती है, या फिर जहां पर प्रतिवादी रहता है, उस थाना के पुलिस अधिकारी को हिंसा की घटना की सूचना दी जा सकती है। उसी सूचना को रिपोर्ट समझा जाएगा।

2. संरक्षण अधिकारी

राज्य सरकार द्वारा इस कानून के अंतर्गत कार्य करने के लिए प्रत्येक जिले में कुछ अधिकारी नियुक्त किए जाएंगे जिन्हें संरक्षण अधिकारी कहा जाएगा। जहां तक संभव होगा संरक्षण अधिकारी महिलाएँ ही होंगी। इन संरक्षण अधिकारियों को भी हिंसा की घटना / संभावना की सूचना दी जा सकती है।

3. सेवा देने वाली संस्था

सोसायटी रजिस्ट्रेशन अधिनियम 1860 या फिर कम्पनी अधिनियम 1956 के तहत रजिस्टर्ड कोई भी गैर-सरकारी संस्था, जो कि राज्य सरकार के पास इस कानून के तहत काम करने के लिए रजिस्टर्ड होगी, उसे सेवा प्रदाता संस्था कहा जाएगा। सेवा प्रदाता संस्था के भी निश्चित अधिकार व कर्तव्य होंगे, जिनके तहत वह कार्य करेगी। ऐसी सेवा प्रदाता संस्था के पास भी हिंसा की घटना संभावना की रिपोर्ट की जा सकती है।

4. **मजिस्ट्रेट**

जिस थाना क्षेत्र में हिंसा की घटना हुई है, या पीड़ित महिला या प्रतिवादी रहते हैं, वहां के स्थानीय मजिस्ट्रेट को भी हिंसा की घटना की सूचना / रिपोर्ट दी जा सकती है।

9.6 घरेलू हिंसा के व्यापक प्रभाव

1. **व्यक्तिगत प्रभाव** : शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक व व्यक्तिगत प्रभाव।
2. **परिवारगत प्रभाव** : औरत के काम, निर्णय लेने के अधिकार, परिवार में आपसी रिश्तों व बच्चों पर भी इस हिंसा का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है।

3. **संस्थात्मक-प्रतिमानात्मक प्रभाव** : इस कारण दहेज मृत्यु, हत्या, आत्महत्याएं बढ़ी हैं । कभी-कभी वेश्यावृति की प्रवृति भी इसी कारण देखी गई है।
4. **अप्रत्यक्ष प्रभाव** : घरेलू हिंसा महिलाओं की सार्वजनिक भागीदारी में बाधक है । इससे महिलाओं की कार्यक्षमता घटती है। वह डरी-डरी रहती है। मानसिक रोगी बन जाती है, जो कभी-कभी पागलपन तक पहुंच जाता है। विश्व बैंक के अध्ययन के अनुसार (1993) बलात्कार व घरेलू हिंसा से नारी के स्वस्थ जीवन के पांच प्रतिशत वर्ष नष्ट हो जाते हैं।

9.7 घरेलू हिंसा और उसके कानूनी पक्ष

अभी जो कुछ कानून या धाराएं औरत पर होने वाली हिंसा को रोकने के लिए बनी हैं वे सब आपराधिक धाराएं हैं। इनमें पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करानी होती है। पति या हिंसा करने वाले गिरफ्तार होते हैं पर औरत का न घर बचता है न गुजारा भत्ता मिलता है । महिलाओं की सुरक्षा के लिए अब तक भारतीय दंड संहिता में धारा 498(ए) (उत्पीड़न), धारा-304 (बी) दहेज मृत्यु, धारा-305 और 306 आत्महत्या या बालवध, धारा-375 से 377 बलात्कार और यौन अपराध, धारा-405 आपराधिक विश्वासघात तथा धारा-493 और 444 (धोखे से विवाह या एक से अधिक विवाह) के जरिए घरेलू हिंसा के विरूद्ध कतिपय कानूनी प्रावधान किए गए हैं।

7.8 घरेलू हिंसा और महिला संरक्षण विधेयक- 2005

9.8 में, घरेलू हिंसा से पीडित महिलाओं की सुरक्षा के लिए अभी तक जो कुछ कानूनी धाराएँ थीं, उसके बारे में जानकारी दी गई। अभी तक जो कुछ कानूनी धाराएं थी वे आपराधिक धाराएं थी। उसमें पति या उसके परिवार को सजा हो सकती थी पर शिकायत करने वाली महिला को कुछ नहीं मिलता था बल्कि उसका घर छूट जाता था, बच्चे सड़क पर आ जाते थे। इन आपराधिक धाराओं के अलावा महिला के पास कोई विकल्प नहीं था । 12 सितम्बर, 2005 को देश की संसद ने एक महत्वपूर्ण विधेयक पास किया, जिसका नाम था घरेलू हिंसा निवारण कानून। इसे पाने के लिए महिला संगठनों को बहुत लम्बा संघर्ष करना पडा।

दिनांक 24 अगस्त, 2005 को भारतीय संसद ने लम्बी बहस के बाद घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण विधेयक, 2005 बहुमत से पारित किया। यह कानून घरेलू हिंसा को महिला के मानव अधिकारों के हनन के रूप में देखता है और महिला के मौलिक अधिकारों का दायरा बढ़ाते हुए, उसे बिना किसी डर के सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार देता है। 26 अक्टूबर 2006 का दिन महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस दिन से यह कानून सारे देश में लागू हो गया है।

आज हमारे देश में ज्यादातर महिलाएं घरेलू हिंसा से जूझ रही हैं । कभी दहेज के कारण, कभी खाना अच्छा नहीं लगने के कारण, कभी पुत्र को जन्म नहीं देने के कारण, कभी दूसरे पुरूष से बात करने के कारण किसी न किसी बहाने से पुरूष महिला को मारता-पीटता व कष्ट पहुंचाता है। इस प्रकार की हिंसा किसी एक जाति, धर्म या समुदाय तक ही सीमित नहीं है बल्कि समाज के हर वर्ग में फैली हुई है। घरों के अन्दर होने वाली इस प्रकार की हिंसा को किसी भी प्रकार जायज नहीं ठहराया जा सकता। विशेषकर इस कारण कि यहां कष्ट देने वाले दूसरे नहीं बल्कि अपने परिवार के सदस्य होते हैं।

स्थिति और भी दयनीय हो जाती है जब समाज और परिवार के दबाव में आकर महिलाएं इस हिंसा के खिलाफ आवाज नहीं उठाती हैं और उठाने वाली को विभिन्न प्रकार के दबाव डालकर चुप करवा दिया जाता है।

घरेलू हिंसा मानव अधिकार हनन का ही एक घिनौना रूप है। हमारा संविधान महिला और पुरूष दोनों को जीवन जीने के लिए न्याय, समानता और स्वतंत्रता का अधिकार देता है। लेकिन समाज का एक बड़ा हिस्सा है जो महिला को पुरूष से निम्न समझता है और उसे सम्मान के साथ जीने के अवसर नहीं देना चाहता। यह सोच

हिंसा के कई रूपों में प्रकट होती है। महिलाओं को मारना और पीटना तो शारीरिक हिंसा के स्पष्ट रूप हैं ही पर उसे शिक्षा से वंचित करना, उचित खानपान न देना, सम्पत्ति का अधिकार न देना, स्वास्थ्य के प्रति उदासीन रहना आदि भी महिलाओं के प्रति हिंसा के ही रूप हैं।

कहीं-कहीं तो लड़कियों को जन्म भी नहीं लेने दिया जाता। या तो गर्भ में ही कन्या-भ्रूण की हत्या कर दी जाती है या फिर जन्म लेते ही उसे मार दिया जाता है।

इस तरह देश की आधी आबादी हमेशा दबी हुई रहती है और उसे विकास के अवसर ही नहीं मिलते।

इससे न सिर्फ महिला का बल्कि परिवार का, देश का और समाज का भी नुकसान होता है। पूरी दुनिया में अब यह बात साबित हो गई है कि सही मायनों में विकास लाना है तो औरतों की बात किए बिना आगे नहीं बढ़ सकते। सामाजिक विचारधारा में बदलाव के साथ-साथ जरूरी है कि ऐसे कानून बनें जिनसे महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान सुनिश्चित हो सके। इस बात की जरूरत ज्यादा है कि घर की चारदीवारी के अन्दर रोजाना हिंसा की शिकार हो रही औरतों को बचाया जाए।

अभी तक हमारे देश में कोई भी ऐसा कानून नहीं था जिसके सहारे एक औरत का अपनी रोज की जिन्दगी में हो रही हिंसा से बचाव हो सके। यह हमारे देश का पहला कानून है जो घरेलू हिंसा को कानूनी मान्यता देता है। इस कानून के माध्यम से महिला को जीवन में हो रही हिंसा की छोटी-छोटी घटनाओं के खिलाफ लड़ाई के लिए शक्ति प्रदान की गई है।

परिवार में महिला के खिलाफ किसी भी प्रकार की हिंसा हो, उसमें यह कानून तुरंत राहत प्रदान करता है। एक अच्छी बात यह है कि इस कानून में केवल मारपीट को हिंसा नहीं माना गया है, बल्कि अगर कोई महिला को मानसिक कष्ट पहुंचाता है या बुरा-भला कहता है तो उसे भी घरेलू हिंसा माना गया है।

9.9 राजस्थान में घरेलू हिंसा की व्यापकता

राजस्थान वह प्रदेश है जहां सामंतवाद की परम्परा रही है। औरतों को घूंघट और घर में बंद रखा गया है। उनकी जल्दी शादी करने का प्रचलन रहा है। लड़कियों के पैदा होने को भी स्वागत योग्य नहीं माना गया। उनकी शिक्षा और उनके स्वास्थ्य को प्राथमिकता नहीं दी गई। उन पर होने वाली हिंसा को उनके अपने चरित्र या दोष से जोड़कर देखा गया इसलिए घरेलू हिंसा की समस्या को कोई महत्व नहीं दिया गया। औरत अपने घर में होने वाली हिंसा को बाहर कहती है तो वह घर व समाज में बदनाम होती है और उसे चुप रहने की शिक्षा दी जाती है।

महिला विकास के जितने भी राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय मापदण्ड हैं उनकी दृष्टि से राजस्थान की औरतों की स्थिति काफी खराब है। गर्भवती माताओं और बालिका शिशुओं की मौत ज्यादा होती है। भ्रूण हत्या व बालिका वध जैसी परम्पराएँ भी रही हैं। हिंसा का प्रतिशत भी राजस्थान में अधिक है। घरेलू हिंसा के आकड़े बताते हैं कि यह हिंसा लगातार बढ़ रही है। ज्यादातर घरेलू हिंसा के मामले पुलिस तक नहीं पहुंच पाते हैं, इसलिए वास्तविक हिंसा का प्रतिशत प्रत्यक्ष आकड़ों से भी ज्यादा है।

औरतों पर घरेलू हिंसा लगातार बढ रही है। आज पुलिस के पास या परिवार परामर्श संस्थाओं के पास इस तरह के मामले अधिक आ रहे हैं। कई बार यह कहा जाता है कि हिंसा नहीं बढ़ी बल्कि जागरूकता के कारण हिंसा के खिलाफ शिकायतें ज्यादा दर्ज हो रही हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हिंसा बढ़ने के साथ-साथ उसमें क्रूरता भी अधिक आ रही है। उदाहरण के रूप में चेन से बांध देना, ताले में बन्द करके रखना, मारना-पीटना, जहर देना, यौन-शोषण करना, जला देना और तरह-तरह की मानसिक यातनाएँ देना अब आम बात है। आज शिक्षित और अच्छे पदों पर काम कर रही महिलाएँ घरेलू हिंसा का शिकार हो रही हैं। इसको बढाने में कट्टरवादिता और वैश्वीकरण ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। औरत उपभोग की वस्तु बनती जा रही है। संचार माध्यमों ने उसके स्वरूप को और विकृत किया है। औरतों की जागरूकता से पुरूषत्व को ठेस लगती है इस कारण वह और ज्यादा

हिंसक व्यवहार करता है। महिला को महिला के खिलाफ मोहरा बनाया जा रहा है और इसमें टी.वी. सीरियल बहुत बड़ी भूमिका निभा रहे हैं।

एक और बात यह है कि महिला उत्पीडन के मामले सामान्य स्थिति में तो पुलिस तक पहुँचते ही नहीं हैं। पहले तो औरत खुद सहन करती है, जब उसकी सहनशक्ति जवाब देने लगती है तो घर, परिवार और समाज की भूमिका शुरू होती है। पानी जब सर के ऊपर से गुजरने लगता है तो ही पुलिस में केस दर्ज होते हैं।

पुलिस रिकॉर्ड में दर्ज आकड़ों से उत्पीड़न की समस्या कहीं अधिक व्यापक है। घरेलू हिंसा के आकड़े बताते हैं कि राजस्थान में हिंसा लगातार बढ़ रही है।

अपराध अनुसंधान विभाग के पिछले सोलह वर्षों के आकड़ों पर नजर डालें तो यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि समय बदलने के साथ भी महिलाओं पर अत्याचार कम होने के बजाए बढ़ते ही जा रहे हैं।

जहाँ एक तरफ 1991 से 2001 के दशक में महिलाओं की जनसंख्या में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, वहाँ थानों में दर्ज दहेज व महिला उत्पीड़न के मामलों में लगभग 300 प्रतिशत वृद्धि हुई है। केवल महिला उत्पीड़न के मामलों में ही साढ़े तीन गुना वृद्धि हुई है।

सन् 2001 से 2006 तक के आकड़ों पर गौर करें तो इन वर्षों में सबसे ज्यादा अभियोग दहेज हत्या और महिला उत्पीड़न की घटनाओं को लेकर दर्ज हैं।

वर्ष 2005 में गत वर्षों की तुलना में महिला अत्याचार संबंधी अपराधों के आकड़ों में कमी दिखाई गई है। इन आकड़ों में कमी का एक कारण यह भी हो सकता है कि थानों पर एफ.आई. आर. दर्ज नहीं होती या फिर दोनों पक्षों में समझौता करा दिया जाता है। उसकी वजह से भी केस दर्ज नहीं हो पाते हैं।

इन्टरनेशनल सेन्टर फॉर रिसर्च ऑन वीमेन ने एक हजार औरतों का सर्वे किया। उसमें 45 प्रतिशत औरतों पर शारीरिक हिंसा हुई है, यह बात सर्वे में निकलकर आई।

राजस्थान के सभी थानों और महिला सलाह एवं सुरक्षा केन्द्रों पर 90 प्रतिशत मामले घरेलू हिंसा के आ रहे हैं।

परिवार परामर्श केन्द्र की 2005-2006 की रिपोर्ट को देखें तो यह बात उभरकर सामने आती है कि एक ओर नारी जीवन के हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही है वहीं दूसरी ओर पुरूषों की मानसिकता में तनिक भी बदलाव नहीं आया है। अप्रैल 2005 से फरवरी 2006 तक परिवार परामर्श केन्द्र पर कुल 128 मामले आए। सुनवाई के दौरान परिवार टूटने न पारिवारिक समस्या के कई कारण सुनने को मिले जिनके तहत काऊंसलिंग की गई। दर्ज मामलों में 20 संयुक्त परिवार में महिला की स्थिति के थे, जिनमें ससुराल वाले व पति द्वारा महिला को प्रताड़ित किया गया था। 6 मामले परिवार के सदस्यों द्वारा महिला को दहेज कम लाने के कारण परेशान करने, बार-बार महिला को पीहर भेजने व मानसिक व शारीरिक रूप से प्रताड़ित करने के थे।

संकटग्रस्त महिलाओं व लडकियों को तात्कालिक, टेलीफोनिक परामर्श व सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से 24 घंटे की आपातकालीन सेवा हेल्पलाईन पर भी घरेलू हिंसा के कई मामले आ रहे हैं। यह हेल्पलाईन भारत सरकार के मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय के तहत केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्वाधार योजना के अंतर्गत रूवा द्वारा संचालित है।

हेल्पलाईन में अब तक कुल 8917 फोन कॉल्स व 744 केसेज दर्ज हुए हैं। इनमें 23 मामले दहेज प्रताड़ना के, 26 ससुराल व पति प्रताड़ना, 11 पति-पत्नी के साथ असमायोजन, 5 माता-पिता से समस्या के दर्ज हुए हैं। अपराध अनुसंधान विभाग, राजस्थान सरकार की ओर से जारी रिपोर्ट घरेलू हिंसा के बढ़ते मामलों की वास्तविक तस्वीर सामने रख देती है।

तालिका-9.1

घरेलू मामलों में दर्ज प्रकरण

क्र.सं.	वर्ष	दहेज हत्या	महिला उत्पीड़न
1.	1991	327	1612
2.	1992	280	2011
3.	1993	321	2054
4.	1994	330	2608
5.	1995	369	3202
6.	1996	349	3920
7.	1997	456	4304
8.	1998	433	4947
9.	1999	443	5425
10.	2000	429	5437
11.	2001	376	5532
12.	2002	399	5691
13.	2003	389	5733
14.	2004	379	6781
15.	2005	361	5997
16.	2006 (जुलाई तक)	227	4087

स्रोत : अपराध अनुसंधान विभाग, राजस्थान सरकार

9.10 घरेलू हिंसा रोकने में महिला आंदोलन की भूमिका

देश में पिछले ढाई दशक से महिला आंदोलन ने भी इस दिशा में छुटपुट प्रयास किए हैं। इस आंदोलन से एक माहौल बना है। इस आंदोलन का असर यह हुआ है कि महिलाओं पर होने वाली हिंसा को रोकने के लिए कई कानूनों में बदलाव हुआ। कई नई संस्थाएं बनीं और कुछ नीतियों में परिवर्तन आया। घरेलू हिंसा को लेकर भारतीय दण्ड संहिता में 498-ए व 304-बी जैसी महत्वपूर्ण धाराएं जुड़ी। दहेज निषेध अधिनियम में परिवर्तन आए।

9.11 घरेलू हिंसा को रोकने के लिये बनी कई नई संस्थाएँ

पारिवारिक अदालतें, महिला थाने, महिला आयोग, मानवाधिकार आयोग, जिला स्तर की महिला सहायता समितियां, अल्पावास गृह और परिवार परामर्श केन्द्र भी अस्तित्व में आए हैं। कुछ नीतियां भी बनी हैं, जिनमें महिला नीति, पंचायती राज में महिलाओं को आरक्षण दिए जाने का कानून प्रमुख है जिनका उद्देश्य है कि महिला सशक्तीकरण बढे और महिला हिंसा को रोका जा सके।

घरेलू हिंसा को अभी तक सिर्फ आपराधिक कानून के दायरे में देखा जाता रहा हैं। उससे महिला को ज्यादा मदद नहीं मिली, या तो उसका घर टूटा और वह सड़क पर आ गई या बच्चों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसकी वनिस्पत तो कई बार औरतों को हिंसा झेलना ज्यादा ठीक लगा। हिंसा के विरोध का उनके लिए सीधा मतलब था सडक पर आ जाना। कानून, पुलिस व न्यायालय इस दिशा में उनकी ज्यादा मदद नहीं कर पाए।

9.12 घरेलू हिंसा पर नियंत्रण के उपाय

1. मानसिकता में बदलाव
2. सामाजिक जागरूकता
3. लेखन के माध्यम से
4. आत्मनिर्भरता
5. समुदाय आधारित रणनीति
6. जिला सहायता समिति
7. अन्य सुझाव

(1) मानसिकता में बदलाव

घरेलू हिंसा से निपटने के लिए महिलाओं को अपनी मानसिकता में बदलाव लाना होगा। जब तक वह परिवार और समाज की चेतनाशील नागरिक बनने का प्रयास नहीं करेगी, अपने पर होने वाली हिंसा तथा उत्पीड़न के विरूद्ध उठकर खड़ी नहीं होगी, वह घरेलू हिंसा से अपनी रक्षा नहीं कर सकती। हर हाल में स्त्री को यह समझना होगा कि मनुष्य होने के नाते पहले वह समाज की अनिवार्य इकाई भी है। उसे अपने आप में यह अहसास भी जगाना होगा कि वह स्त्री ही नहीं, इस देश की सम्मानित नागरिक भी है।

(2) सामाजिक जागरूकता

घरेलू हिंसा को रोकने के लिए सामाजिक जागरूकता जरूरी है। इसके लिए जहां-जहां स्कूल व कॉलेज हैं, वहां विद्यार्थियों के साथ घरेलू हिंसा, घर में होने वाले भेदभाव, आदि विषयों पर व्यवस्थित रूप से बातचीत शुरू करनी चाहिए। लड़के व लड़कियों के मन को बदलने का प्रयास इस स्तर पर होना चाहिए। स्कूल-कॉलेज में काउंसिलिंग-सेल होने चाहिए ताकि उस की लड़कियाँ जिस तरह की घरेलू हिंसा झेल रही हैं उनका समाधान खोजा जा सके। अभी तक लड़कों के साथ घरेलू हिंसा या बाल शोषण जैसी बातें कोई नहीं करता है जबकि सर्वेक्षणों के जरिए तथ्य सामने आए हैं कि बालक भी यौन दुराचार का शिकार बनते रहे हैं। अत: विद्यालयों में काउसिलिंग सेल अवश्य होने चाहिए।

(3) लेखन के माध्यम से

महिलाओं पर होने वाली हिंसा से निपटने के लिए जन जागरूकता वाले लेख प्रकाशित होने चाहिए। इसके साथ ही महिलाओं के लिए बनाए गए कानून भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हों ताकि उन्हें पढ़कर महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति जागेगी और आवश्यकता पड़ने पर कानून की मदद ले सकेंगी।

विशेष प्रकोष्ठ की क्षमता बढ़ाने के लिए शोध तथा आलेखन की एक आंतरिक व्यवस्था स्थापित करनी होगी, ताकि महिलाओं पर होने वाली हिंसा से निपटा जा सके तथा महिलाओं के विरूद्ध होने वाली हिंसा को अधिक करीबी से जाना समझा जा सके।

(4) आत्मनिर्भरता

लड़कियों को हर हालत में स्वावलम्बी बनाने का प्रशिक्षण देना जरूरी है। महिलाओं की आर्थिक क्षमताओं को विकसित करने की आवश्यकता है। उन्हें उत्पादन के साधनों व सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

यदि महिला आत्मनिर्भर है और अपना खर्चा भी स्वयं वहन करने की स्थिति में है, तो उसे घरेलू हिंसा का शिकार होने से बचाया जा सकता है।

(5) समुदाय आधारित रणनीति

घरेलू हिंसा का निवारण समुदाय के स्तर पर होना चाहिए। कोर्ट या पुलिस में तब जाना चाहिए जब बात बहुत गंभीर हो। जहाँ महिला समूह या संगठन काफी मजबूत हैं वहा समुदाय की भूमिका भी उभर रही है। गाँव में औरतों की बैठक बुलाकर इस तरह की समस्याओं के समाधान खोजे जा रहे हैं।

समुदाय को वैधानिक अधिकार भी दिए जाने चाहिए। पंचायतों को भी इस तरह के अधिकार दिए जाने चाहिए।

(6) जिला सहायता समिति

(1) जिला सहायता समितियों का मूल्यांकन होना चाहिए। इन समितियों में पुलिस अधिकारी व महिलाओं के लिए काम करने वाले सभी संगठन होने चाहिए। महिला आयोग को चाहिए कि वह इनकी समय-समय पर समीक्षा करे।

पुलिस : पुलिस की भूमिका को काफी संवेदनशील बनाने की आवश्यकता है। उनकी ट्रेनिंग में घरेलू हिंसा व महिला संवेदनशीलता को खासतौर पर शामिल किया जाना चाहिए।

(2) हर थाने पर 'समस्या समाधान शिविर' हर महीने आयोजित होने चाहिए। इसका व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। इसका दिन व समय निश्चित होना चाहिए और अखबार / रेडियो / दूरदर्शन पर प्रचार होना चाहिए।

(3) थाना स्तर पर काउंसलर हों। खासतौर से घरेलू हिंसा के मामलों में पुलिस जब समझौता करती है तो एक प्रशिक्षित काउंसलर की मदद लेनी चाहिए।

(4) आयोग का कोई संदेश सरकार को मिलना चाहिए। वह ताकतवर है ऐसा संदेश जाना चाहिए। वह अपने ही निर्णयों को लागू नहीं करवा पाए, ऐसी स्थिति बदलनी चाहिए।

(7) अन्य सुझाव

(1) अल्पावास गृह जगह-जगह होने चाहिए। इसमें मनोवैज्ञानिक व मनोचिकित्सकीय सेवाएँ जुड़ी हुई होनी चाहिए।

(2) इस तरह की हिंसा पर जन अदालतें जगह-जगह लगनी चाहिए।

(3) हर महीने थाने पर एक दिन ऐसा होना चाहिए जब कोई भी किसी भी तरह की जानकारी प्राप्त कर सके।

(4) घरेलू हिंसा पर न्यायिक फैसलों का सरल भाषा में व्यापक प्रचार-प्रसार किए जाने की आवश्यकता है।

(5) महिला आंदोलन तथा विशेष प्रकोष्ठ को मिलजुलकर ऐसा दबाव बनाना चाहिए जिससे अपराधों का आसानी से पंजीकरण हो सके तथा इन मामलों के दीवानी समाधान तलाशे जा सकें। इसका अर्थ होगा

कानूनी क्षेत्र को प्रभावित करना, कानून व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाना और वकीलों न्यायाधीशों व अन्य न्यायिककर्मियो को संवेदनशील बनाना।

(6) घर का काम सबका काम हो। लड़के-लडकी में भेद नहीं हो ताकि बाद में यह लड़का पति बनकर रौब जमाना प्रारंभ न करे।

(7) महिलाओं के विरूद्ध हिंसा और उसे रोकने के लिए बने कानून पर सघन व बहुविषयी शोध तथा दस्तावेजीकरण की आवश्यकता है। ऐसी समन्वित शोध परियोजनाएं बनाने के साझे प्रयास होने चाहिए, जिसमें सभी पक्ष पुलिस, न्यायपालिका, महिला संगठन और अकादमिक अध्ययन संस्थाएँ शामिल हों।

(8) महिला के विरूद्ध होने वाले अपराधों की कुशल जाँच पड़ताल के लिए क्षमतावर्द्धन की आवश्यकता है, ताकि मामलों की तफ्तीश संवेदनशील तरीके से हो। जो मामले धारा -498-ए के तहत दर्ज किए जाते हैं उनके लिए एक सुनिश्चित चरणबद्ध प्रक्रिया अर्थात् एक 'प्रोटोकॉल' या 'ड्रिल' बननी चाहिए ताकि यह तथ्य स्थापित हो सके कि महिला एक नागरिक के रूप में परिवार में हिंसा झेल रही है।

(9) आपराधिक न्याय व्यवस्था का क्षमतावर्द्धन करना आवश्यक है ताकि वह मानसिक हिंसा को भी वैध सबूत माने और मानसिक तथा भावनात्मक उत्पीड़न के मामलों में ऐसी सार्थक सुविधाएँ मुहैया कराए जो मौजूदा परिस्थिति को संबोधित करने में मददगार हों। मानसिक हिंसा को शारीरिक हिंसा के समान स्तर का अपराध मानना चाहिए।

(10) ऐसे सरकारी ढाँचे और प्रणालियां बनाई जाएं जो पारिवारिक हिंसा के मामलों में समय रहते हस्तक्षेप करें, उसे रोकें और मध्यस्थता करें।

9.13 सारांश

महिला शारीरिक, मानसिक, यौनिक रूप से हिंसा का शिकार हो रही है और इस हिंसा में लगातार वृद्धि हो रही है। हिंसा के अनेक कारण हो सकते हैं जिसमें पितृसत्तात्मक परिवार, संरचना एवं ऐसे ही समाजीकरण की भूमिका प्रमुख है। हिंसा में पीड़ित महिला की जानकारी आज व्यापक स्तर पर उपलब्ध है और उत्पीड़ित महिला की जानकारी कोई भी व्यक्ति कर सकता है। यह जानकारी हम पुलिस, संरक्षण अधिकारी को कर सकते हैं। समाज में घरेलू हिंसा के प्रभाव काफी दूरगामी होते हैं। यह प्रभाव व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा समाज के ऊपर देखे जा सकते हैं। घरेलू हिंसा को रोकने के लिए कानून तथा धाराएँ बनाई गई हैं जो कि आपराधिक धाराएं हैं। महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने के लिए हाल ही में महिला संरक्षण विधेयक पारित किया गया जिसमें महिलाओं को हर तरह की प्रताड़ना के खिलाफ संरक्षण प्रदान किया गया है। राजस्थान में भी महिला के विरूद्ध हिंसा के मामलों में लगातार वृद्धि हुई है और इस वृद्धि को रोकने के लिए महिला आंदोलन की सक्रिय भूमिका है। घरेलू हिंसा पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए हमें मानसिकता में बदलाव लाना होगा, सामाजिक जागरूकता व आत्मनिर्भरता लाने के लिए लेखन आंदोलन आदि के माध्यम से समुदाय आधारित रणनीति बनानी होगी।

इस इकाई में हमने महिलाओं पर होने वाली हिंसा से बचाव और उसके नियंत्रण के लिए अपनाए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण साधनों के बारे में पढ़ा। इसके साथ ही महिलाओं को स्वयं आगे आकर अपने ऊपर होने वाली हिंसा से निपटने के रास्ते भी इस इकाई में बताए गए हैं। महिलाएं, उनके परिवार, उनके समुदाय और राज्य, सभी महिलाओं संबंधी प्रचलित रूढ़ विश्वासों, मान्यताओं तथा चारित्रिक विशेषताओं को स्वीकार कर चलते हैं। क्या निजी है, क्या सार्वजनिक, विवाह एक पवित्र बंधन है, परिवार सर्वोपरि है, और विवाह तथा परिवार को बनाए रखने की जिम्मेदारी औरत की है- ये और ऐसी ही तमाम अन्य धारणाएं साफ-साफ उजागर होती हैं। अत: पहली प्राथमिकता इन रूढ़िबद्ध छवियों को तोड़ने की ही बनती है, इसका उल्लेख भी विस्तृत रूप से इस इकाई में किया

गया है। इसके साथ ही घरेलू हिंसा से नियंत्रण के लिए सामाजिक संगठन, समाज व पुलिस की भूमिकाओं पर भी चर्चा की गई है।

9.14 बोध प्रश्न

1. घरेलू हिंसा क्या है ?
2. हिंसा के प्रकारों की विवेचना कीजिए ?
3. घरेलू हिंसा के व्यापक प्रभावों की चर्चा कीजिए।
4. घरेलू हिंसा के कानूनी पक्ष की विवेचना कीजिए।
5. 2005 के घरेलू हिंसा संरक्षण की समीक्षा कीजिए।

9.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. यात्रा हिंसा से अपराध तक - अंजलि दवे, गोपिका सोलंकी, बोधि प्रकाश, जयपुर।
2. स्त्री, परंपरा और आधुनिकता - राजकिशोर, वाणी प्रकाशन।
3. राष्ट्रीय महिला आयोग और भारतीय नारी – एम.ए. अंसारी।

इकाई-10

बाल विवाह

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 विवाह की परिभाषा

10.3 बाल विवाह की पृष्ठभूमि

10.4 बाल विवाह का अर्थ एवं अवधारण।

10.5 राजस्थान में बाल विवाह के कारण।

10.6 बलि विवाह के पीछे सामाजिक तर्क एवं उनका खण्डन

10.7 बाल विवाह से हानियाँ

10.8 बाल विवाह को रोकने हेतु उपाय

10.9 बाल विवाह के विरुद्ध राज्य द्वारा किए गए उपायों की असफलता के कारण

10.10 गौना प्रथा की अवधारणा

10.11 राजस्थान में गौना प्रथा

10.12 सामूहिक विवाह की अवधारणा

10.13 राजस्थान में सामूहिक विवाह

10.14 बाल विधवा की अवधारणा

10.15 राजस्थान में बाल विधवा

10.16 सारांश

10.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान पायेंगे -

- बाल-विवाह की पृष्ठभूमि के बारे में, इसका अर्थ एवं अवधारणा के बारे में।
- राजस्थान में बाल-विवाह के कारण एवं इनको रोकने हेतु उपाय।
- बाल-विवाह को रोकने में राज्य की असफलता के कारण।

- ♦ बाल--विवाह से होने वाली हानियाँ।
- ♦ राजस्थान में गौना प्रथा के बारे में।
- ♦ राजस्थान में सामूहिक एक विवाह के बारे में।
- ♦ बाल-विधवा की अवधारणा एवं राजस्थान में बाल विधवा के बारे में।

10.1 प्रस्तावना

विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है और इसी से जुडे प्रत्यय हैं - बाल विवाह, सामूहिक विवाह, गौना प्रथा तथा विधवा विवाह। इस इकाई में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि राजस्थान में बाल विवाह, सामूहिक विवाह, गौना प्रथा तथा विधवा प्रस्थिति की क्या प्रकृति है और समय में परिवर्तन के साथ उनमें किस तरह के बदलाव आए हैं। यह परिवर्तन क्या समाज में स्त्री-पुरूष को समान दर्जा देने की तरफ अग्रसर हैं और किस तरह एक सामाजिक समस्या के रूप में स्त्रियों को उचित स्थान दिला पाने में असमर्थ है। कानूनी तौर पर विवाह की आयु निश्चित हो जाने के बावजूद भी आज राजस्थान गे आखातीज पर्व पर अनेक बाल-विवाह आयोजित किए जाते हैं और बाद में उनसे उत्पन्न बाल विधवाओं जैसी समस्याओं में वृद्धि होती है। आगे आने वाले प्रष्ठों में हम इन्हीं मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

10.2 विवाह की परिभाषा

विवाह एक ऐसी संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पाई जाती है। समाज चाहे जैसा भी हो, आदिम हो या आधुनिक, ग्रामीण हो या नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है। अत: इस दृष्टि से विवाह एक सार्वभौगिक संस्था है। सांस्कृतिक रूप से नियंत्रित और अनुशासित वैवाहिक संबंधों के जरिये ही परिवार अस्तित्व में आता है और इन योग संबंधों का संस्थागत रूप विवाह कहलाता है।

वेस्टर मार्क ने विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने ताला वह संबंध है जो प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृत होता है तथा जिसमें संगठन में आने वाले दोनों पक्षों तथा उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार व कर्तव्यों का समावेश होता है।

वेस्टरमार्क ने अपनी इस परिभाषा में तीन बातों पर जोर दिया है -

(1) एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध।

(2) संबंध प्रथा और कानून द्वारा स्वीकृत होता हैं।

(3) संगठन में दोनों पक्षों और उत्पन्न बच्चों के अधिकार कर्तव्यों का समावेश होता है।

मजूमदार और मदान के अनुसार विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में इन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विषम लिंगियों को यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक, आर्थिक संबंधों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।

उपरोक्त परिभाषा में गदान और मजूमदार ने दो बातों पर बल दिया है -

(1) विवाह में धार्मिक या कानूनी अधिवेशन के रूप में सामाजिक स्वीकृति मिलती है।

(2) मिलने वाली सामाजिक स्वीकृति में यौन-क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक-आर्थिक अधिकार होते हैं।

भारतीय संस्कृति में विभिन्न धर्मो, जातियों और भौगोलिक स्थितियों का मेल विवाह नामक संस्था में बदलाव ला देता है। परन्तु विवाह से जुडी कुछ समस्याएं ऐसी हैं जो देश भर में विभिन्न कारणों से अपना अस्तित्व आज तक बचा पाने में सक्षम रही हैं। उनमें से एक है - बाल विवाह।

10.3 बाल विवाह की पृष्ठभूमि

धर्मशास्त्रों के अनुसार बाल विवाह की धारणाएं परस्पर विरोधी हैं। वैदिक और महाभारत काव्य विवाह को युवावस्था में अनिवार्य बताते थे। वेदों के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत धारणा करके युवावस्था प्राप्त करने वाली लड़की को ही वर मिलता है। वहीं महाभारत में रुक्मिणि-कृष्ण, सावित्री-सत्यवान, सुभद्रा-अर्जुन, दुष्यंत और शकुंतला के विवाह युवावस्था में ही सम्पन्न हुए थे। ये विवाह लड़कियों की स्वतंत्र इच्छा और चुनाव पर आधारित थे। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में युवा लड़कियों का विवाह होता था न कि बालिकाओं का।

गृहसूत्रों में कन्या की आयु विवाह के समय क्या होनी चाहिए? इस विषय में यह लिखा गया है कि कन्या को 'नग्निका' होगा चाहिए। 'नग्निका' शब्द का अर्थ होता है, नग्न। इस शब्द के टीकाकारों ने अनेक अर्थ लगाए हैं। घोष ने लिखा है "भातृदत्त ने इरा शब्द को समझाते हुए बताया है कि नग्निका उस कन्या को कहते हैं जो अपने पति के द्वारा नग्न करने योग्य हो अर्थात जिसके साथ संभोग किया जा सके। अत: स्पष्ट है कि उस समय बाल विवाह नहीं होते थे।"

महाभारत में नग्निका की आयु 16 वर्ष बताई गई है। वात्स्यायन ने भी अपने कामसूत्र में स्त्रियों पर विजय प्राप्त करने की अनेक कलाओं का वर्णन किया है। अभिप्राय यह हुआ कि विवाह वयस्क होने पर ही होते थे।

विवाह की आयु के बारे में एक बात तो निश्चित थी कि हिन्दू विवाह में स्त्री की आयु पुरूष से कम होनी चाहिए। मनु ने लिखा है कि 30 वर्ष के पुरूष को 12 वर्ष की कन्या से और 24 वर्ष के पुरूष को 8 वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए। भीष्म महाभारत में युधिष्ठिर को बताते हैं कि 21 वर्ष के पुरूष को 7 वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए। वात्स्यायन ने लिखा है कि "वधू वर से कम से कम 3 वर्ष छोटी अवश्य होनी चाहिए।"

ईसा से 400 वर्ष पूर्व से ही लडकियों का कम आयु में विवाह का समर्थन किया जाने लगा। दूसरी शताब्दी में इसका प्रचलन अत्यधिक रूप से बढ गया और कोई भी इससे अछूता नहीं रहा। याज्ञवल्क्य ने इसी काल में लिखा है कि जो संरक्षक कन्या का विवाह रजोदर्शन के पूर्व नहीं कर देते उन्हें भ्रूण हत्या का पाप लगता है। स्मृतिकारों ने भी लिखा है " 10वें वर्ष में कन्या के पहुंचने पर जो पिता उसका विवाह नहीं कर देता है वह मानो प्रतिमास उसका रज पीता है। " 8 वर्ष की कन्या को 'गौरी' कहा जाता था और वह विवाह हेतु अत्यधिक उपयुक्त होती थी। 9 वर्ष की कन्या 'रोहिणी' और 10 वर्ष तथा इससे ऊपर आयु की कन्या 'रजस्वला' कहलाती थी। इस प्रकार 11 वीं शताब्दी तक बाल विवाहों का प्रचलन हो गया। परन्तु यह अधिकतर ब्राह्मणों तक ही सीमित था।

अन्य जातियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। राजस्थान में विशेषकर क्षत्रिय इसके विरूद्ध थे। तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध संस्कृत नाटकों में अधिकांशत: नायिका विवाह के समय वयस्क होती थी। मध्ययुग में भी ऐसे ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं कि राजस्थान में राजपूतों में प्राय: विवाह वयस्क होने पर ही करते थे। समय के साथ कन्या के विवाह की आयु घटती गई। ब्रह्मपुराण के अनुसार कन्या का विवाह चार वर्ष की आयु के बाद कभी भी कर देना चाहिए। धर्म शास्त्रों के ऐसे ही विचारों के कारण से ही बाल विवाह बढते चले गए और धीरे-धीरे अन्य जातियों द्वारा भी अंगीकार कर लिए गए। मुस्लिम काल में राजस्थान में भी विवाह की आयु और कम हो गई क्योंकि आक्रमणकारियों द्वारा नरसंहार और कन्याओं को उठाकर ले जाने की घटनाओं ने समाज को इस और कठोर कदम उठाने के लिए मजबूर कर दिया।

राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में ऐसा भी माना जाता है कि यह शुरू से ही आक्रमणकारियों की निगाहों में रहा है। प्राचीनकाल से ही लुटेरों की निगाहें धन और स्त्रियों पर होती थी। किसी अविवाहित स्त्री को ऐसी रिथति का सामना करना पड़ता था तो या तो वह वापस नहीं लौट पाती थी और वापस आने की स्थिति में उसके स्वयं के साथ पूरे परिवार का जीना हराम हो जाता था। क्योंकि ऐसी कन्या को समाज अच्छी नजर से नहीं देखता था। कौमार्य सतीत्व की पहचान माना जाता था और विवाह से पहले शील भंग होने की स्थिति में उसे पतीता माना

जाता था। अत: ऐसी परिस्थितियों से घबराकर माता-पिता भी शीघ्रातिशीघ्र विवाह करके दायित्वों से मुक्त हो जाते थे। अत: राजस्थान में बाल विवाह के आंकड़ों में न केवल वृद्धि हुई अपितु इसे बहुतायत ने अपनाया।

10.4 बाल विवाह का अर्थ एवं अवधारणा

जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि बाल विवाह गति विवाहित युगल का बाल अवस्था में होना। बाल विवाह ऐसे विवाह को कहते हैं जिसमें लड़की का विवाह प्राय: रजोदर्शन से पूर्व और लड़के का विवाह किशोरावस्था से पूर्व ही सम्पन्न कर दिया जाता है। कानूनी दृष्टिकोण से 18 वर्ष से कम आयु की लड़की और 21 वर्ष से कम आयु के लडके का विवाह बाल विवाह की श्रेणी में आता है जो कानूनन अपराध है और एक सामाजिक समस्या भी है।

10.5 राजस्थान में बाल विवाह के कारण

अरवैदिक काल

(1) धार्मिक कारण

हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार कन्या का विवाह बाल्यावस्था में ही करने की सम्मति दी गई है। गोभिलिय गृहसूत्र में इसी प्रकार कम आयु में विवाह करने का आदेश दिया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्या का विवाह रजस्वला होने से पूर्व ही कर देना चाहिए। पाराशर स्मृति और मनु भी कम आयु में विवाह का समर्थन करते हैं। महाभारत में भी यही वाणी ध्वनित होती है। व्यास और वशिष्ठ का भी यही दृष्टिकोण है।

राजस्थान के निवासी हिन्दू धर्म के प्रभाव से प्रभावित हैं। अत: वे भी धर्मानुसार आचरण कर अपनी कन्याओं का विवाह शास्त्र सम्मत तरीके से सम्मान करते हैं।

(2) उपजातीय अन्तर्विवाह

हिन्दू समुदाय हजारों उपजातियों में विभक्त है। प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाह की इकाई है, इस कारण विवाह साथी चुनने का क्षेत्र अत्यंत कम हो गया है तथा माता-पिता अच्छा वर खोना नहीं चाहते। विवाह बडी आयु में करने के कारण वर खोजने में अनेक कठिनाइयां आती हैं, अत: संरक्षक इससे बचने के लिए कम उम्र में ही विवाह कर देते हैं। यही कारण है कि राजस्थान में अक्षय तृतीया पर बाल विवाह बड़ी संख्या में होते हैं।

(3) दहेज प्रथा

वर्तमान में दहेज भी बाल विवाह का बड़ा कारण है। दहेज रूपी दानव से भयभीत माता-पिता सोचते हैं कि जैसे-जैसे कन्या बड़ी होती जाएगी वैसे-वैसे उसके लिए बडी आयु का वर खोजना पड़ेगा। वर की उम्र के साथ उसका सामाजिक स्तर एवं प्रतिष्ठा भी बढती जाती है और उसका मूल्य बढ़ जाता है। वर की प्रत्येक सफलता वर-मूल्य को बढ़ा देती है। अत: अधिक दहेज से बचने के लिए संरक्षक बाल्यावस्था में ही विवाह कर देना उचित समझते हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा राजस्थान में यह स्थिति अधिक दिखाई पड़ती है।

(4) **संयुक्त परिवार प्रथा**

संयुक्त परिवार भी बाल विवाह को प्रोत्साहन देते हैं। हिन्दू-विवाह एक पुरूष तथा एक स्त्री का ही विवाह नहीं होता बल्कि दो परिवारों और दो पीढ़ियों का संबंध भी होता है। इस वजह से वर की योग्यताओं तथा धनोपार्जन क्षमता पर कोई ध्यान न देकर विवाह कर दिया जाता है। इसके अलावा संयुक्त परिवार में बड़े-बुजुर्ग जल्दी से पोते और पड़पोतों का मुँह देखना चाहते हैं ताकि उन्हें स्वर्ग मे प्रवेश करने हेतु सोने की सीढ़ी मिले। राजस्थान में मान्यता है कि अपने जीते जी अपनी चार पीढ़ियाँ (पडपोता) देखने वाला बुजुर्ग मरने के पश्चात् उसके ससुराल पक्ष द्वारा लाई गई सोने की सीढ़ी (जो नमूना भर होती है) के माध्यम से स्वर्ग तक जाएगा। उसका स्वर्ग में

आरक्षण यहां बच्चों के जल्दी विवाह का कारण बन जाता है। परिणामस्वरूप किशोरावस्था तक आते-आते बच्चों के हाथ पीले कर दिए जाते हैं।

(5) **सामाजिक निन्दा**

पिछड़ेपन और पुराने धर्म से जुड़े राजस्थानी समाज में यदि कोई संरक्षक अपनी कन्या का विवाह थोड़ी बड़ी उम्र में करना चाहे तो उसके पडोसी, रिश्तेदार तक उसकी निन्दा करने लग जाते हैं। सामाजिक निन्दा का भय उसे जल्दी विवाह करने पर मजबूर कर देता है।

राजस्थान में जिसके घर में बड़ी लड़की होती है उससे लोग व्यंग्य से पूछते हैं कि तुझे रात को नींद कैसे आ जाती है? अरे जल्दी लडका देखो और बाई के हाथ पीले करो। सारे गुण किसी भी लडके में नहीं मिलेंगे। ज्यादा देर करोगे तो लडकी उम्र भर घर पर बैठानी पड़ेगी।

(6) **कौमार्य भंग होने की शंका**

राजस्थान में हिन्दू संरक्षकों को यह भय अधिक रहता है कि लडकियों का कैमार्य भंग न हो जाए। हिन्दू विवाह की एक प्रमुख शर्त लड़की का कैमार्य होता है। उन्हें यह कलंक न लग जाए। अत: उन्हें बाल विवाह श्रेयस्कर लगता है। यही कारण है कि राजस्थान बाल विवाह में अग्रणी है।

(7) **अशिक्षा**

शिक्षा व्यक्ति को विवेकशील बनाती है और विवेक से तार्किकता विकसित होती है जो अच्छे-बुरे का निर्णय करती है। प्राचीन आश्रम व्यवस्था नष्ट होने के उपरांत भारत में उचित रूप से अनिवार्य शिक्षा स्थापित नहीं हो सकी। फलस्वरूप गृहस्थ जीवन का आरंभ शीघ्र होने लगा।

बाल विवाह इसी का स्वाभाविक परिणाम था। राजस्थान में भी शिक्षा का प्रतिशत कम होने की वजह से यहां बाल विवाह बडी संख्या में होते हैं। पुलिस व प्रशासन के लिए यह एक बडी चुकता है। राजस्थान में अक्षय तृतीया तथा पीपल अधिक महत्व इसलिए भी रखते हैं कि यदि वर तथा कन्या के नाम से अन्य कोइ विवाह का मुहूर्त नही भी बने तो ये दो मुहूर्त ऐसे हैं जो बहुत पवित्र पाये जाते हैं, जिनके लिए किसी पंडित को पूछने की भी आवश्यकता नहीं है। इस तरह के पाँच मुहूर्त होते हैं लेकिन इन दो का महत्व अधिक है। इनको अकुम्भ मुहूर्त बोला जाता है, जिसमें वर तथा कन्या के परिवार व संबंधियों की प्रथम वरीयता गे अक्षय तृतीया ही होती है क्योंकि इस दिन बद्रीनाथ जी के कपाट खुलते हैं तथा इस मुहूर्त में की गई शादियाँ सफल होती हैं।

(8) गरीबी

हर दूसरे साल राजस्थान गे अकाल की स्थिति होती है। विषम भौगोलिक स्थितियों के चलते श्रम चाहकर भी नहीं हो पाता अत: यहां गरीबी ज्यादा है। चूंकि विवाह होगे पर खर्चा अधिक होता है इसलिए गरीब व्यक्ति अपने सभी बेटे-बेटियों का एक साथ एक ही मंडप के नीचे विवाह करके खर्चे रो निजात पा जाता है। एक ही बार में सभी सगे-संबंधियों को भेंट देकर दायित्वों की इतिश्री कर ली जाती है। इस तरह से माता-पिता को प्रति विवाह खर्चा न्यूनतम आता है। अत: बालविवाह खर्चे कम होने की दृष्टि रो संरक्षकों को उचित प्रतीत होता है। राजस्थान में यदि आर्थिक रूप से कमजोर वर्गो में एक ही मंडप में विवाह न हो तो वे मृत्युपर्यन्त कर्जों के बोझ से स्वयं को दबा हुआ पाएंगे क्योंकि इनकी आर्थिक स्थिति काफी कमजोर होती है।

(9) स्त्रियों की गिरी हुई दशा

पुरूष प्रधान समाज पिछडापन, अशिक्षा, जागरूकता का अभाव, गरीबी, धार्मिक कुरीतियाँ जैसे कई कारक स्त्रियों की खराब दशा हेतु उत्तरदायी हैं। इसके अलावा वैदिक युग के पश्चात् समाज में स्त्रियों की स्थिति गिरती चली गई। स्मृतिकारों ने स्त्रियों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता देना उचित नहीं समझा। उनके लिए बाल्यावस्था में पिता का संरक्षण, युवावस्था में पति का संरक्षण और वृद्धावस्था में पुत्र का संरक्षण उचित बताया

गया। फलस्वरूप स्त्रियों के समस्त अधिकार छिनते चले गए और इससे बाल विवाह का मार्ग प्रशस्त होता गया। राजस्थान के संदर्भ गे महिलाओं की स्थिति और भी शोचनीय रही है।

(10) सामाजिक दायित्व से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होने की आकांक्षा

राजस्थान में लड़की का विवाह करना सामाजिक दायित्व समझा जाता है। लड़की के विवाह को गंगा स्नान करने तक की उपमा दी जाती है। अत: विवाह को नैतिक, धार्मिक और सामाजिक दायित्व मानने के कारण संरक्षक इस दायित्व से यथाशीघ्र मुक्त होना चाहते हैं क्योंकि विगत में ग्रामीण, गरीब व पिछड़े समाजों में व्यक्ति के सामने अपने भौतिक अस्तित्व को बचाए रखने की एक बहुत बड़ी समस्या रही है। अत: मृत्यु से पूर्व हर माता-पिता अपने इस दायित्व को पूर्ण करके ही ऊपर वाले के सामने प्रस्तुत होना चाहता है जिससे मृत्यु के समय चैन की मौत मर सकें।

(11) असामाजिक तत्वों का भय

यह कटु यथार्थ है कि सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारों, स्थानीय गुण्डों, निजी सेना के मालिकों, जाति विशेष के सरदारों व अन्य असामाजिक तत्वों से बेटी की इज्जत बचाए रखना मुश्किल बना हुआ है। इस कारण से भी सामान्य व्यक्ति अपनी बेटी की शादी समय से पूर्व करने पर मजबूर हो जाता है। सामाजिक यथार्थ यह है कि एक बार किसी लडकी की इज्जत चली जाने के बाद उसका विवाह होना तो बहुत दूर की बात है, उसका और उसके परिवार का रहना तक मुश्किल हो जाता है। ऐसे में मजबूर परिवार दो बुराइयों में से शीघ्र विवाह की बुराई अपनाना ज्यादा पसंद करता है और राजस्थान अभी इन बुराइयों से जूझ रहा है। वर्तमान में जब हम 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं उसके बावजूद भी राजस्थान में आए दिन असामाजिक तत्वों के दुष्कृत्यों की खबरें समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं जिसमें अश्लील फोटो कांड (अजमेर), शालिनी जडेजा तेजाब कांड (जयपुर) तथा फिल्म अभिनेत्री कंगना की बहिन रंगोली पर तेजाब डालने की घटना राजस्थान की भोली, अशिक्षित, ग्रामीण और गरीब जनता जिसमें को भयभीत करने के लिए पर्याप्त है। वे अपनी कन्याओं को जवान होने तक घर में बिठाने की हिम्मत नहीं कर पाते हैं।

10.6 बाल विवाह के पीछे सामाजिक तर्क एवं उनका खंडन

चूंकि राजस्थान में बालविवाह अत्यधिक होते हैं क्योंकि समाज अपने कुतर्कों से इसे लाभकारी मानता है। समाज द्वारा दिए गए अव्यावहारिक तर्क एवं उनके खंडन निम्न हैं:

(1) समाज यह मानता है कि कम उम्र में बाल विवाह होने से लचीलापन और विचारों में अपरिपक्वता होने की वजह से विवाहित युगल भविष्य में सामंजस्य और अनुकूलन बैठाने में सफल होता है जिससे वैवाहिक जीवन सफल रहता है।

खण्डन: कच्ची उम्र में मन चंचल होता है और उसे जिम्मेदारियों का भी अहसास नहीं होता है। विचारों में अपरिपक्वता रिश्तों की डोर उलझा तो सकती है परन्तु सुलझा नहीं सकती। अत: उस और विचारों में अपरिपक्वता वैवाहिक जीवन में सामंजस्य और अनुकूलन बढ़ाने में सहायक होने की बजाय बाधक ही सिद्ध होगी। कच्ची उम्र में अन्तर्मन में व्याप्त भय शीघ्र दूर होने का नाम भी नहीं लेता।

(2) राजस्थान में ऐसी मान्यता है कि जब तक लड़के का विवाह करके उसे खूंटे से नहीं बांधते तब तक वह अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं समझता। बाल विवाह से उसमें कम उम्र से ही अपनी जिम्मेदारियों का अहसास हो जाता है और वह शीघ्र ही आत्मनिर्भर बनने का प्रयास करने लगता है।

खण्डन: स्थिति पूर्णत: इसके विपरीत है। विवाह न होने की स्थिति में व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने का पूरा प्रयास करता है और जिम्मेदारियां ग्रहण करता है। चूंकि विवाह व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक व सामाजिक

उन्नति में लाभकारी होता है अत: व्यक्ति विवाह करना चाहता है, परन्तु बालविवाह की स्थिति में जब विवाह पहले हो ही चुका होता है तो व्यक्ति कमाने के प्रति इच्छुक नहीं रह जाता और माता-पिता पर ही निर्भर रहता है। राजस्थान में ऐसा भी देखा गया है कि 80 वर्ष का बेटा भी यदि उसके पिता जिन्दा हैं तो दायित्वों से बचा हुआ महसूस करता है और कहता है कि अभी हमारे पिता जिन्दा हैं। यानि पिता का जीवित होना उसे पूरी तरह दायित्वों से निवृत करता है।

(3) समाज बाल विवाह को "नैतिक ह्रास रोकने में प्रभावी मानता है।" उसका मानना है बालविवाह यौवनारम्भ से पूर्व ही हो जाता है और यौवनाराम्भ होने पर ही कामभावना जागृत होती है। अत: दोनों पक्षों को कामभावना शान्त करने का समाज द्वारा स्वीकृत जरिया मिल जाता है और दोनों पक्ष कामभावना शान्त करने के समाज द्वारा अस्वीकृत तरीकों के प्रति आकर्षित होने से बचे रहते हैं। अत: बालविवाह अच्छा है क्योंकि अतृप्त कामभावनाएं यौन अपराधों को बढ़ावा देती हैं।

खंडन: शरीर विज्ञान यह प्रमाणित कर चुका है कि 18 वर्ष से पूर्व माँ बनना, माँ और बच्चे दोनों के लिए हानिकारक है और कम उम्र में विवाह दोनों ही पक्षों के लिए हानिकारक होता है क्योंकि इससे पूर्ण शारीरिक विकास में बाधा आ सकती है तथा अविकसित अंग प्रत्यंग घायल होने पर कभी-कभी कन्या सहवास नहीं कर पाती और ताउम्र माँ नहीं बन सकती।

10.7 बालविवाह से हानियाँ

1. **विवाह एक उपहास :** बालविवाह के कारण विवाह केवल उपहास गात्र समझा जाने लगा। विवाह जीवन की एक महत्वपूर्ण क्रिया है परन्तु बालविवाह के कारण इसका महत्व कुछ भी नहीं रहता। वर-वधू इसे एक त्यौहार या गुड्डे-गुडियों का खेल समझते हैं तथा वयस्क होने पर राजस्थान में अनेक जनजातियों में पुन: विवाह कर लिया जाता है और पुरुष एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियां रखता है। राजस्थान में यह स्थिति उच्च शिक्षित, उच्च व्यवसायरत कतिपय लगाओ में अधिक दिखाई देती है।
   जहां सरकारी कर्मचारी या अधिकारी दो स्त्रियां रखते हैं, एक बाल विवाह वाली और दूसरी बाद में किये गये विवाह वाली। प्रथम बाल विवाह वाली स्त्री चौका-चूल्हा सम्भाल कर संतुष्ट है तथा अपने पति के गलत कार्य की शिकायत तक दर्ज नहीं करती क्योंकि वह अपने पति को परमेश्वर मानती है।

   यद्यपि अब इस तरह के दुष्कर्म के विरुद्ध इन्हीं समुदायों के भीतर सुधारवादी तबके द्वारा आवाज उठाई जा रही है।

2. **विवाह के उद्देश्यों की उपेक्षा:** बालविवाह के कारण विवाह के उद्देश्यों की उपेक्षा होती है। हिन्दू विवाह के उद्देश्य हैं - धर्म, पुत्र प्राप्ति और रति। बालविवाह से इनमें से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती बल्कि राजस्थान के संदर्भ में एक बार विवाह का प्रमाण-पत्र मिल जाने पर वह व्यक्ति अश्लील हरकतें करने हेतु आजाद हो जाता है क्योंकि विवाहित पर समाज व समाज के लोग शक भी नहीं करते।
3. **वर-वधू के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव:** अपरिपक्वता में ही मैथुन शुरू कर देने के कारण वैवाहिक युगल की सेहत पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में मैथुन शारीरिक और मानसिक समस्या पैदा कर सकता है। सवाईमाधोपुर के बजरिया में एक परिवार में कन्या को प्रथम रात्रि में इतना रक्तस्त्राव हुआ कि उसे तुरन्त आपात सेवाओं के तहत अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा और उसके 27 टांके भी आये तथा बहुत समय बाद वह सामान्य और सहज हो पाई।

4. **दुर्बल संतानें:** कम उम्र में संतान होने से न तो वह शारीरिक रूप से सक्षम होती है और न ही मानसिक रूप से विकसित। राजस्थान में पर्याप्त भोजन माँ को नहीं मिल पाने से भी ऐसा होता है। राजस्थान की कतिपय गरीब वर्ग की एवं ग्रामीण महिलाएं जो स्वयं आधा पेट खाना खाती है और जिनका हिमोग्लोबिन 5-7 से अधिक नहीं होता, जो स्वयं रक्त की कमी का शिकार हों, उनसे स्वस्थ संतान पैदा होने की उम्मीद निरर्थक एवं बेमानी है।
5. **स्त्री-पुरूष में असमान अनुपात:** भारत गे लडकियों की कमी का मुख्य कारण बालविवाह है। अल्प आयु में विवाह होने के कारण शीघ्र संतान उत्पन्न होने से स्त्रियों का स्वास्थ्य गिर जाता है और कम आयु में ही बहुत-सी माताओं की मृत्यु हो जाती है।
6. **उचित जीवनसाथी के चुनाव मे बाधा:** बालविवाह के कारण उचित जीवनसाथी का चुनाव नहीं हो। विवाह करना माता-पिता का अधिकार माना जाता है जैसे कि वे अपना विवाह कर रहे हों। बालविवाहित युगल इस महत्वपूर्ण विषय में सोच भी नहीं पाते। ऐसी दशा में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। बच्ची या बच्चा बड़े होकर क्या बनेंगे, धनार्जन क्षमता अर्जित कर पाएंगे या नहीं यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उनका भविष्य सिर्फ संयोग पर निर्भर करता है।
7. **पारिवारिक सामंजस्य स्थापित होने में कठिनाई:** बचपन मै ही विवाह हो जाने के कारण वर-वधू के व्यक्तित्व की भावी विशेषताओं का पता नहीं चलता। ऐसे मै आदर्शवाद से प्रेरित युगल भूमिका का निर्वाह कठिन हो जाता है और पारिवारिक सामंजस्य में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रारम्भ में यह सोचकर कि बड़े होने पर सीख जायेंगे, हल्का लिया जाता है। बाद में उनके व्यवहार में परिवर्तन लाना और उनको एक-दूसरे के अनुकूल ढालना मुश्किल हो जाता है, जो असहनीय भी हो जाता है।
8. **व्यक्तित्व विकास में बाधा:** बाल दम्पत्ति पर पारिवारिक दायित्व शीघ्र आ पड़ता है। मुख्य रूप से लड़कियों पर संतान के पालन-पोषण का भार पड़ जाने से उन्हें शिक्षा प्राप्त करने और अन्य क्षेत्रों में भाग लेने के अवसर नहीं मिल पाते। अत: व्यक्तित्व विकास पूर्णत: नहीं हो पाता। साथ ही साथ अल्पआयु में ही मैथुन प्रवृति जागृत हो जाने पर जीवन का उच्च दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है और व्यक्ति के विकास में कई बाधाएं खड़ी हो जाती हैं। राजस्थान में कतिपय समाजों में विशेष रूप से विवाह अत्यंत अल्प आयु में कर दिया जाता है और लड़कियां नए-नए गहने और कपड़े पाना ही विवाह का अर्थ समझती हैं। उससे ज्यादा उन्हें विवाह का अर्थ ही नहीं पता होता।
9. **वैधव्य का अभिशाप:** बालविवाह के कारण बड़ी संख्या में कन्याएँ विधवा हो जाती है। विधवा शब्द उसकी जिन्दगी के हर सुख को छीन लेता है। या तो उसका पुनर्विवाह नहीं होता और यदि होता भी है तो अधिकांशतया बेमेल विवाह होता है जिसमें वर की आयु 35-55 के मध्य और कन्या की आयु 12-15 तक होती है। इस प्रकार बालविवाह बालवधु के लिए एक अभिशाप बन जाता है क्योंकि इससे वह वैधव्य को झेलने के लिए मजबूर होने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती।
10. **तलाक में वृद्धि :** प्रत्यक्ष वार्ता से कई मामले ऐसे भी देखने में आए हैं कि बालवधु या वर ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए या सामंजस्य न बैठ पाने के कारण तलाक का सहारा लिया है। लड़कों में शिक्षा प्रसार के बढ़ते स्तर के चलते जब वे अपने पैरों खड़े हो जाते हैं तो उन्हें अनपढ़ या अल्प शिक्षित वधू के साथ सामंजस्य में कठिनाई आती है। वे उसे अपनी सामाजिक प्रस्थिति ऊँची उठाने में बाधक समझते हैं। फलस्वरूप या तो उसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा कर दी जाती है या तलाक देकर दूसरी शादी का विकल्प खोज लिया जाता है। अत: बालविवाह आज तलाक जैसी समस्या बढ़ाने गे योगदान दे रहा है जो एक स्वस्थ समाज के लिए हितकर नहीं है।

11. **जनसंख्या वृद्धि :** अल्पायु में विवाह होने से स्त्री का जनन काल और बढ़ जाता है। फलस्वरूप वे लम्बे समय तक बच्चे पैदा करने की क्षमता रखती हैं। परिणाम यह होता है कि पूर्णत: वयस्क होते-होते ही वे दो-तीन बच्चों के माता-पिता बन चुके होते हैं। अत: बालविवाह देश गे जनसंख्या विस्फोट में भी एक अहम् कारक है। राजस्थान में अशिक्षित लोगों में, मजदूर वर्गों में कृषि कार्यों में लगे हुए वर्गों में, आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के परिवारों में परिवार नियोजन के प्रति 'अपराध जैसी सोच' होने के कारण वे जनसंख्या की रोकथाम के किसी उपाय को अपनाने में हिचकते हैं, फलत: जनसंख्या बढ़ती जाती है।

10.8 बाल विवाह को रोकने हेतु उपाय

(1) राज्य द्वारा उपाय

भारत में इस सामाजिक समस्या के खिलाफ सर्वप्रथम मालाकारी, राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे सामाजिक सुधारकों ने आवाज बुलंद की थी। सन् 1846 में विधि आयोग ने दस वर्ष की आयु की पत्नी के साथ यौन संबंधों के निषेध की सिफारिश की। सिफारिश को 1860 ई. में लागू किया गया और भारतीय दण्ड संहिता में यह व्यवस्था की गई कि इसके उल्लंघन पर इसे आपराधिक आक्रमण माना जाए और आजन्म कारावास तक का दण्ड दिया जाए। अधिनियम निरर्थक साबित हुआ क्योंकि हिन्दू पत्नी अपने पति को भगवान मानती है और उसकी आज्ञा का नम्रता से पालन करती है। मैसूर सबसे राज्य था जिसमें विवाह की कम से कम आयु 9 वर्ष संबंधित अधिनियम, 1894 में ही पारित कर दिया गया था।

सन् 1921 में केन्द्रीय स्तर पर सांसद (गिरधारीलाल) ने मांग की कि लडकी का विवाह 11 वर्ष से कम और लड़के का 14 वर्ष से कम पूर्णरूपेण निषिद्ध कर दिया जाए। फरवरी 1922 में राय बहादुर बख्शी सोहनलाल ने केन्द्रीय संसद में विवाह-सहवास के लिए 14 वर्ष की आयुसीगा निश्चित करने का बिल रखा। देश के विभिन्न राज्यों ने इसे करने में रूचि नहीं दर्शायी। यह मामला पुन: 1924 में हरि सिंह गौड़ ने उठाया तो बिल एक प्रवर समिति को सौंप दिया गया जिसने विवाह-सहवास की कम-से-कम 13 वर्ष आयु रखने की सिफारिश की। आयु पर असहमत विधायकगण ने असहमति जताई और सरकार ने बिल पारित नहीं किया। 1925 में नया बिल लाया गया जिसमें भी निम्नतम आयु 13 वर्ष निश्चित की गई। लेकिन विधायकों ने आयु पर पुन: आपत्ति की। अत: 1929 गे शारदा समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने विवाह सहवास आयु 15 वर्ष तथा विवाह की न्यूनतम आयु लडकी के लिए 14 वर्ष और लड़के के लिए 18 वर्ष करने की सिफारिश की तब सरकार ने सिफारिश मानते हुए एक बालविवाह निरोधक अधिनियम क्रियान्वित किया जो 1 अप्रैल, 1930 से सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में लागू कर दिया गया, लेकिन 600 देशी राज्यों से नहीं। सन् 1949 में इसमें पुन: सुधार कर लड़की की विवाह आयु 14 से 15 वर्ष कर दी गई। 1978 में पुन: सुधार कर लड़की की आयु बढाकर 18 वर्ष और लडके की 21 वर्ष तय कर दी गई। सन् 1955 के 'हिन्दू विवाह अधिनियम' में भी यही प्रावधान है। 1929 गे पारित इस अधिनियम को शारदा एक्ट के नाम से भी जाना जाता है। इस अधिनियम के उल्लंघन पर दण्ड का प्रावधान है विवाह स्वयं में वैध है। अधिनियम के अंतर्गत अपराध संज्ञेय है और इसके अंतर्गत माता-पिता, वर, संरक्षक और पंडित के लिए तीन माह का साधारण कारावास और एक हजार का अर्थदण्ड घोषित है परन्तु महिला को कारावास नहीं है। अधिनियम में बालविवाह को रोकने के लिए निषेधाज्ञा भी जारी की जा सकती है लेकिन यदि आरोपित विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है तो इरा अपराध के लिए कोई भी कार्रवाई नहीं की जा सकती।

(2) स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रयास / उपाय

पिछले दस वर्षों को स्वयंसेवी संस्थाओं का दशक कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बहुत-सी गैर सरकारी संस्थाओं, स्वयंसेवी संस्थाओं ने राजस्थान से ऐसे इलाके चिन्हित किए हैं जहां बालविवाह अत्यधिक होते हैं। इन संस्थाओं ने वहां सामाजिक चेतना फैलाकर इसके उन्मूलन में सराहनीय प्रयास किए हैं।

10.9 बालविवाह के विरूद्ध राज्य द्वारा किए गये उपायों की असफलता के कारण

(1) **विवाह हो जाने पर इसे अवैध या त्याज्य नहीं माना जा सकता:** यह कानूनी प्रावधान की कमी है कि एक बार किसी भी प्रकार विवाह हो जाने पर उसे त्याज्य या अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। इरा कारण से लोग इस कानून की अवहेलना करने से नहीं डरते और बालविवाह करते हैं।

(2) **बालविवाह ज्ञातव्य अपराध नहीं माना जाता:** बालविवाह के विरूद्ध पुलिस या अन्य राज्य अधिकारी उस समय तक कोई कार्रवाई नहीं कर सकते जब तक कोई व्यक्ति इसके विरूद्ध प्राथना-पत्र द्वारा इन्हें जानकारी नहीं देता तथा प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट उसकी जांच पड़ताल हेतु आदेश न दे। इसी वजह से राजस्थान में पुलिस थानों के आगे भी बालविवाह हो जाते हैं क्योंकि पुलिस स्वयं तब तक कोई कारवाई नहीं कर सकती जब तक कि उसके पास शिकायत नहीं आए। पड़ोस में रहने वाला कोई व्यक्ति शिकायत करके कानूनी पचडे में फंसना नहीं चाहता। फलत: लोग निर्भय होकर इस प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं।

(3) **बहुत कम दण्ड:** 18-21 वर्ष तक की आयु वाले पुरुष को 15 वर्ष से कम आयु की लड़की के साथ विवाह करने 15 दिन का कारावास और एक हजार रूपए जुर्माना अथवा दोनों हो सकते है। 21 वर्ष से अधिक आयु वाले पुरूष को ऐसा करने पर तीन साल का साधारण कारावास तथा एक हजार रूपए जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है। राजस्थान में इस कुरीति के दुष्परिणामों को देखते हुए यह दण्ड बहुत कम है। अत: बालविवाह करते समय वर पक्ष एक हजार रूपए के जुर्माने से भयभीत नहीं होता और इसे शान से भुगत लेता है।

दण्ड देने की उचित व्यवस्था का अभाव: इस अधिनियग के अनुसार बालविवाह के विरूद्ध जो दण्ड रखा गया है उसका भी उचित रीति से प्रयोग नहीं किया जाता। इस अधिनियम को तोड़ने वालों को अक्सर किसी प्रकार की सजा नहीं मिलती और वह बिना सजा के ही छूट जाते हैं। इस तरह से बालविवाह पर अंकुश की बजाय इसे प्रोत्साहन ही मिलता है।

(4) **विवाह के एक वर्ष पश्चात कार्यवाही संभव नहीं:** बाल विवाह सम्पन्न होने के एक वर्ष पश्चात् न्यायालय इस अपराध पर कोई कार्रवाई नहीं कर सकता। अधिनियग की इस कमी से इसका प्रभाव कम हुआ है।

(5) **गाँवों में संगठित व्यवस्था का अभाव:** बालविवाह विशेषरूप से गांवों में सम्पन्न होते हैं या प्रचलित हैं। लेकिन वही इसे रोकने के लिए सरकार द्वारा किसी भी संगठित व्यवस्था का अभाव है। अधिकांश ग्रामवासी इस कानून के बारे में कुछ जानते ही नहीं हैं और राजस्थान में कतिपय समाजों के सभी समूहों में बालविवाह को ही रिवाज समझकर कम उम्र में ही विवाह निडरता से किया जाता है।

(6) **अशिक्षा:** राजस्थान में विशेषकर गांवों में साक्षरता प्रतिशत अभी भी बहुत कम है और कोई भी कानून शिक्षा के अभाव में सफल नहीं हुआ है। अत: शिक्षा के अभाव में ग्रामीण बालविवाह के कुप्रभावों पर विवेकपूर्वक ध्यान नहीं देते और रूढ़िवादी परम्पराओं का निर्वाह करने में ही अपना कर्तव्य समझते हैं। फलत: राजस्थान गे बालविवाह का अत्यधिक प्रचलन है।

(7) **प्रचार की कमी:** प्रचार के अभाव में किसी भी प्रकार के कानून की सफलता संदेहास्पद है। बालविवाह संबंधी कानूनों का न तो सरकार ने कोई प्रचार-प्रसार किया न ही इस पर समाज सुधारकों ने ध्यान दिया फलस्वरूप कानून पूर्ण, रूप से जनता तक नही पहुंच सका। जनचेतना में इस कानून का समावेश न हो पाने के कारण राजस्थान के नागरिक गांवों में विवाह की कानून द्वारा तय आयु के बारे में भी नहीं जानते। आम नागरिक की मान्यता है कि जब लड़का मिल जाए तथा जब आपके पास पैसे हो तभी कन्या का विवाह कर दो।

(8) **धार्मिक विश्वास बालविवाह के पक्ष में:** जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि प्राचीन स्मृतिकारों और धर्मशास्त्रों ने बालविवाह को प्रोत्साहन दिया और इसका गुणगान किया। भारत जैसे धर्मप्रधान देश में लोग कानून की अवहेलना तो आसानी से कर सकते हैं परन्तु धार्मिक मान्यताओं की नहीं। इस प्रकार इस अधिनियम पर धर्म अभी तक भारी है। कार्ल मार्क्स का कथन राजस्थान के संदर्भ में पूरी तरह से सही साबित हो रहा है कि धर्म एक अफीम है जिसके सेवन के बाद व्यक्ति नशे में उचित-अनुचित का आकलन नहीं कर पाता और धर्म का अंधानुकरण करता रहता है। फलत: जो व्यक्ति अपने बच्चों का विवाह समय पर नहीं करते उनका जीना दूभर हो जाता है। वह यह सोचने को मजबूर हो जाता है कि इतने लोगों को कब तक जवाब देगा। यहां तक कि उसका समाज में उठना-बैठना मुश्किल हो जाता है। वह मजबूर होकर लोकमत की अवहेलना करने से पहले सौ बार सोचता है और कानून की अवहेलना आसानी से कर देता है। राजस्थान में कतिपय समाजों के लोग अधिकांशत: अविकसित गांवों में रहते हैं जहां कानून की जानकारी न होने के कारण, शिक्षा का अभाव होने के कारण, दुर्गम बसावट तथा कर्जे में दबे होने के कारण ग्रामीण परम्पराओं का उल्लंघन करना उल्लंघन व अपने पूर्वजों का अपमान समझते हैं। फलत: पुरखों की परम्पराओं का निर्वहन करते हुए बालविवाह की प्रथा को कायम रखते हैं।

अत: स्पष्ट है कि अनेक दोषों व नीतियों के सही क्रियान्वयन न होने के कारण राज्य इस कुप्रथा को खत्म करने में नाकाम रहा है।

।

10.10 गौना प्रथा की अवधारणा

समाज में विवाह को जितना महत्व दिया जाता है उसके समकक्ष ही गौने के रिवाज को महत्व दिया जाता है। इसका महत्व इस रूप में भी अधिक माना जाता है कि माता-पिता द्वारा लडकी की बाल्यावस्था में शादी किन्हीं परिस्थितियों में कर भी दी गई है तो गौना उसी अवस्था में किया जाएगा जब वह वयस्क हो जाए अथवा अपने शारीरिक कार्य स्वयं करने लायक हो जाए। चूंकि राजस्थान भी गांवों में बसता है और गांव में अधिकतर सका प्राथमिक होते हैं अत: गौने के अवसर पर भी लडकी वाले अपने रिश्तेदारों को आमंत्रित करते हैं। गौने का आलम यह है कि विवाह में ले जाने वाली बारात की लगभग आधी संख्या गौने में भी पहुंचती है अत: व्यवस्था संभालने और मान-मनुहार करने वाले रिश्तेदारों की आवश्यकता भी होती है।

10.11 राजस्थान में गौना प्रथा

राजस्थान के कतिपय समाजों में गौने से अभिप्राय द्वितीय विवाह से है। अर्थात् शादी के समय के रीति-रिवाजों का दूसरे रूप में निर्वहन। राजस्थान में गौने को 'मुकलावा' भी कहा जाता है। जिसमें लड़की वाला अपनी लड़की को दहेज में वह सभी जरूरी सामान देता है उसे एक नई गृहस्थी में प्रवेश करते समय आवश्यकता होती है ।

राजस्थान में लडकी के विवाह के समय पीली चिट्ठी लडकी वाला देता है। लेकिन गौना किस सावे और किस मुहूर्त में होगा है यह वरपक्ष की ओर से तय किया जाता है। उच्च जाति में विवाह के चार-छह महीने तक यदि वरपक्ष से गौने संबंधी कोई पत्र या खबर नहीं आती है तो यह वधू पक्ष के लिए चिंता का विषय हो जाता है। अनुसूचित जाति और जनजाति में वयस्कता प्राप्त करने के पश्चात् भी वरपक्ष गौना करने नहीं आता है तो समाज के लोग का वधू पक्ष पर ही अंगुली उठाते हैं कि दहेज पसंद नहीं आया, लडकी पसंद नहीं होगी, जोडा सही नहीं बैठा आदि।

राजस्थान में गौने वाले का पक्ष के यहां दोपहर या शाम के समय पहुँचते हैं। वधू पक्ष के यहां रात्रि भोज करके वहीं रात्रि विश्राम करते हैं और सुबह कन्या को विदा करवा कर ले जाते हैं। गौना कराने आने वाले सभी सदस्यों को वधू पक्ष वाले उपहार स्वरूप वस्त्र इत्यादि देते हैं। गौने में ही गृहस्थी का सम्पूर्ण सामान दिया जाता है जिसका लड़की को विदा करने से पूर्व उसके पीहर में ही गली-मोहल्ले, गांव या खेडा में प्रदर्शन किया जाता है जिसे दिखावा कहते हैं। गांव की स्त्रियां, मोहल्ले तथा समाज की स्त्रियां व रिश्तेदार जब गौने में दी जाने वाली वस्तुओं का दिखावा देखने आते हैं तो अपने संबंधों के अनुसार साड़ी-ब्लाऊज, समान, उपहार या रूपए दिखावा देखकर लड़की को देते हैं जिससे दहेज का समान और अधिक बढ़ जाता है। राजस्थान में इस रिवाज के पीछे यह मान्यता है कि इस प्रकार के रस्मों से गौना करने वाले पर जो वजन पड़ता है उसमें सहयोग हो जाता है जिससे जब उनके शादी या गौना करने का समय आए तो ऊन्हें भी समाज के लोगों की सहायता मिले क्योंकि थोड़ा-थोड़ा रूपए निकालना आसान होता है और समय आने पर दुगुना-चौगुना होकर वापस मिल जाता है। इस प्रकार की भावना एक ओर जहां सहयोग की भावना को दर्शाती है वहीं दूसरी ओर एकता व आत्मीयता का बोध भी कराती है। यही कारण है कि इसे दूसरा विवाह कहा जाता है।

इस सबके बावजूद, 'गौना' प्रथा बहुधा एक भव्य आयोजन में तब्दील हो जाती है जिसका वित्तीय भार वधू के पिता को ही सहन करना होता है। लड़की की सास, ननद तथा सम्मानित रिश्ते-नाते वाले लोगों के लिए वस्त्र (लहंगा ओढ़नी या साडी-ब्लाऊज) पगलगी (धनराशि) लड़की को दी जाती है जो वह ससुराल में जाकर पृथक-पृथक चरण स्पर्श करके उन्हें देती है। सम्माननीय स्त्रियां व लोग उसे आशीष वचन देते हैं। गौने से लाई गई सामग्री का वरपक्ष द्वारा पुन: दिखावा किया जाता है। वधू द्वारा लाया गया सामान जितना अधिक होता है वह वधू और उसके ससुराल पक्ष की प्रतिष्ठा बढ़ाता है। विवाह के बाद लड़की दो-तीन दिन पश्चात् ही पीहर लौट जाती है जबकि गौने के बाद लडकी बीस दिन से तीन-चार माह तक ससुराल में ही रहती है। गौनावली हो जाने पर जब बहू पहली बार रसोई में भोजन पकाती है तब उसके ससुराल वाले बहू द्वारा बनाए पकवान खाकर 'नेग' देने की रस्म अदा करते हैं। दिया जाने वाला नेग परिवार की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। धीरे-धीरे वधू घर की जिम्मेदारियां संभालना शुरू कर देती है जिससे पता चलता है कि वह कुशल गृहिणी है अथवा नहीं। राजस्थान गे अलग-अलग जातियों में गौने का समय अलग-अलग होता है।

10.12 सामूहिक विवाह कि अवधारणा

आज सामूहिक विवाह प्रथा राजस्थान के हर समाज में दृष्टिगोचर होती है। सामूहिक विवाह नामक प्रत्यय अपने आप में काफी विविधता समेटे हुए है। विशेषकर राजस्थान के गांवों और पिछड़े क्षेत्रों में सामूहिक विवाह का स्वरूप, शहरों में होने वाले विवाह के स्वरूप से काफी भिन्नता रखता है। राजस्थान के गांवों गे गरीबी, पिछड़ापन, धार्मिक विश्वास और अशिक्षा जैसे कई कारकों की वजह से कम उम्र में ही एक ही घर-कुनबे में कई बच्चों का विवाह एक ही मण्डप में साथ-साथ कर दिया जाता है जो सामूहिक विवाह कहलाता है। गांवों में होने वाले इस सामूहिक विवाह के पीछे सबसे बड़ा कारण गरीबी है और गरीबी के बाद शिक्षा का अभाव, गौना प्रथा, धार्मिक विश्वास और सामाजिक असुरक्षा की भावना जैसे कारण खडे नजर आते हैं।

10.13 राजस्थान में सामूहिक विवाह

सामूहिक विवाह में पूरा गांव और रिश्तेदार एक साथ एकत्र होते हैं। विवाह में सगे- संबंधियों को लेने-देने के रस्मों रिवाज एक ही बार में पूरे कर लिए जाते हैं। गांव वालों का तर्क होता है कि इससे बार-बार विवाह करने में होने वाला खर्च और लेन-देन बचता है। खेती या अपना व्यवसाय छोड़कर बार-बार वर या वधू ढूंढने में समय व खर्च से भी निजात मिलती है।

अत: राजस्थान के गांवों में जहां बालविवाह सामान्य है वहां सामूहिक विवाह घर-कुनबे के व्यक्ति ही मिलकर करते हैं और इसका स्वरूप व उद्देश्य शहरों में प्रचलित सामुहिक विवाह से अलग होता है। सामूहिक विवाह अस्तित्व में कैसे आए इसका कोई ठीक-ठीक प्रमाण मौजूद नहीं है। माना जाता है कि ये आदिवासियों में प्रचलित "समूह विवाह" से अस्तित्व में आए।

ऐसा माना जाता है कि समूह विवाह का यह प्रकार बदलते कारक जैसे औद्योगिकीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण और आधुनिकरण के प्रभाव से प्रभाव से धीरे-धीरे सामूहिक विवाह में परिवर्तित हो गया होगा।

सामूहिक विवाह की परिभाषा पर गौर करें तो उसमें इसकी पुष्टि होती है।

"जब एक मंच एक से अधिक विवाहोच्छुक युवक व युवती अपना पंजीयन करवाकर निर्धारित तिथि पर अपना-अपना परिचय दें और लड़का या लड़की अपने योग्य वर अथवा वधू से रूचियों की समानता के कारण या उनके गुणों से प्रभावित होकर उनका वैवाहिक जीवन निर्वाह करने की इच्छा जाहिर करें, जिसे तत्काल पाणिग्रहण संस्कार द्वारा या बाद में पाणिग्रहण संस्कार पूर्ण कर विवाह बंधन स्वीकारा जाए, ऐसे आयोजन सामूहिक विवाह कहलाते हैं।"

विवाह हर व्यक्ति के जीवन की वह सीढ़ी है जिसके सहारे उसका और सामाजिक असितत्व बनता है। विवाह आयोजनों के स्वरूप और विवाह सम्पन्नता के रीति-रिवाजों में भी सदैव परिवर्तन होता रहा है। सामूहिक विवाह प्राचीनकाल से ही सर्वश्रेष्ठ विवाह की पद्धति है। इसके प्रचलन का प्रभाव भगवान राम और उनके तीनों भाइयों, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के सामूहिक विवाह जो क्रमश: सीता, माण्डवी, उर्मिला और श्रुति कीर्ति के साथ हुआ था में देखा जा सकता है। सामूहिक विवाह में परिचय सम्मेलन का और अधिक गहन इसलिए बढ़ जाता है कि युवक-युवतियों का पारस्परिक परिचय एवं अभिभावकों का मिलन व परिचय उनके जज़्बात को सही अंजाम देने में सहायक होते हैं।

आज सामूहिक विवाह समारोहों के चलन ने इन सैकड़ों निराश हताश दिलों में उम्मीद की किरण बिखेरी है जो कि विवाह न होने को अपनी नियति मान चुके हैं। यह समारोह बदलते वक्त के सूचक हैं। यही कारण है कि समाज के भामाशाह इसके लिए आर्थिक सहयोग देते हैं। सभी के लिए समान भोजन, आवास, घोड़ी, बैंड-बाजे, सरकार, स्टेज, पाण्डाल, सामान, भेंट आदि की व्यवस्था की जाती है। थोड़े समय का यह मेल-मिलाप विचारों के आदान-प्रदान का केन्द्र भी बनता है। आज फिजूलखर्ची रोकने, दहेज का लेन-देन समाप्त करने, आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग और जरूरतमंद विवाह के इच्छुक युवक-युवतियों के लिए आयोजित सामूहिक विवाह हर जातीय समाज में समानता का भाव जगा रहे हैं। महंगाई की मार ने एकल विवाह सरकार को ऐरावत हाथी बना दिया है। हालात ये हैं कि बेटी के हाथ पीले करने की सोचने पर ही पिता का रंग पीला पड़ जाता है। यही कारण है कि प्रारम्भ से सामूहिक विवाह सिर्फ अल्प वर्ग के लोगों तक ही सीमित थे।

सामूहिक विवाह के पीछे यह सुनियोजित सोच दिखाई पड़ती है कि कठोर परिश्रम से कमाया हुआ पैसा व्यर्थ नहीं जाए और समाज के सभी सदस्यों को साथ लेकर चला जाए। सामूहिक विवाह में समाज सामूहिक रूप से समानता व शालीनता के साथ नैतिक दायित्व का निर्वहन करता है और वर-वधू पक्ष को आर्थिक दृष्टि से सम्बल प्रदान करता है। इससे न तो कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से कमजोर होता है और न ही उसे अनावश्यक ऋण-भार सहन करना है।

परिवर्तनशील समय की मांग है कि युवक-युवतियों के बंधन में बंधने से पूर्व उनका परिचय अवश्यंभावी हो ताकि वे एक-दूसरे को समझने का प्रयास करें। युवक-युवती परिचय सम्मेलन का भी यही उद्देश्य है। वर्तमान समय में जब समाज 21 वीं सदी में पदार्पण कर चुका है, उच्च जाति, उच्च शिक्षित, सभ्य व उन सामाजिक

प्रस्थिति वाले परिवारों में भी समय धन व परेशानी से निजात पाने हेतु इन्होंने इस प्रथा को अपनाना प्रारंभ किया है जो सामूहिक विवाह के फायदों के प्रति लोगों का आकर्षण ही है।

राजस्थान में सामूहिक विवाह की प्रथम भव्य शुरुआत खण्डेलवाल समाज ने की। लगभग सन् 1992 में खण्डेलवाल समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति राधेश्याम सौखियां ने दहेज प्रथा पर प्रहार करने और फिजूलखर्ची रोकने की दिशा गे सामूहिक विवाह आयोजित करने की कल्पना की। वर्ष 1993 में आधुनिक स्वयंवर की तर्ज पर जयपुर के चौगान स्टेडियम में इसका आयोजन हुआ। स्वयंवर में हिस्सा लेने वालों को पंजीयन कराना पड़ता है। जिसके लिए समाज पंजीयनकर्त्ता से नाममात्र की राशि लेता है। एक विवरण के जरिये सभी विवाह के इच्छुक प्रत्याशियों का मय फोटो सम्पूर्ण विवरण प्रकाशित किया जाता है। ताकि इसके माध्यम से अभिभावकों को अपने बच्चों के लिए सुयोग्य जीवन साथी तलाशने में मदद मिल सके। यहां हर उम्मीदवार को उपयुक्त साथी की तलाश करने का बहुत विस्तृत विकल्प होता है।

संभवत: यह पूर्व में प्रचलित एक ही घर परिवार की एक से अधिक बहिनों का दूसरे पक्ष के एक से अधिक भाइयों के साथ एक ही मण्डप में व एक ही मुहूर्त पर किए जाने वाले विवाह का ही विस्तृत रूप है जो पहले घर परिवार तक ही सिमट कर रह गया था उसे वर्तमान में तार्किकता की कसौटी पर परखने के बाद सभी समाजों में गणमान्य सदस्यों या पदाधिकारियों ने अपनी-अपनी जाति, उपजाति व जनजाति में न केवल अपनाया बल्कि उसका उच्चस्तरीय प्रचार-प्रसार भी किया। यही कारण है कि खण्डेलवाल समाज का अनुसरण करके महावर समाज, अग्रवाल समाज, जैन समाज, ब्राह्मण समाज, यादव और सिन्धी समाज ने इसे अपनाया और प्रतिवर्ष वे इस प्रकार का आयोजन करते आ रहे हैं। धीरे-धीरे इसे उानुसूचित जनजाति (मीणा) समाज ने अपनाया और वर्तमान विधायक मास्टर समर्थलाल के अथक प्रयासों से गत वर्ष थानागाजी में एक बहुत बडा सामूहिक विवाह सम्मेलन मीणा समाज के लोगों का आयोजित हुआ जिसमें अधिकारी, सरकारी कर्मचारी एवं सभी स्तर के वर एवं कन्याओं ने अपना रजिस्ट्रेशन कराया। वर्तमान में सामूहिक विवाह समारोह आयोजन में प्रतिस्पर्द्धा के कारण प्रत्येक समाज इसमें मनोयोग व उत्साह से अपने-अपने समाज के सामूहिक विवाह समारोह आयोजन हेतु प्रयासरत हैं।

अमेरिका से आई ईशा ग्राहम यहां का दृश्य देखकर अभिभूत थी। ठीक यही हाल 'संडे' पत्रिका के फोटो एडीटर नितिन राय का था इसके अलावा जी.टी.वी., एन.डी.टीवी., एशियन न्यूज इन्टरनेशनल, पेरिस की फोटो न्यूज एजेंसी 'सिग्मा का भी अनुभूत अद्भुत व रोमांचक था।

आयोजन समिति न केवल विवाह का खर्चा वहन करती है बल्कि प्रत्येक जोड़े को बुनियादी आवश्यकता का सामान भी उपलब्ध कराती है मसलन सिलाई-मशीन डबल-बेड, अलमारी मंगलसूत्र, पायजेब, बर्तन, कपड़े व रोजमर्रा का सामान। विवाहित जोड़ों में हीन-भावना पैदा न हो इस लिहाज से समिति वर पक्ष से रूपए 2100/- और वधू पक्ष से रूपए 1100/- बतौर शुल्क लेती है। जो यह राशि भी देने में सक्षम नहीं हैं समिति उनका भी बंदोबस्त करती है।

खण्डेलवालों के पश्चात् सामूहिक विवाह की इस अवधारणा को लगभग-लगभग सभी जातियों व वर्गों ने अपनाया है। वर्तमान में यह अनुसूचित जातियों, जनजातियों और मुस्लिम धर्म में भी होने लगे हैं।

10.14 बाल विधवा की अवधारणा

बाल विधवा से अभिप्राय यह है कि बाल अर्थात् कम आयु में विधवा। शब्द का सम्मिलित अभिप्राय है कम उम्र में वैधव्य प्राप्ति।

विधवा या वैधव्य स्त्री की उस दशा को कहते हैं जबकि उसका विवाहित पति मृत्यु को प्राप्त हो गया हो तथा वह पुनर्विवाह न करके उसी अवस्था में जीवन व्यतीत कर रही हो। वैधव्य एक प्रकार से हिन्दू समाज में प्राण

युक्त किन्तु मृतक समान जीवन को कहते हैं। कठोर पाबंदियों के चलते विधवाएं वे अभागिन स्त्रियां होती हैं जो जीवित रहते हुए भी मृतक समान होती हैं।

बाल विवाह और वैधव्य में घनिष्ठ संबंध है। बाल विधवा ऐसी स्थिति को कहते हैं जो अल्पायु की हैं या जिनका विवाह बचपन में हो गया हो और उनका पति मृत्यु को प्राप्त हो गया हो तथा वह बिना पुनर्विवाह किए अपना जीवन व्यतीत कर रही हो।

बाल विधवा हो या विधवा समाज की पाबंदियां कम नहीं होती। हिन्दू समाज इन्हें जीने का अधिकार तो देता है परन्तु जीने के साधन नहीं देता।

10.15 राजस्थान में बाल विधवा

राजस्थान में विधवा या बाल विधवा होने पर ससुराल की स्त्रियां जैसे सास, ननद, रिश्तेदार आदि उसे प्रताड़ित करते हैं और उसे डायन, डाकन और नागिन तक कहा जाता है जो उनके पुत्र को खा गई। बाल विधवाओं की यह स्थिति हिन्दुओं की उन जातियों से लेकर निम्न जातियों तक में विद्यमान है। यहां मुसलमान भी इससे उतना ही ग्रसित है जितना हिन्दू। शरीर से जर्जर, मुख से मलिन, नेत्रों रो ज्योतिहीन, आभाहीन निराश और अभागिन नाम लिए हुए वह परिवार में सबके द्वारा उपेक्षा की पात्र होती है। सुबह-सुबह सामने पड़ जाने पर या इसका चेहरा दिखाई दे जाने पर अपशगुन हो जाता है और नेत्र बंद कर लिए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आँख बंद कर लेने की स्थिति के कारण ही समाज को इतने लम्बे समय तक विधवाओं की दयनीय स्थिति दिखाई नहीं दी होगी। राजस्थान में भी इनकी स्थिति कम दयनीय नहीं है।

यहां समाज में वे कन्याएं भी विधवा हो जाती हैं जिन्होंने अपनी माता का दूध पीना भी नहीं छोड़ा। ऐसी अबोध बालिकाओं की संख्या यहां हजारों में है। हालात इस कदर खराब हैं कि उसे शुभ कार्यो से दूर रखा जाता है और बात-बात पर प्रताड़ित किया जाता है। इसकी स्वयं की संतानों के विवाह एवं शुभ कार्यो तक में उसका भाग लेना वंचित कर दिया जाता है। उसकी जगह समस्त रस्मों-रिवाज घर की अन्य सुहागन महिलाऐं करती हैं।

न केवल राजस्थान में बल्कि सारे भारत में किए गए अध्ययन से यह परिलक्षित होता हैं कि लगभग 50 प्रतिशत विधवाएँ 30 वर्ष तक की आयु आते-आते वैधव्य को प्राप्त हो जाती हैं और समाज की रूग्ण मानसिकता के कारण ये नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। राजस्थान में इनकी स्थिति और भी बहत्तर है क्योंकि राज्य अभी तक कई क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ है। यहां की 75 प्रतिशत जनसंख्या कृषि और कृषि से जुड़े व्यवसायों में संलग्न है। बेरोजगारी और अशिक्षा का कहर इस तरीके से व्याप्त है जिसे देखकर लगता है कि यहां के लोगों ने अपनी भूमि के साथ-साथ अपनी बुद्धि को भी जमींदारों व जागीरदारों के पास गिरवी रख दिया है। विधवा होने के बाद रस्मों-रिवाज परिपक्वता के अभाव में बाल विधवाओं द्वारा खेल-खेल में पूरे कर दिए जाते हैं। हकीकत तो यह है कि उस समय तक उन्हें यह भी पता नहीं होता कि मृत्यु क्या है और उनके लिए यह बात गंभीरता से होती है। जब तक उन्हें ये कुरीतियां समझ में आती हैं तब तक वे स्वयं अर्थहीन हो चुकी होती हैं।

बचपन में ही विधवा हुई बाल विधवा से भी समाज यह उम्मीद करता है कि वह कठोर संयमित जीवन बिताए, श्रृंगार न करे, सादा कपड़े पहने, नए वस्त्र न पहने, और तो और उसके सार्वजनिक रूप से बोलने और हंसने तक पर पाबंदी लगा दी जाती है। राजस्थान के कई समाजों में तो बाल विधवा को खाना भी कम खाने को दिया जाता है। घर में मिष्ठान पकवान बनने के बावजूद उसके हिस्से में सादा भोजन ही आता है। साधारण, कम नमक मिर्च का, कम घी तेल की सब्जी, सादी-बासी बिना घी लगी रोटी यही भोजन उसे दो समय या पूरे दिन गे एक समय खाने को दिया जाता है। इसके पीछे यह भावना रही है कि आधा पेट भरकर व कठिन परिश्रम करवाकर उसकी इन्द्रियों का दमन कर दिया जाए जिससे कामोत्तेजना उसे परेशान न करे और भटकने से उसे बचाया जा सके। इस तरह से मरने वाला तो मर जाता है परंतु समाज उसकी विधवा को जीते जी मार देता है।

बाल विधवा का सामाजिक जीवन तो समाप्त ही हो जाता है। उसके शुभ या मांगलिक अवसरों पर भाग लेने समाज पर समाज उसे लांछन लगाने पर उतर जाता है। उसका नाम 'कुलटाओं' की श्रेणी में लिख दिया जाता है। राजस्थान में पति की मृत्यु होने पर उसकी विधवा को अस्थि प्रवाह के समय अथवा गंगा जी जाने पर या तो सारे बाल कटवाने पड़ते हैं या रस्म की एक लट तो कटवानी ही पड़ती है। वहीं वह अपने बिछुए (चुटकी) भी उतार आती है।

बाल विधवा चूंकि बहुत कम उम्र में विवाहित होती है और इन्हें दुर्भाग्य से जल्दी वैधव्य का सामना करना पड़ता है। अत: ऐसी स्थिति में शुरू से अंत तक शिक्षा उनके पहलू से छूट जाती है और बिना शिक्षा की स्थिति में स्वावलम्बी होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाल विधवा होने की स्थिति में उसे पीहर वापस भेज दिया जाता है और उसकी सम्पत्ति पर उसे कोई अधिकार नहीं दिया जाता। पीहर में भी उसकी नियति का दोष मानकर उसके साथ उपेक्षित व्यवहार किया जाता है। पीहर में उसकी कई निजी सम्पत्ति नहीं होती। उसे शुरुआत में जिंदगी माता-पिता के सहारे और बाद में भाई-भाभी के सहारे गुजारनी पड़ती है। यदि उसे अपनी सम्पत्ति का अधिकार बोध है तो भी उसे लोकलाज के भय के कारण अपने हक की आवाज दबानी पडती है। राजस्थान की बाल विधवाओं का इससे अधिक दुर्भाग्य क्या होगा कि उसके जन्म देने वाले माता-पिता उससे किनारा कर लेते हैं। उसके पीहर वाले सोचते हैं कि भाई-भतीजों को पालने के लिए और चूल्हा तथा झाड़ू पोछा करने के लिए बाइजी नहीं रखनी पड़ेगी।

यहां समाज उनके धार्मिक जीवन पर बहुत जोर देता है। राजस्थान में उनसे बहुत कठोर व्रत के लिए कहा जाता है ताकि उन्हें अगले जन्म में ऐसा न भुगतना पड़े। "गंगा नहाओ और गंगा जल पीओ" यही उनका जीवन रह जाता है। समय के साथ निकटवर्ती धर्मस्थल या तीर्थ ही उनके लिए उपयुक्त बता दिया जाता है जहां बहुत सी विधवाओं को अपना शेष जीवन बिताना पड़ता है। बाल विधवा के पुनर्विवाह की यदि बात उठती भी है तो उसके लिए सर्वप्रथम उसके ससुराल पक्ष द्वारा ही वर ढूँढा जाता है। अधिकांशत: वह शादी-शुदा और अधिक उम्र का होता है। उसके पुनर्विवाह के लिए बाहर वर ढूँढना न के बराबर होता है। घर के किसी सदस्य के साथ ही पुनर्विवाह जो 'नाता प्रथा' कहलाता है, भी करने की रिवाज है। यह पुनर्विवाह बिल्कुल सामान्य होता है। इसमें विवाह की तरह कोई संस्कार नहीं निभाए जाते।

राजस्थान में उच्च जातियों के अलावा कुछ जातियों में विधवा होने पर उसे प्राय: देवर की चूड़ी पहना देते हैं और घर की बहू घर में रख ली जाती है जिसे नाता बैठना या पल्ला पकड़ना कहते हैं। इसके पीछे यह सोच है कि घर की बहू घर में ही रहें क्योंकि विवाह दो व्यक्तियों का नहीं दो परिवारों का रिश्ता भी है। ऐसा करते समय वे देवर की उम्र का भी ध्यान नहीं रखते। देवर कितना ही छोटा हो सकता है। यहां तक की अवयस्क होने पर जब तक वह वयस्क नहीं होता विधवा अपने पिता के घर पर रहती है और वयस्क होने पर उसको देवर द्वारा 'सादा समारोह' में चूड़ा पहनाकर उसके 16 श्रृंगार कर पुन: सुहाग प्रदान कर दिया जाता है। भील जनजाति में इस प्रथा को दापा कहते हैं। इसके विपरीत मुसलमानों में विधवा मुस्लिम महिला से निकाह तभी किया जाता है जब दोनों की रजामन्दी हो।

अत: हम पाते हैं कि बाल विधवा समाज में मानवीय नाते से कोई आदर नहीं पाती जिसकी वह अधिकारिणी होती है। इसी वजह से समाज-सुधारकों और समाजशास्त्रियों ने इसे सामाजिक समस्या घोषित किया है।

10.16 सारांश

इस इकाई में हमने राजस्थान में बाल-विवाह, सामूहिक विवाह, गौना प्रथा तथा बाल विधवा प्रथा के बारे में जानकारी हासिल की है। छोटी-छोटी बालिकाओं का छोटी उम्र में विवाह हो जाना ही बाल विवाह कहलाता है। इस बाल विवाह की पृष्ठभूमि में धार्मिक कारण, दहेज प्रथा, सामाजिक निंदा, कौमार्य भंग होने की चिंता आदि कई कारण हैं जो बाल विवाह के लिए जिम्मेदार हैं। बाल-विवाह को रोकने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं किन्तु अभी भी आखातीज जैसे पर्वों पर बहुत संख्या गे बाल-विवाह समान होते हैं। गौना प्रथा से तात्पर्य दूसरी बार विवाह से है जिसमें शादी के समय के रीति-रिवाजों का दूसरे रूप में निर्वहन किया जाता है। गौने के रूप में वधू पक्ष द्वारा वर पक्ष को कपड़े तथा रकम दी जाती है और यह एक समारोह के रूप गे परिलक्षित होता है। आज सामूहिक विवाह राजस्थान के हर समाज में दृष्टिगोचर होता है। सामूहिक विवाह के अंतर्गत एक ही जाति के बहुत सारे लड़के व लडकियों का विवाह सम्मिलित रूप से किया जाता है। इस विवाह से आर्थिक ख़र्च काफी कम होता है क्योंकि सभी लोग वैवाहिक खर्च को सामूहिक रूप से विभाजित कर लेते हैं। कम उम्र में विवाह करने के पश्चात् जब उसके पति की मृत्यु हो जाती है तो वह स्त्री बाल-विधवा कहलाती है। यह परंपरा राजस्थान में सदियों से चली आ रही है। विधवाओं की परिवार तथा समाज में सामाजिक स्थिति बहुत ही निम्न होती है और उन्हें कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

10.09 बोध प्रश्न

1. बाल विधवा की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

2. राजस्थान में बाल विधवाओं की स्थिति पर टिप्पणी कीजिए।

3. 'नाता प्रथा' क्या होती है?

4. बाल विधवाओं को किस तरह का जीवन बिताना होता है ?

10.15 संदर्भ सूची

1. आहूजा, राम (2006), सामाजिक समस्याएं, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स।
2. गुप्ता, एम.एल. तथा डी.डी शर्मा (2006)ए, भारतीय सामाजिक समस्याएं, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स।
3. राजोरा, सुरेश चंद (2000), समकालीन भारत की समस्याएं, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
4. जैन, रमेश तथा नाथूलाल गुर्जर (2006), सूचना का अधिकार, अपेक्षाएं एवं चुनौतियाँ, जयपुर, सबलाइम पब्लिकेशन्स।
5. तिवाडी, वाई.के. एवं कैलाश चंद शर्मा (2003), हिन्दू विधि, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

विधवावस्था की समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 विधवावस्था का अर्थ एवं अवधारणा

11.3 विधवा पुनर्विवाह: मान्यता एवं वैधता

11.4 विधवावस्था की समस्याएं

11.5 विधवाओं के प्रति उत्पीड़न के कारण

11.6 विधवाओं के प्रति हिंसा एवं उत्पीडन को रोकने के उपाय

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.10 संदर्भ सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- विधवावस्था का अर्थ एवं अवधारणा समझ पायेंगे।
- विधवापुनर्विवाह के बारे में जान पायेंगे।
- विधवावस्था की समस्या के बारे में जान पायेंगे।
- विधवा महिलाओं के उत्पीड़न के कारण एवं इनको रोकने के उपायों के बारे में समझ पायेंगे।

11.1 प्रस्तावना

विवाह की धार्मिक पवित्रता को बरकरार रखने के लिए वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी का साथ-साथ रहना आवश्यक माना जाता है। दाम्पत्य अधिकार पति-पत्नी दोनों को प्राप्त होते हैं। हिन्दू शास्त्र के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। पति अपनी पत्नी को अपने परिवार का हिस्सा मानकर उसके भरण-पोषण की जिम्मेदारी पूरी करता है। वैवाहिक जीवन में पति एवं पत्नी दोनों को समान दर्जा प्रदान किया गया है। दूसरी तरफ, समाज में नारी को उत्पीड़न, अत्याचार, दुर्व्यवहार, हिंसा एवं अपराध भी सहन करना पडता है। कभी-कभी आकस्मिक कारणों से पति की मृत्यु शीघ्र हो जाने पर पत्नी विधवा हो जाती है और उसे विधवा का जीवन जीना पडता है। जो सामान्य जीवन से अलग होता है इसमें विधवा महिला को सामाजिक दृष्टि से एकाकीपन का जीवन व्यतीत करना पडता है। इन्हीं सब स्थितियों के चलते महिला के दाम्पत्य के विभिन्न आयामों की चर्चा हम इस इकाई के अन्तर्गत करेंगे।

11.2 विधवावस्था का अर्थ एवं अवधारणा

पति की मृत्यु होने के बाद महिला बिना दूसरा विवाह किए जीवित रहती है तो वह विधवा कहलाती है और समाज में विधवा की स्थिति में रहना ही विधवावस्था कहलाता है। प्राचीन काल में भारत में विधवा पुन: विवाह को समाज में मान्यता दी गई थी, परन्तु कालांतर में स्थिति बदल गई और विधवा के पुन: विवाह करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। परम्परागत भारतीय समाज में विधवा हो जाने पर वह स्त्री पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी जबकि दुनियां के अन्य समाजों के अंतर्गत विधवा पुनर्विवाह ही स्वीकृत नहीं है, अपितु विवाहित स्त्री भी अपने पति के जीवित रहते हुए भी अन्य पुरूष को पति बना सकती है। यह मान्यता पाश्चात्य देशों में प्रचलित है। भारत में भी वर्तमान में कुछ समाजों के पुरूष वैधानिक प्रावधानों के अनुसार विधवा स्त्री से विवाह करके वैवाहिक संबंध रख सकते हैं।

हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 में पारित किया गया था। इस कानून ने विधवा स्त्रियों को पुन: वैवाहिक जीवन में बंधने की तथा इस पुनर्विवाह के दौरान उत्पन्न संतान को वैधानिक मान्यता प्रदान की थी। विधवावस्था की स्थिति के कई मुख्य प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम विधवा पर विधवावस्था में रहने का मनोवैज्ञानिक दबाव पड़ता है। विधवा स्त्रियों के विरूद्ध हिंसा का प्रयोग मुख्य रूप से देखा जा सकता है। हिंसा की शिकार ऐसी विधवाएँ अधिक होती हैं जो पराधीन होती हैं। विधवा तो कोई भी स्त्री किसी भी उस में हो सकती है। हम विधवाओं को राम आहूजा के अनुसार अध्ययन की सुविधा के लिए तीन श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकेंगे।

(1) विवाह के एक या दो वर्ष बाद ही विधवा होना।

(2) विवाह होने के पांच से दस वर्ष बाद विधवा होना। तथा

(3) 50 वर्ष की उम्र पर या इसके पश्चात् विधवा हो जाना।

समाज में विधवा स्त्री को हेय दृष्टि से देखा जाता है। उसे कई प्रतिबंधों का सामना समाज में रहकर करना पड़ता है। सभी उस की विधवाओं के विरूद्ध हिंसा में उन्हें पीटना, गाली-गलौच, अपशब्दों का प्रयोग, लैंगिक दुर्व्यवहार करना, सम्पत्ति में वैध हिस्से से वंचित करना, विधवा के बच्चों के साथ दुर्व्यवहार, समाज में कई समारोहों में वंचित करने जैसे प्रभाव दिखाई देने लग जाते हैं। शक्ति, सम्पत्ति और कामवासना विधवाओं के उत्पीड़न के महत्वपूर्ण कारक सिद्ध होते हैं। आयु, शिक्षा एवं वर्ग का विधवाओं के शोषण से महत्वपूर्ण पारस्परिक संबंध दिखाई देता हैं। युवा विधवाओं को अधेड़ विधवाओं की अपेक्षा अधिक अपमानित एवं तंग किया जाता है। उनका शोषण एवं उत्पीडन होता है। विधवा के प्रति हिंसा के दोषी अधिकांश मामलों में उसके पति के परिवार के सदस्य ही पाए जाते हैं।

11.3 विधवा पुनर्विवाह : मान्यता एवं वैधता

हिन्दुओं में खासकर विधवा विवाह को मान्यता दिलवाने में राजा राममोहन राय, केशवचंद सेन की सराहनीय भूमिका रही है। आपने विधवा विवाह को कानूनी मान्यता दिलाने के लिए समाज में व्याप्त इस कुरीति का घोर विरोध किया एवं आन्दोलन चलाया था। इस कारण विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिलवाने के लिए हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 संसद ने पारित कर विधवाओं के पुनर्विवाह को वैधानिक दर्जा प्रदान किया था। स्मृतिकाल के बाद आगे तक विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। इस अधिनियम, 1856 के माध्यम से हिन्दुओं में विधवाओं के विवाह में आने वाली सभी वैधानिक अड़चनें निर्धारित कर दी गई हैं।

इस कानून में विधवा पुनर्विवाह को मान्यता एवं वैधानिकता प्रदान की गई है। पति-पत्नी दोनों के जीवित रहते हुए किसी अन्य पुरूष या स्त्री से विवाह कर ले तो उसे भारतीय दण्ड संहिता 1860 की धारा 494 में

द्विविवाह का दोषी माना जाता है। ऐसे दोषी स्त्री या पुरूष के विरूद्ध फौजदारी मामला दर्ज करवाया जा सकता है। परन्तु हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून में ऐसी महिला जिसका पति स्वर्गवासी हो गया हो, वह पुनर्विवाह कर सकती है और ऐसे विवाह के उपरान्त उत्पन्न संतान अवैध (नाजायज) नहीं मानी जाएगी बल्कि जायज मानी गई है। ऐसी विधवा जो अल्पवयस्क हो या नाबालिग हो उसके माता-पिता या संरक्षक की मौखिक या लिखित सहमति लेकर पुनर्विवाह किया जा सकता है पुनर्विवाह के पश्चात् कानून में विधवा को प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह का अधिकार प्राप्त करने से वंचित कर दिया गया है।

राजस्थान में विधवा पुनर्विवाह को मान्यता स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार भी दी गई है। नाता प्रथा एवं चूड़ा प्रथा विवाह के माध्यम से पुन: विवाह करने का प्रचलन इस प्रदेश में विभिन्न अंचलों एवं क्षेत्रों में विभिन्न जातियों में पाया जाता है।

11.4 विधवावस्था की समस्याएँ

वर्तमान युग में विधवा महिलाओं की अनेक समस्याएँ हमारे समाज में व्याप्त हैं तथा विधवा स्त्रियों से संबंधित कई नवीन उदीयमान प्रवृतियां विकसित हो रही हैं जिन्हें सूचना क्रांति के युग में नकारा नहीं जा सकता है। हमें यहां विधवावस्था की समीचीन ज्वलंत समस्याओं को दिग्दर्शित करना होगा तभी जाकर इन समस्याओं का उचित निवारण करने के कदम उठाए जा सकते हैं। इसके लिए हमें सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव की आवश्यकता पर सोचना श्रेष्ठकर रहेगा। विधवावस्था की मौजूदा समस्याएँ या कठिनाइयां निम्न हो सकती है।

(1) हिंसात्मक प्रवृति

हिंसा वास्तविक या काल्पनिक प्रकार के आचरण से संबंधित अभिव्यक्ति को कहते हैं तथा इस अवैध व्यवहार के परिणामस्वरूप किसी प्रकार की व्यक्तिगत क्षति, सम्पत्ति विनाश या किसी व्यक्ति की वारदात में मौत हो सकती है। महिलाओं के साथ भयावह क्रूरता, यातनाएं देना, हत्या, पिटाई, दुर्व्यवहार, बलात्कार, अपहरण, आ हत्या, शिशु हत्या, छेड़छाड़, दहेज के लिए यातनाएं देना, महिलाओं के विरूद्ध हिंसा है।

गृह मंत्रालय के अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार हमारे देश में 47 मिनट बाद एक महिला बलात्कार की शिकार होती है। प्रत्येक 44 मिनट में एक महिला अपहृत होती है तथा प्रतिदिन औसतन 17 दहेज हत्याएँ होती हैं। भारत एवं राजस्थान की महिलाओं की स्थिति कारूणिक है। विधवा महिलाओं के प्रति घरेलू हिंसा की प्रवृति ज्यादा देखने को मिलती है। इसके लिए संसद ने घरेलू हिंसा से स्त्री को संरक्षण अधिनियम 2005 पारित कर दिया है। इस कानून पर राष्ट्रपति की स्वीकृति 13 सितम्बर, 2005 को प्राप्त हुई थी तथा इस कानून को असाधारण राजपत्र में दिनांक 26 अक्टूबर, 2006 को प्रकाशित कर दिया गया है। यह कानून जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर समस्त देश में 26 अक्टूबर, 2006 से लागू हो गया है।

(2) भावात्मक यातना एवं उपेक्षा

विधवा स्त्री को समाज में घृणित भाव से देखा जाता है, उसकी कदम-कदम पर उपेक्षा की जाती है तथा थोड़ी सी बात पर शारीरिक, मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। एक विधवा की यह भी विचारणीय ज्वलंत समस्या है।

(3) अपशब्दों का प्रयोग

विधवा महिला के साथ प्राय: उसके परिवार वाले अपशब्दों का प्रयोग करते हैं। गाली-गलौच करना रोजाना की दिनचर्या में शामिल होता है। विधवा महिला के साथ उसकी स्थिति का गलत फायदा उठाकर अशिष्टता पूर्वक व्यवहार किया जाता है।

(4) लैंगिक दुर्व्यवहार

विधवावस्था को देखा जाए तो यह पाया जाता है कि अधेड़ विधवाओं की बजाय जवान विधवाओं के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार ज्यादा किए जाने की स्वाभाविक संभावना रहती है। वैधव्य जीवन के अभावों का फायदा कोई भी दुष्चरित्र व्यक्ति उठा सकता है।

(5) सम्पत्ति में वैध हिस्से से वंचित करना

विधवा महिलाओं को पति के परिवार के सदस्यों द्वारा उसके बंटवारे में आई सम्पत्ति से बेदखल करने की चेष्टा की जाती है। विधवा को इस प्रकार से विवश किया जाता है कि वह अपने पति का घर छोडकर चली जाए। सम्पत्ति के संबंध में विवाद उत्पन्न कर दिया जाता है। उसके साथ आर्थिक दुर्व्यवहार कदम-कदम पर किया जाता है। राजस्थान राजस्व मंडल के निर्णीत मामलों में कृषि सम्पत्ति में केबल 50 फीसदी महिलाएं ही भूमि प्राप्त कर सकी हैं।

(6) बालकों के साथ दुर्व्यवहार

विधवा महिला की यह भी एक प्रमुख समस्या अवलोकित की जा सकती है। उसके बाल-बच्चों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। ऐसे बच्चों के साथ परिवार में दूसरे बच्चों की अपेक्षा सौतेला बर्ताव करने की प्रवृति महसूस की जा सकती है। विधवा के बाल-बच्चों के साथ खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, खेलकूद, पहनावे एवं शिक्षा में भेदभाव बरता जाता है। अत: यह समस्या भी विधवा को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करती है।

(7) बढ़िया पहनावे पर हतोत्साहन

विधवावस्था की यह समस्या भी खासकर राजस्थान में स्पष्ट अवलोकित की जा सकती है। स्त्री का विधवा होना उसके जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है। विधवा स्त्री को सादगी से जीवन व्यतीत. करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से विवश किया जाता है। एक विधवा की यह भी विकट समस्या है कि वह शान-शौकत तो दूर सुचारू रूप से भी अपना जीवन नहीं गुजार सकती। उसे किसी भी पारिवारिक, सामाजिक एवं सामुदायिक कार्यक्रम में बढ़िया अर्थात् तड़क-भड़क के कपड़े नहीं पहनने दिए जाते हैं। उसके श्रृंगारपरक होने पर भी रोक लगा दी जाती है।

(8) पारिवारिक सदस्यों द्वारा धोखाधड़ी करना

विधवावस्था के दौरान विधवा के साथ धोखाधड़ी होने की समस्या भी एक प्रमुख समस्या रही है। विधवा को पति की सम्पत्ति, जीवन बीमा पॉलिसी, प्रोविडेन्ट फण्ड, व्यापार, हिसाबकिताब प्रतिभूतियाँ आदि के बारे में नगण्य के बराबर जानकारी होने के कारण वह परिवार के बेईमान सदस्यों के षड्यंत्रों की आसानी से शिकार हो जाती है और परिवार के सदस्य पारिवारिक विरासत में मिली सम्पत्ति के फायदों को हड़पने का प्रयास करते हैं। यह धोखाधड़ी की समस्या राजस्थान में पश्चिम-दक्षिण की बजाय उत्तरी-पूर्वी राजस्थान में ज्यादा पाई गई है।

(9) असुरक्षा एवं भय का वातावरण

विधवा महिला को जीवन में सामाजिक, पारिवारिक असुरक्षा एवं भयादोहन के वातावरण का सामना करना पडता है। वह स्त्री अपने परिवार के सदस्यों के साथ जीवन व्यतीत करती है। परिवार में थोड़ी-सी अशांति या झगड़ा फसाद होने की स्थिति में पारिवारिक सदस्यों में अनबन हो जाने के फलस्वरूप उसे असुरक्षा का भय सताने लगता है। कई बार वैधव्य जीवन के अन्तर्गत उसकी लाचारी एवं विवशता की परिस्थिति का लाभ उठाकर उसे डरा धमका कर भयभीत करने की प्रवृति पाई गई है।

(10) परिवार में जिम्मेदारी का बोझ

पति की मृत्यु के बाद यदि उसके बच्चे बड़े नहीं हो गए हों तब तक अपने बच्चों के पालन-भरण-पोषण के निर्वाहन की पूर्ण जिम्मेदारी उस विधवा की ही बनती है। उस विधवा को पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करने में अनेक कठिनाइयों, विषमताओं का सामना करना होता है।

(11) अवसाद एवं तनाव से ग्रसित

विधवा महिला को यदि किसी कार्य या विपत्ति में मित्र, परिजनों आदि से कोई सहायता नहीं मिलती है तो उसे यह स्थिति नागवार गुजरने लगती है। परिवार से परस्पर झगड़ा-विवाद आदि होने की स्थिति में क्लेश पैदा होना स्वाभाविक है। उसे किसी कार्य या लक्ष्य में कामयाबी नहीं मिलने पर हताशा का सामना करना पड़ता है। निराशा के कारण जीवन दुखदायी लगने लगता है। इस कारण मानसिक अवसाद या तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अवसाद उत्पन्न होने पर उस विधवा महिला के वैधव्य जीवन में निराशा के बादल मंडराने लग जाते हैं। परिणामत: वह तनाव से ग्रसित हो जाती है जिसके कारण वह शारीरिक व्याधि का शिकार बन जाती है।

11.5 विधवाओं के प्रति उत्पीड़न के कारण

पूरे विश्व में महिलाओं के खिलाफ हिंसा, उत्पीड़न में अभिवृद्धि हो रही है। भारत में महिलाओं के साथ घटने वाले अपराध प्रतिवर्ष बीस फीसदी बढ़ रहे हैं। समस्त आपराधिक मामलों में से सात प्रतिशत महिलाओं के विरूद्ध घट रहे हैं। महिलाएँ, खासकर विधवाएँ अपने प्रति परिवार एवं समाज का प्रतिकूल माहौल होने के कारण चुपचाप उत्पीडन को सह लेती हैं। विधवावस्था में महिला अपनी झिझक, लोक-लज्जा, शर्मिंदगी एवं भय आदि के चलते पुलिस को अपने विरूद्ध हो रहे अमानवीयतापूर्ण बर्ताव, दुर्व्यवहार, उत्पीडन एवं यातना की शिकायत नहीं कर पाती है।

महिलाओं के विरूद्ध क्रूरतापूर्वक व्यवहार करने पर हालांकि भारतीय दण्ड संहिता एवं स्त्रीय (व्यक्तिगत विधि या कानून) कानूनों में निवारण के लिए दण्डात्मक एवं विवाह विच्छेद का आधार बना दिया गया है। लेकिन भारतीय संसद ने घरेलू हिंसा से स्त्री का संरक्षण कानून 13 सितम्बर, 2005 को पारित कर ऐतिहासिक पहल की है। यह कानून महिलाओं को हिंसा से राहत दिलाने में निश्चित रूप से एक मील का पत्थर साबित हो सकेगा।

निम्नलिखित उत्पीडन के कारण गिनाए जा सकते हैं :-

(1) सम्पत्ति की लालसा

विधवा महिला के साथ उत्पीडन का यह भी कारण बन सकता है कि उसकी सम्पत्ति हड़पने की फिराक में पुरूष सदैव तत्पर रहते हैं। सम्पत्ति के प्रति लोभ लालच भी उत्पीड़न का कारण बन सकता है।

(2) कामवासना को तृप्ति

कई बार यह देखा गया है कि पुरूष विधवा महिला के साथ यौनिक संबंध स्थापित करने की तीव्र तमन्ना के कारण स्त्री को उत्पीड़न / हिंसा का शिकार बना लेता है। इच्छा की पूर्ति नहीं होने के कारण भी पुरूष कामान्ध होकर क्रूरतापूर्ण दुर्व्यवहार अपनाने लग जाता है।

(3) पारिवारिक वैमनस्य

परिवार के संबंधों में सदस्यों के बीच मधुरता बनी रहने पर परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार कायम रहता है परन्तु परिवार के सदस्यों के मध्य यदि कोई कटुता, मनमुटाव, मतभेद उत्पन्न हो तो उस विधवा स्त्री के प्रति वैमनस्य पैदा हो जाता है। परिवार के दो गुटों में दुश्मनी होने पर विधवा स्त्री को उत्पीड़न का कोप भाजन बनना पड़ सकता है।

(4) पितृ सत्तात्मक प्रवृति या पुरूष प्रधानता

प्रत्येक परिवार में अभी भी स्त्रियों के स्थान पर पुरूषों की प्रधानता रहती है। माता की बजाय परिवार में पिता को ही प्रधानता देकर कर्ता माना जाता रहा है। पुरूषों की परिवार पर शासन व्यवस्था प्रबल रूप से स्त्रियों पर हावी रहती है। विधवा महिला की स्थिति तो पति के मरने के बाद और भी कमजोर हो जाती है।

(5) स्त्रियों की पुरूषों पर आर्थिक निर्भरता

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि ज्यादातर परिवारों में पुरूष ही धनोपार्जन करते हैं। अधिकांशत: इस कारण एक विधवा स्त्री को पुरूष सदस्यों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। स्त्रियों की पुरूषों पर आर्थिक निर्भरता बनी रहने से पुरूष द्वारा उस स्त्री को कोपभाजन का भागीदार बनना पड़ सकता है। इस कारण भी स्त्रियों के विरूद्ध पुरूष ज्यादातर उत्पीड़न कारित करने लग जाते है।

(6) अशिक्षा

विधवा महिला के विरूद्ध उत्पीड़न करने का मुख्य कारण स्त्री-पुरूष का अशिक्षित बने रहना भी है। कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति ज्यादा अनाड़ीपन दर्शाता है। सुशिक्षित पति-पत्नी या मानव, निरक्षर व्यक्ति की बजाय कम उत्पीडन का भागी बनता है।

(7) विधवा महिला के प्रति विद्वेष

विधवा महिला के पीछे किसी पुरूष सदस्य का संरक्षण कम ही देखा गया है। इसके पीछे उस विधवा महिला का पुरूष के प्रति कठोर रवैया भी उत्पीड़न का कारण बन जाता है। कई बार विधवा महिलाओं के विरूद्ध आपराधिक षड्यंत्र रचा जाता है।

(8) परिस्थितिवश अभिप्रेरणा

कई बार परिस्थितियाँ ही उस विधवा के विरूद्ध बन जाती हैं कि व्यक्ति उसके विरूद्ध अपराध कर बैठता है। मान लीजिए कोई स्त्री अकेली अंधेरी रात्रि में वीरान स्थान से गुजर रही हो तो वहां उपस्थित व्यक्ति परिस्थिति का फायदा उठाते हुए बलात्कार करने के लिए उत्पेरित हो जाता है। खेत, कारखाना या खान में स्त्री के अकेले होने पर भी मालिक उसके साथ अवैध संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। विधवा स्त्री के प्रति किसी पुरूष की प्रवृति और भी घातक सिद्ध हो सकती है।

(9) अपराधी के प्रति नरमी

अनेक अवसरों पर अपराध की शिकार विधवा महिलाएँ अपने विरूद्ध किए जा रहे अपराध को बर्दाश्त करती रहती हैं और वे अपने विरूद्ध घट रहे अपराध के प्रति निष्क्रिय बनी रहती हैं। पुलिस, अदालत या अन्य लोगों की मदद लेने की चेष्टा तनिक मात्र भी नहीं करती हैं। ऐसी दशा में अपराधी को निरंतर उसके विरूद्ध अपराध करने की प्रेरणा मिलती रहती है और ऐसा व्यक्ति उस विधवा स्त्री के प्रति ज्यादा अपराध करता चला जाता है।

(10) नशोत्तेजना

ऐसे पुरूष जो मदिरापान के आदी बन चुके हों या अन्य प्रकार के मादक द्रव्य सेवन से ग्रसित हों वे प्राय: विधवा स्त्री के विरूद्ध अत्याचार करते हैं। नशे में धुत व्यक्ति ही जब अपने घर जाता है और उस विधवा से कोई कहासुनी हो जाती है, तब वह गाली-गलौच एवं पीटने पर उतारू हो जाता है। कई बार यह देखा गया है कि अपराध करने हेतु साहस बटोरने के लिए भी व्यक्ति शराब का सेवन करता है। इस प्रकार नशे के दौरान उत्पन्न उत्तेजना से भी उस विधवा महिला को उत्पीड़न का शिकार बनना पड़ता है।

(11) पारिवारिक तनाव

परिवार में कोई चिन्ता उत्पन्न होने पर व्यक्ति तनावपूर्ण स्थिति में हो जाता है। पारिवारिक तनाव भी महिलाओं के प्रति अत्याचार के लिए उत्तरदायी है। जब पति-पत्नी के स्वभाव में सामंजस्य एवं सौहार्द नहीं होता

है, तो पति के मरणोपरान्त भी वह विधवा स्त्री चिन्ता से तनावग्रस्त हो सकती है। विधवा का परिवार के सदस्यों के प्रति अनुकूल रवैया नहीं अपनाने पर, या विरोध करने पर, पुरूष द्वारा उस विधवा पर जुल्म ढाए जाते हैं।

(12) सामाजिक कुप्रथाएँ

भारत में अनेक कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। इसी प्रकार राजस्थान जैसे प्रान्त में भी बालविवाह, विधवा पुनर्विवाह का अभाव, पर्दा प्रथा, सतीप्रथा आदि कुप्रथाएं अपनी जड़ें पसारे हुए है। इन सभी कुप्रथाओं का शिकार विधवा महिला को बनना पड़ सकता है और इन अत्याचारों को महिलाओं को झेलना पड़ सकता है। आज भी राजस्थान में कतिपय समाजों में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन पर रोक है। उक्त सभी वर्णित कारण महिलाओं के प्रति अत्याचार या उत्पीड़न कारित करने के आधार होते है।

11.6 विधवाओं के प्रति हिंसा एवं उत्पीड़न को रोकने के उपाय

हिंसक प्रवृतियों को अहिंसकता में बदलाव लाने की आवश्यकता पर हम यहां बल दे सकते हैं। हिंसा को रोकने के निम्न कारगर उपाय अपनाए जा सकते है।

(1) आश्रय की व्यवस्था

विधवा महिलाओं के प्रति हिंसा की प्रवृति के निवारण के लिए यह जरूरी हो गया है कि सरकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों द्वारा महिलाओं के रहने के लिए शरणास्थल या आश्रय स्थलों की उचित व्यवस्था की जाए। ऐसी विधवा महिलाएं जिन्हें भगाकर ले जाया गया हो, उन्हें मारने की बार-बार परिवार के लोगों द्वारा धमकियाँ ऐलानिया मिल रही हो, उनके साथ नित्य प्रतिदिन उत्पीड़न हो रहा हो, तो ऐसी स्थिति में ऐसी उत्पीड़ित महिलाओं के लिए स्थायी, अस्थायी या सुरक्षित आश्रय स्थल निर्मित किए जाने चाहिए।

(2) वैचारिक परिवर्तन

विधवा महिलाओं के विरूद्ध क्रूरतापूर्ण अत्याचारों पर निजात पाने के लिए लड़कियों के माता-पिता के विचारों में परिवर्तन लाना आवश्यक होगा। कई बार विधवा के विरूद्ध परिवार के सदस्य दुर्व्यवहार करते हैं व उसे यातनापूर्ण जिन्दगी व्यतीत करने को विवश करते हैं। विधवा को अपने दमन एवं शोषण के विरूद्ध जागरूक रहते हुए आगे आना चाहिए। विधवा महिला को पति के घर में रखने की मान्यता में परिवर्तन लाने की जरूरत महसूस की गई है।

(3) महिला संगठनों की प्रभावी सक्रियता

पीड़ित महिलाओं के प्रति हो रहे उत्पीड़न पर रोक लगाने के लिए, उन्हें कानूनी एवं आर्थिक मदद देने, आत्मविश्वास जागृत करने के लिए ज्यादा से ज्यादा महिला संगठनों की स्थापना कर उन्हें प्रभावी सक्रियता दर्शानी होगी। ऐसे महिला संगठन विधवा के ससुराल पक्ष वालों से वार्तालाप करके, उन पर सामाजिक एवं नैतिक दबाव डालते हुए उत्पीड़न की समस्या का अविलम्ब समाधान करने का प्रयत्न करें यही श्रेष्ठ होगा। सामूहिक दबाव डालकर ही हिंसा की प्रवृति पर रोक लगाई जा सकती है।

(4) कानूनी सहायता एवं परामर्श

पीड़ित विधवा महिलाओं को निशुल्क विधिक सहायता उपलब्ध करानी चाहिए तथा विवादों के निपटारे के लिए, उचित कानूनी सलाह एवं सहायता के लिए सरकार वकील नियुक्त करे जो उस विधवा महिला की तरफ से पैरवी करे। विधवा महिलाओं का जीवन सुखी बनाने के लिए सरकार द्वारा उपलब्ध सहायता एवं विधिक परामर्श का लाभ देना चाहिए। निशुल्क विधिक सहायता के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39-क में नई व्यवस्था की गई है।

(5) महिला थानों एवं न्यायालयों की स्थापना

विधवा महिलाओं के प्रति हिंसा एवं अपराधों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए महिला पुलिस थाने एवं मामलों की सुनवाई आसानी से करने के लिए अधिकाधिक न्यायालयों की स्थापना करना आवश्यक है। महिला थानों एवं अदालतों में महिला पुलिसकर्मी एवं महिला न्यायाधीशों की नियुक्ति होनी चाहिए। महिलाओं से संबंधित बलात्कार जैसे प्रकरणों में बहस के समय नियत सुनवाई बंद कमरे में किए जाने की व्यवस्था कर दी गई है।

(6) अधिकाधिक दण्ड देने के प्रावधान

महिलाओं के विरूद्ध किए गये अपराधों में अधिक से अधिक दण्ड देने की व्यवस्था करनी चाहिए। जो व्यक्ति या परिवार विधवा औरत को परेशान करने पर अमादा है उसकी सामाजिक निन्दा करनी चाहिए ताकि अन्य लोगों को सही समय पर उचित सबक मिल सके।

(7) शिक्षा की समुचित सुविधा

स्त्रियों पर अत्याचार होने का एक प्रमुख कारण अशिक्षित होना है। इसे रोकने के लिए स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार को बल दिया जाना जरूरी है। जो कोई भी स्त्री आगे पढ़ना चाहती हो, उसके लिए निशुल्क शिक्षा एवं व्यावसायिक तथा अन्य प्रकार के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था करनी आवश्यक है। शिक्षित महिला होने पर उसके आत्मविश्वास में वृद्धि होगी जिससे वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बन सकती है।

(8) रोजगार की व्यवस्था

आर्थिक कमजोरी का होना भी स्त्रियों के लिए बाधक है। वह अपने बच्चों एवं स्वयं हेतु ससुराल पक्ष वालों पर निर्भर रहती है। विधवा महिलाओं के लिए उचित रोजगार या नौकरी दिलवाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। रोजगार मिलने पर उस स्त्री के आत्मविश्वास में वृद्धि होना स्वाभाविक है। अत: हिंसा की प्रवृति को रोकने के लिए रोजगार भी एक कारगर उपाय हो सकता है।

(9) पुनर्विवाह को प्रोत्साहन

विधवा स्त्रियों के जीवन में आशातीत खुशी लाने के लिए उनका पुनर्विवाह अपेक्षित कर दिया गया है। इसके लिए हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून सन् 1856 में पारित किया जा चुका है। राजस्थान में कुछ समाजों ने विधवा के पुनर्विवाह कराने की प्रथा को अपनी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत प्रचलित कर लिया है। राजा राममोहन राय एवं केशवचंद सेन ने विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए समाज सुधार का बेड़ा उठाया था।

(10) व्यापक जनचेतना फैलाना

विधवाओं के प्रति उत्पीड़न को रोकने के लिए समाज में व्यापक स्तर पर जनचेतना एवं जागरूकता बढ़ाना आवश्यक हो गया है। जनचेतना के अभाव में समाज में जागरूकता प्रसारित एवं प्रचारित नहीं की जा सकती है। अत: महिलाओं के विरूद्ध हिंसा को रोकने के लिए समाज में व्यापक जनचेतना फैलाने की जरूरत तीव्र हो गई है।

(11) महिलाओं को सशक्त बनाना

महिलाओं को हमेशा शक्ति, विद्या एवं सम्पत्ति की देवी के रूप में माना गया है। महिलाओं को उनकी शक्ति के अनुभव को बताने की जरूरत हो गई है। महिला के विरूद्ध उत्पीड़न का वह विरोध करे, संगठित होकर आंदोलन करे। महिला का अस्तित्व रहने पर ही पुरूष का समाज में अस्तित्व रहेगा। महिला शक्ति के रूप में राष्ट्रशक्ति मानी गई है। महिलाओं में आत्मविश्वास एवं आत्मबल को जागृत कर उन्हें सशक्त बनाया जाना चाहिए।

(12) उचित सुरक्षा एवं पुनर्वास

विधवा होने पर महिलाओं को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह सुरक्षा एवं पुनर्वास के अभाव में उत्पीडन का शिकार बन जाती है। हिंसा होने की दशा में महिलाओं को सुरक्षा एवं पुनर्वास की जरूरत पड़ती है। विधवा महिलाओं को रखने के लिए सुरक्षित स्थान पर छात्रावास की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए ताकि ऐसी महिलाएं सुरक्षा महसूस कर सकेंगी।

(13) उत्पीड़न निवारणार्थ जनमत बनाना

जनमत का प्रभाव कानून से भी ज्यादा होता है। दृश्य-श्रव्य माध्यमों को महिलाओं के विरूद्ध हो रही हिंसकता को मुख्यतया उजागर करना चाहिए। अपराधियों का सामाजिक बहिष्कार करके उन्हें महिला विरोधी एवं राष्ट्र विरोधी करार देने संबंधी जनमत तैयार करना चाहिए।

(14) महिला विकास प्रकोष्ठ की स्थापना

न्यायालय या सरकार द्वारा महिला के विरूद्ध हिंसा की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करवानी चाहिए। महिला प्रकोष्ठ की स्थापना अलग से सरकार को करनी अपेक्षित है। महिलाओं को भी महिला संगठनों के बारे में उचित जानकारी देनी चाहिए, तब जाकर महिलाओं के विरूद्ध उत्पीड़न को रोका जाना संभव हो सकता है।

(15) महिलाओं को और अधिकार सम्पन्न बनाना

विधवा महिला के विरूद्ध की जा रही हिंसा की प्रवृतियों एवं आदतों को रोकने की वर्तमान युग में तीव्र आवश्यकता है। इसके लिए महिलाओं के पक्ष में ज्यादा अधिकार दिए जाने चाहिए।

11.7 सारांश

दाम्पत्य अधिकार का अर्थ होता है कि विवाह के पश्चात् पति- पत्नी साथ-साथ रहें। हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में से विवाह एक प्रधान संस्कार है। पति-पत्नी के लिए विवाह होने के पश्चात् अधिकार निर्णय में संरक्षित किये गये हैं। दाम्पत्य अधिकारों को दम्पति के वैवाहिक अधिकारों के रूप में परस्पर साहचर्य, सुविधा एवं स्नेह संबंधी अधिकार के रूप में परिभाषित किया गया है।

हिन्दू विवाह को सिविल संविदा के रूप में परिवर्तित करने में हिन्दू विवाह संशोधन, कानून, 1976 ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। विवाह के समय वर की उम्र 21 वर्ष एवं वधू की उम्र 18 वर्ष निर्धारित की गयी है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पति-पत्नी के विवाह का पंजीकरण करवाना अनिवार्य कर दिया गया है।

हिन्दू विवाह कानून 1955 की धारा-9 में दाम्पत्य अधिकार पुनर्स्थापन के लिए आवश्यक अपेक्षाओं या लक्ष्यों को बताया गया है। इसमें बताया गया है कि किन्हीं कारणों से अगर पति पत्नी अलग-अलग रहने लग गये हों, उनमें मनमुटाव हो गया हो तो इन दोनों के मध्य आपसी समझौता करवाकर दोनों साथ-साथ रहने लगें यह प्रयास किया जाये।

राजस्थान में क्षेत्रों के अनुसार और समाजों के अनुसार विधवा पुनर्विवाह के रीति-रिवाज प्रचलित हैं। इनके द्वारा विधवा महिला दुबारा विवाह करके अपने जीवन का सुचारू रूप से निर्वहन कर सकती है।

विधवा महिलाओं को कई समस्याओं का सामना करना पडता है जैसे- हिंसा की, भावात्मक यातना का, अपशब्दों का, मारपीट का, लैंगिक दुर्व्यवहार का, सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है, इससे बच्चों का शोषण हो सकता है। उनके उत्पीडन के कई कारण हैं जैसे महिला का निर्बल होना, सम्पत्ति की लालसा, कामवासना, पारिवारिक वैमनस्यता, अशिक्षा, सामाजिक कुप्रथाएं आदि। विधवाओं के प्रति किये जाने वाले उत्पीड़न को आश्रम की व्यवस्था करके, महिला संगठनों की प्रभावी सक्रियता से, कानूनी सहायता एवं संरक्षण से, शिक्षा की समुचित व्यवस्था करने से रोका जा सकता है।

11.8 बोध प्रश्न

1. विधवावस्था की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

2. विधवा पुनर्विवाह की मान्यता तथा वैधता पर एक टिप्पणी लिखिए।

3. विधवावस्था की समस्याओं पर एक लेख लिखिए।

4. विधवाओं के प्रति उत्पीड़न के कारणों की विवेचना कीजिए।

11.9 संदर्भ सूची

6. आहूजा, राम (2006), सामाजिक समस्याएं, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स।
7. गुप्ता, एम.एल. तथा डी.डी शर्मा (2006)ए, भारतीय सामाजिक समस्याएं, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स।
8. राजोरा, सुरेश चंद (2000), समकालीन भारत की समस्याएं, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ।
9. जैन, रमेश तथा नाथूलाल गुर्जर (2006), सूचना का अधिकार, अपेक्षाएं एवं चुनौतियाँ, जयपुर, सबलाइम पब्लिकेशन्स।
10. तिवाडी, वाई.के. एवं कैलाश चंद शर्मा (2003), हिन्दू विधि, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

श्रमिको की समस्याऐं : संगठित और असंगठित क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य:

12.01 प्रस्तावना

12.02 श्रम समस्याओं का वर्गीकरण

12.03 श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने के कारण

12.04 भारत में श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने का कारण,

12.05 औद्योगिक श्रमिकों की समस्याऐं।

12.06 कृषि श्रमिको का अर्थ

12.07 कृषि श्रमिकों की समस्याऐं

12.08 बन्धुआ मजदूर

12.09 औद्यौगिक श्रमिकों की स्थिति सुधारने के प्रयास

12.10 कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के प्रयास

12.11 सारांश

12.12 शब्दावली

12.13 बोध प्रश्न

12.14 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

1.संगठित और असंगठित श्रमिकों में श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने को कारण जान सकेंगे |

2.औद्यौगिक श्रमिकों की समस्याओं से अवगत हो सकेंगे |

3.कृषि श्रमिकों का अर्थ और उनकी समस्याओं, बन्धुआ मजदूर, औद्यौगिक श्रमिकों और कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के उपायों को जान सकेंगे |

12.01 प्रस्तावना :

किसी देश की आर्थिक स्थिति वहां के निवासियों के अथक श्रम में ही निहित होती है। प्राकृतिक सम्पत्ति की प्रचुरता से सम्पन्न देश भी पर्याप्त एवं कुशल श्रम के अभाव में मनोवांछित प्रगति नहीं कर सकता। चाहे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान हो या उद्योग प्रधान, श्रम के महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। भारत कृषि प्रधान देश है, परन्तु कृषि से सबका पेट नहीं भरता। जमीन थोड़ी है, जनसंख्या अधिक है, भूमि पर जनसंख्या

का दबाव बढ़ता जा रहा है। देहातों में जो कृषि करते है वे भी साल के कुछ महीने बेकार रहते है। काफी मात्रा में ग्रामीण भूमिहीन है और उन्हें मजबूरन दूसरे किसानों की भूमि पर खेती करनी पडती है। औद्यौगिकरण के कारण बडे–बड़े कारखाने और मशीनें चालू रखी हुई हैं और वहां काम करने के लिए मजदूर रखे जाने लगे। उनके कार्यो को न तो निश्चित घण्टे होते है और न निश्चित पगार। उनका जीवन स्तर भी काफी निम्न है। इस प्रकार जैसे ग्राम्य जीवन में खेती और किसान दो पात्र होते है, उसी प्रकार शहरी जीवन में मशीन और श्रमी दो पात्र होते है। पहले जैसे कृषि के साथ किसान नाम का वर्ग था, वैसे पूछ' क्रांति के साथ श्रमिक नाम का वर्ग उत्पन्न हो गया। श्रमिक भी कई प्रकार के है। जैसे – चाय बागबान में कार्य करने वाले फैक्टरियों, खानों, रेले, यातायात, भवन निमार्ण आदि क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिक होते है। श्रमिकों में कुछ संगठित होते है और कुछ असंगठित होते है। संगठित श्रमिक रहन सहन का स्तर सुधारने की दृष्टि से राष्ट्रीय स्तर पर संगठित और निरन्तर प्रयास करते रहते है। श्रम संगठनों का उदय औद्यौगिक के कारण हुआ और जैसे–2 औद्यौगिक करण बढ़ता जाता है, वैसे–2 श्रमिक संगठनों की भी वृद्धि हो जाती है। सामान्यत: श्रमिक वर्ग ग्रामीण क्षेत्र से औद्यौगिक क्षेत्र की ओर जाता है तब वे स्वयं को बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करते है। यदि उचित वातावरण और उचित सुविधायें श्रमिकों को प्राप्त नहीं होती, तो वे संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते है।

औद्यौगिक श्रमिक संगठित श्रमजीवियों के अन्तर्गत आते है। श्रमिकों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो गांव में काम करने वाले उन व्यक्तियों का है जो कि खेती के धन्धे में मजदूरी पर काम करते है। भारतीय ग्राम्य जनता का एक बहुत बड़ा भाग इन्हीं कृषि श्रमिकों का है। इनमें भूमिहीन कृषक, सीमान्त कृषक, बन्धुआ मजदूर आते है। ये लोग अलग–अलग गांवों में बिखरे रहते है। इसलिए इनका परस्पर संगठन नहीं हो पाता है और इस प्रकार यह औद्यौगिक श्रमिकों की तरह अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए अपने स्वामियों से संगठित होकर अपने अधिकारों की बात नहीं कर पाते है। इस प्रकार यह वर्ग असंगठित श्रमिक कहलाता है। इस इकाई में हम संगठित और असंगठित दोनों वर्गो के श्रमिकों की समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

12.02 श्रम समस्याओं का वर्गीकरण.

(अ) मजदूरी सम्बन्धी समस्यायें :

मजदूरी का आशय उत्पादन कार्य में श्रम की सेवा के लिए चुकाये जाने वाले पुरस्कार से है। मजदूरी ही वह धुरी है जिस पर अधिकांश श्रम समस्यायें चक्कर काटती है। यह सेवायोजक के लिए लागत के रूप में होती है किन्तु श्रमिक के लिए आय। मजदूरी ही श्रमिक के जीवन–निर्वाह का मुख स्त्रोत है। उसका कल्याण और उसकी कुशलता मजदूरी पर निर्भर है। वही उसके लिए, उसके परिवार के लिए प्रमुख आकर्षण है। इसी कारण इसने श्रम के क्षेत्र में अनेक जटिल अर्थ प्राप्त कर लिए हैं। सेवायोजकों श्रमिक उसे अलग–अलग दृष्टिकोणों से देखते और इसी महत्ता व उपयोगिता को मापने के लिए उनके पैमाने भी अलग–अलग है। मजदूरी स्थान–प्रति–स्थान, उद्योग और समय–समय पर विभिन्न पाई जाती है। जीवन निर्वाह लागतों, मुद्रा एवं वास्तविक आय के सूचक अंकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगी कि अधिकांश श्रमिकों को जीवन–निर्वाह से भी कम मजदूरी मिलती है। श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने के लिए प्रयास किये जा रहे है।

(ब) संघवाद सम्बन्धी समस्यायें :–

सामूहिक सौदाकारी (Collective Baragaining) संघवाद का प्रमुख कृत्य है, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों द्वारा एक उत्तम मजदूरी, एक उत्तम कार्य दशा, एक उचित कार्य–अवधि, रोजगार की सुरक्षा आदि की मांग की जाती हैं। इन अधिकारों के लिए मांग का विकास होने में एक लम्बा समय लगा है। अब यह औद्यौगिक सम्बन्धों की संहिता का रूप ले चुके है। संघवाद का चरम परिणाम अन्तराष्ट्रीय श्रम संघ स्थापना है। श्रमिक संघों से केवल

अधिकारान्तर्गत और अधिकारेत्तर क्रिया–कलापों की ही अपेक्षा नहीं जाती है वरन् उन्हें देश की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के प्रति भी सजग रहना पड़ता है। भारत जैसे विकासोन्मुखी देशों में संगठित श्रम उद्योग, परिवहन, खनन, बागानों, और वाणिज्यिक संस्थानों में पाया जाता है किन्तु कृषि में श्रमिक यंत्र–तंत्र बिखरे होने के कारण असंगठित बने है जिससे ये लोग अपनी कठिनाइयां दूर कराने में सफल नहीं हुए हैं और न इनके लिए कुछ सुधार किया ही जा सका है।

सामूहिक सौदाकारी और औद्यौगिक जनतन्त्र की समस्या सबसे अधिक जटिल हो गई है। सामान्यत: देखा गया है कि कोई भी समाधान सेवायोजकों और कर्मचारियों को समान रूप से सन्तोषप्रद नहीं होता। सत्य तो यह है कि समस्याओं के वास्तविक समाधान के सम्पूर्ण ढंग विफल हो गये है। और जो ढंग अपनाया जाता है वह कोई समाधान खोजने की अपेक्षा समस्या को स्थगित करने का महत्त्वपूर्ण ढंग बन गई है। यदि संगठित श्रम की उपेक्षा की जाए, तो निश्चय ही प्रत्येक मोर्चे पर समस्यायें बहुगुणित हो जायेंगी। फलस्वरूप औद्यौगिक की गति धीमी पड़ जाएगी और जीवन–स्तर ऊंचा न उठ सकेगा।

(स) रोजगार की सुरक्षा से सम्बन्धित समस्यायें :–

बेकारी, अर्द्ध बेकारी, छिपी हुई बेकारी और रोजगार ये सब यथार्थ में औद्यौगिक धारणायें है और हमारी नगरीय जनसंख्या में इनका प्रसार अधिक है। ही, अल्प रोजगार (या अर्द्ध बेकारी) और छिपी हुई बेकारी कृषि अर्थ–व्यवस्था में अधिक प्रबल है। बेकारी का विचार मात्र ही एक श्रमिक के सुख और नैपुण्य को हानि पहुंचाने वाला है जबकि वास्तविक बेकारी तो सामाजिक दोषी है और शोषण का प्रमुख स्त्रोत है। हमारी पीढ़ी मजदूरी पर निर्भर रहने वालों की है। मजदूरों की आकांक्षायें, योजना, क्रिया और यहां तक कि रहन–सहन का तरीका भी मजदूरी से सम्बद्ध है। यदि किसी श्रमिक को रोजगार सम्बन्धी सुरक्षा प्राप्त नहीं है, तो उसके परिवार का भविष्य, बालकों की शिक्षा एवं उसके समुदाय का कल्याण कुप्रभावित होगा।

बेरोजगारी का आर्थिक पहलू श्रमिक के सामाजिक, नैतिक और यहां तक कि मानसिक पहलू से भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होता है। एक बेकार श्रमिक अनेक बुरी आदतों का शिकार बन जाता है और उसकी प्रतिभायें कुछ कुंठित हो जाती है। रोजगार की सुरक्षा निम्न कारणों से खतरे में पड़ गई है: (अ) जनसंख्या में तेज वृद्धि, (ब) ग्राम उद्योगों की समाप्ति, (स) औद्यौगीकरण की धीमी प्रगति, (द) अनेक आधुनिक तकनीकों का प्रचलन और (य) विवेकीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि तथा जनसंख्या का विस्थापन। बेकार व्यक्तियों के अनेक वर्ग है, जैसे–औद्यौगिक बेरोजगार, कृषिक बेरोजगार और शिक्षित बेरोजगार। ये तीनों वर्ग श्रम समस्याओं के उद्भव स्थल बने हुए है अर्थात रोजगार सम्बन्धी सुरक्षा का अभाव ही समस्त श्रम समस्याओं का मुख्य स्त्रोत है और रोजगार सुरक्षा के क्षेत्र का अध्ययन किए बिना श्रम समस्याओं के रूभाव को समझना कठिन है।

(द) सामाजिक सुरक्षा का विचार कल्याणकारी राज्य और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में आता है।

सामाजिक सुरक्षा एक व्यापक शब्द हैं। सामाजिक बीमे और सामाजिक सहायता की योजनायें तथा कुछ व्यापारिक बीमे की योजनायें इसकी परिधि में आती है। एक कल्याणकारी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक न्याय का आश्वासन होता है और श्रमिक इसका अपवाद नहीं है। हमारा समाज दो वर्गो में बंटा है–श्रमिक एवं सेवायोजक। हमारे औद्यौगिक समाज के सामने अनेक खतरे है जिनसे कृषिक जीवन लगभग बचा हुआ है। उदाहरणार्थ, बेकारी, अस्थाई अक्षमता, बीमारी, परिवार के कमाऊ व्यक्ति की अकाल मृत्यु जैसी घटनायें श्रमिक और उसके परिवार को अस्त–व्यस्त कर देती हैं। संयुक्त परिवार, ग्राम समाज और जाति निष्ठा जैसी प्राचीन संस्थायें एक असमर्थ व्यक्ति को सहारा देने के लिए अब सक्रिय नहीं रह गई हैं। बदलते हुए सामाजिक ढांचे में इन संस्थाओं के बजाय राज्य ने परम महत्व प्राप्त कर लिया है। राज्य या समाज से यह अपेक्षा की जाने लगी है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा प्रदान करेगा। श्रमिकों को आराम से और उन सुविधाओं के साथ रहने का. जो कि

अन्य वर्गो को प्राप्त हैं, अधिकार है। सामाजिक दृष्टि से भी सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है. क्योंकि जब तक श्रमिकों को रहन सहन के अच्छे साधन उपलब्ध न किये जायेंगे और उन्हें विभिन्न विपत्तियों से न बचाया—जाएगा, तब सामाजिक विघटन और राष्ट्रीय आय की हानि को रोकना कठिन होगा। देखा गया है कि रोग औद्यौगिक क्षेत्रों में बहुत प्रबलता से विद्यमान हैं। इन रोगों के कारण ही प्रतिवर्ष सैकड़ों परिवार अनाथ बन जाते है। अनेक व्यक्ति अपंगु बन जाते है। अत: जब तक सामाजिक सुरक्षा के प्रावधान न किया जाता, श्रमको के अधिकार की पूर्ति न हो सकेगी। बेकारी एक अन्य औद्यौगिक दोष है, जो कि भीख माँगने, बालकों से लाम लेन, कम मजदूरी, मद्यपान, निराश्रयता एवं व्याभिचारिता को जन्म देता है। औद्यौगिक दुर्घटनाओं, औद्यौगिक बीमारिया, वृद्धावस्था, हड़ताल, तालेबन्दी आदि अन्य दोष है जो कि अत्यधिक ऋणग्रस्तता, कार्यक्षमता की हानि, उत्पादकता में कमी, जीवन–स्तर में गिरावट जैसी समस्याओं को जन्म देते है। ये बुराईयाँ श्रमिकों की निर्धनता और सामाजिक अपराधों का सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

12.03 श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने के कारण

(1) आर्थिक कारण–

पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक तथा श्रम के क्रेता अर्थात् मिल मालिक के बीच प्राय: संघर्ष बना ही रहता है। इन दोनों वर्गो के बीच रस्साकसी का प्रमुख कारण दोनों के हितों में सामंजस्य का अभाव होता है। उद्योग विशेष द्वारा निर्मित माल अथवा राष्ट्रीय आय से श्रमिक तथा मालिक दोनों ही अधिक से अधिक भाग प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि इसी पर उनकी आय का परिणाम निर्भर करता है एवं आय पर ही उनका जीवनस्तर तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री की उपलब्धता निर्भर करती है। फलस्वरूप ऐसी अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत दोनों ही वर्ग अपनी–अपनी आमदनी को बढ़ाने की कोशिश, करते है। जम श्रमजीवी अपनी आय को बढ़ाने के लिए प्रयास करते हैं, तो उन्हें पूँजीपतियों, लेनदारों, अंशधारियों तथा प्रबन्ध आदि द्वारा उठाई गई अनेक आपत्तियों का सामना करना पडती है। ये लोग अपने निज के स्वार्थ के कारण यह कभी नहीं चाहते कि श्रमिकों को राष्ट्रीय आय में अधिक भाग दिया जाएं जहां यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है जम बाजार में श्रम व पूँजी के बीच श्रम का मूल्य (अर्थात् मजदूरी की दर) निर्धारित कर दिया जाता है, तो फिर दोनों पक्षों में संघर्ष क्यों पैदा होता है? यदि निष्पक्ष भाव से स्वतन्त्रापूर्वक मांग व पूर्ति के नियमों के आधार पर मोम का मूल्य निर्धारित किया जाए तो सम्भवत: संघर्ष का इतना विशाल रूप हमारे सामने उपस्थित न हो, जैसा आज देखने में आता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि आज बाजार एकाधिकारियो तथा एकाधिकारी वातावरण से परिपूर्ण रहता है। यही नहीं, ऐसा भी देखा जाता है कि रेलवे–समय–सारणी की भांति श्रमिकों की मजदूरी की दर भी प्राय: परिवर्तित होती रहती है और इस परिवर्तन की श्रमिकों को कोई पूर्व सूचना नहीं दी जातीं,। इसके विपरीत अंशधारियों व प्रबन्धक अधिकर्ताओं आदि को लाभांश का जो भाग दिया जाता है, वह प्राय: होता है। उत्पत्ति के समस्त साधनों का नियत भाग चुका देने के बाद जो कुछ शेष बचता है, उस पर ' 'साहसी' ' का एकाधिकार होता है। पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत ये "बड़े लोग" अपना भाग बढ़ाने के! उद्देश्य से प्राय: श्रमिकों का गला ही काटते हैं।

(2) मनोवैज्ञानिक कारण–

श्रम तथा पूँजी के बीच पारस्परिक संघर्ष के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी उत्तरदायी है। श्रमिक एक मजदूर होने के साथ–साथ "मानव" भी होता। वह भी समाज में रहता है। अत: अपना पेट भरने व तन ढकने के अतिरिक्त उसे भी अपने मान–सम्मान का ध्यान रखना पड़ता है। एक मानव होने के नाते वह यह चाहता है कि समाज में उसको भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाये। उसके कार्य का कुछ। मूल्य हो एवं सभी लोग उसे औद्यौगिक उत्पादन का एक महत्वपूर्ण व उपयोगी अंग समझें। इस दृष्टि से कारखाने के अन्दर भी औद्यौगिक जनतन्त्र की स्थापना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि आज मानवीय सम्बन्ध की समस्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

होती जा रही है। मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली श्रम समस्यायें आधुनिक युग में बहुत अधिक बलवती होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण स्वचालन व यन्त्रों का अत्यधिक प्रयोग है, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो काम नीरस होता जा रहा है और दूसरी ओर श्रमिकों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, सम्मान, ख्याति, महत्व तथा व्यक्तिगत कम होता जा रहा है। श्रम विभाजन व विशिष्टिकरण के कारण आज श्रमिक अनेक वर्गो से विभक्त हो गये है। जो लोग उच्च श्रेणी के तकनीकी कार्यो में संलग्न है। उन्हें तो आदर की दृष्टि से देखा जाता है परन्तु जो श्रमिक निम्न श्रेणी के कार्य करते है, उनकी समाज में लेशमात्र भी इज्जत नहीं होती है। ऐसी भावना श्रमिक को बहुत खलती है। वह चाहता है कि उसको भी समाज में वही सम्मान ' प्रदान किया जाये जो किसी उच्च श्रेणी के तकनीकी कलाकार को दिया जाता है। श्रमिक अपने इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए कभी–कभी हड़ताले भी करते है।

(3) **सामाजिक कारण–**

श्रम समस्याओं के अम्युदय व विकास में कुछ सामाजिक तत्वों का भी योग रहा है। आधुनिक औद्यौगिक युग में कुटीर व लघु उद्योगों का महत्व वृहत उद्योगों की अपेक्षा बहुत कम होता जा रहा है। फलत: औद्योगिक पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ गिने–चुने लोगों के हाथों में पहुंचता जा रहा है। दूसरे, पूँजीपत्तियों की संख्या घटती जा रही है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती जा रही है। श्रम व पूँजी के बीच मतभेदों की गहरी खाई होने के कारण दोनों ही पक्ष एक दूसरे के विचारों से अवगत नहीं हो पाते। यहाँ यह लिखना अनावश्यक न होगा कि मजदूरी की दर पर सरकार का काफी प्रभाव पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के लेनदारों, श्रम संघों, चेम्बर ऑफ कॉमर्स तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओं व व्यक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। अत: स्पष्ट है कि श्रम समस्याओं के अध्ययन के समय यह रखना चाहिए कि इनके ऊपर अधिकार. शक्ति, दबाव तथा अन्य इसी प्रकार के सामाजिक कारणों का प्रभाव पड़ता हैं।

(4) राजनीतिक कारण–

जिस प्रकार किसी देश का शासन प्रबन्ध वहां की सरकार द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार एक उद्योग का प्रबन्ध उसके स्वामी तथा अन्य प्रबन्ध कर्ताओं द्वारा सम्पन्न होता है। जिस देश में निरंकुश शासन होता है, वहाँ की प्रजा को कठपुतली की भाँति तानाशाह के आदेशानुसार काम करना पड़ता है। तानाशाही व्यवस्था के अन्तर्गत देश की शासन व्यवस्था में जनसाधारण का कोई हाथ नहीं होता है। उद्योग–धन्धों की प्रबन्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में भी यही बात लाग होती हैं। उद्योगों में मिल मालिक तथा प्रबन्धक श्रमिकों की भर्ती करते है और अब चाहें उन्हें काम से निकाल देते है। ऐसी दशाओं केवल वही श्रमिक खुश रह सकता है जो सदैव अपने मालिकों की हुजूरी करता रहे। मिल मालिक श्रमिकों को औद्योगिक प्रबन्ध में नेकमात्र भी भाग देना नहीं चाहते। परन्तु वर्तमान प्रजातांत्रिक युग में श्रमिक अपने अधिकारों के प्रति बहुत जागरूक हो गया है। वह चाहता कि उद्योगों के प्रबन्ध में उसका भी हाथ हो तथा उसे अपने जीवन में सम्बकित समस्याओं पर विचार करने एवं परामर्श देने का अधिकार हो।

12.04 भारत में श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने के कारण:

श्रम समस्याओं के उदय का प्रमुख कारण औद्योगिकरण का विकास होना है। भारत में श्रम समस्याओं के उदय के निम्नांकित कारण मुख्य रूप से दायी हैं :–

(1) कृषि अर्थ व्यवस्था का पतन:–

प्रारम्भिक ब्रिटिश काल में भारत गाँवों में निवास करता था और ये गाँव स्वतन्त्र और अपनी आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्म निर्भर ईकाईयाँ थे। गाँवों की अर्थ–व्यवस्था स्वयं स्फूर्तिवान थी। छोटे व बड़े भूमि खण्डों को व्यक्तिगत कृषकों द्वारा जोता और काटा जाता था। सूत घरों में काटा जाता था। गैर–कृषि

आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय दस्तकारों द्वारा की जाती थी। ग्राम अर्थ–व्यवस्था में अदल–बदल का प्रचलन था। कुछ अर्ध– स्वतन्त्र और अ–स्वतन्त्र कृषि श्रमिक भी होते थे। ब्रिटिश शासकों ने अपनी आय बढ़ाने के उद्देश्य से जमींदारी प्रथा प्रचलित की। इस प्रथा द्वारा सरकार भूराजस्व एकत्र करने और जमींदारों का स्थायी समर्थन पाने में सफल हुई। जब कोई किसान अपने करों का भुगतान नहीं कर पाता था, तो तत्काल ही उसे जमींदार द्वारा भूमि पर काश्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था और तब वह अन्य लोगों की भूमि पर आश्रित हो जाता था। जमींदारों की इस कार्यवाही के कारण अर्द्ध–स्वतन्त्र और अ–स्वतन्त्र कृषि श्रमिकों की संख्या बढती गई तथा भूमि थोड़े लोगों के अधीन केन्द्रित होने लगी। कपास एवं जूट जैसी नकद फसलों की खेती शुरू होने से भी इस प्रवृति को बढ़ावा मिला। नकद फसलों को करों के भुगतान में सुविधा की दृष्टि से पसन्द किया जाता था। कुछ जमींदारों ने भी नकदी फसलें उगाने पर ध्यान दिया। इससे अर्द्ध–स्वतन्त्र एवं अ–स्वतन्त्र कृषि श्रमिकों की वृद्धि में और भी तेजी आई। नगद फसलों ने महाजनों को भी आकर्षित किया। ये लोग किसान के लिए फसलों के बिकने तक वित्त–व्यवस्था करते थे। जब कभी अकाल, सूखा या बाढ़ जैसी विपत्ति आती, तो कृषक महाजनों की दया पर ही जीवित रहता और इस प्रकार महाजन उसकी भूमि को हथिया. अथवा उसे सदा ऋण बद्व रखते थे।

(2) भूमि का उपविभाजन एवं अपखंडन:–

विद्यमान जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन ने भी कृषि श्रमिकों की को उग्र बना दिया। उपविभाजन एवं अपखण्डन के फलस्वरूप जोते अनार्थिक बन गई तथा ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का स्वयं स्फूर्ति सम्बन्धी लक्षण समाप्त हो गया। जनसंख्या की वृद्वि ने भी इस अर्थ–व्यवस्था के विस्य,न में योग दिया। अंतत: कृषि बढ़ती हुई जनसंख्या को सम्भालने में असमर्थ हो गई एवं अतिरिक्त जनसंख्या या तो बड़े भूस्वामियों की भूमि पर श्रमिक के रूप में कार्य करने के लिये विवश हुई अथवा वह शहरी क्षेत्रों के उद्योग धन्धों में काम खोजने लगी।

(3) जनसंख्या की तेज वृद्वि –

श्रम समस्याओं में बिगाड़ लाने वाला सबसे उल्लेखनीय घटक है जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्वि होना। भूमि पर जनसंख्या का दबाव सन् 1921 से लगातार बढ़ता गया है। इसने कृषि अर्थाव्यवस्था को अस्त–व्यस्त कर दिया।

(4) भूमि सुधार :

जमींदारी और जागीरदारी प्रणालियों की समाप्ति से भूमि सुधारो ने भी ग्रामीण श्रम समस्याओं को अधिक उग्र बनाया। भूत पूर्व जमींदारों और जागीरदारों ने काश्त करना शुरू किया और कृषि यंत्रीकरण को अपनाया। इन बातों ने भी ग्रामीण श्रमिकों की दशा को अधिक बिगाड़ दिया।

(5) जाति प्रथा–

जाति प्रथा ने भी ग्रामीण श्रम समस्याओं पर प्रभाव डाला है। प्राय: देखा गया है कि निम्न जातियों के लोग ही भूमि रहित श्रमिक होते है। जिन क्षेत्रों में निम्न जातियों के लोगों की अधिक संख्या रहती है वही ग्रामीण श्रमिकों की भी अधिक संख्या पाई जाती है और परिणामस्वरूप समस्यायें भी अधिन होती है।

(6) भारतीय समाज का सामाजिक आर्थिक ढाँचा–

भारतीय समाज के सामाजिक आर्थिक ढाँचे ने भी ग्रामीण श्रम समस्याओं को तीव्र बनाया है। ग्राम समाजों में संयुक्त परिवार और जाति प्रथा का प्रचलन है। जाति प्रथा के कारण लोगों को धन्धे के चुनाव में स्वतन्त्रता नहीं रहती और वे अपने परम्परागत पेशे को अपनाने के लिये विवश होते है। संयुक्त परिवार प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक कमाऊ सदस्य संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों के भरण–पोषण में, न कि अपने तात्कालिक आश्रितों मात्र के लिये योग देता है। वृद्व, अक्षम या बेरोजगार सदस्यों की देखभाल स्तर सदस्यों द्वारा की जाती है। इस प्रकार संयुक्त परिवार एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा योजना है। इस प्रणाली ने औद्योगिक केन्द्रों में प्रवास

होने से रोका है। किन्तु आधुनिक वर्षा में श्रमिक जनसंख्या का औद्योगिक केन्द्रों में अत्यधिक जमाव हो गया है। भूमि विहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ने के कारण अनेक लोग नगरों में रहने और बसने के लिये विवश हो गये है।

(7) उद्योगों की वृद्वि

18वीं शताब्दी के अन्तिम समय में कुटीर उद्योगों का स्थान आधुनिक उद्योगों ले लिया। स्थूल एवं अन्य आधुनिक उद्योग विकसित हो गये। देशी कारीगरी एवं स्वदेशी दृष्टिकोण की बलि चढ़ा दी गई। पहले भारतीय कुटीर उद्योग समृद्व अवस्था थे और ये अतिरिक्त जनसंख्या का भार सम्भाल लिया कराए थे किन्तु अब ऐसा सम्भव न रहा और भूमि पर जनसंख्या का भार पढ़ने लगा।

12.05 औद्योगिक श्रमिकों की समस्यायें

(1) एकता का अभाव–

भारतीय उद्योगों में श्रमजीवी प्राय: बहुत दूर–दूर से काम करने आते हैं। ऐसे बिरले ही नगर हैं जिन्हें निकटवर्ती क्षेत्रों से ही समस्त श्रमिक प्राप्त हो जाते हैं। कुछ औद्योगिक क्षेत्रों में रोजगार के केन्द्र के बाहर मजदूरों के रहने की प्रथा बढ़ती जा रही है। यह बात नागपुर, कलकत्ता, बम्बई आदि शहरों में देखी जाती है। औद्योगिक केन्द्रों के पड़ौसी गाँवों से मजदूर प्रतिदिन काम पर आते हैं और अब तो वह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि शहर के बाहर सड़क के किनारे प्लांट लेकर रहने के मकान बनाये जाने लगे हैं। बम्बई में भी दादर, परेल, मादुँगा, अन्धेरी आदि से अनेक श्रमिक प्रतिदिन आते हैं। बिजली की ट्रेन व बस सर्विस इनके लिए आवागमन का सस्ता साधन प्रस्तुत करती है। परिणामस्वरूप मजदूरों का वर्ग एक ऐसा विचित्र समुदाय बन गया है, जिससे भिन्न–भिन्न धर्मो के, विभिन्न भाषायें बोलने वाले, विभिन्न रहन–सहन एवं रीति रिवाज के लोग होते हैं। इन अनेक विभिन्नताओं के कारण श्रमिक वर्ग में संगठन नहीं है। संगठन तो दूर रहा पारस्परिक मेलजोल भी उनमें बहुत कम है। इसके विपरीत उनमें आपस में वैमनस्य अधिक मात्रा में पाया जाता है। उनकी इस विशेषता का प्रभाव उनके रहन–सहन, शिक्षा, मोलभाव करने की क्षमता तथा मजदूरी पड़ता है।

(2) अनियमित उपस्थिति–

भारतीय श्रमिक कारखाने के निकटवर्ती गाँवों अथवा अन्य राज्यों से काम करने के लिए नगरों में आते हैं। अत: अपने गाँवों के प्रति उनका आकर्षण बना रहता है। वे समय–समय पर गाँव जाते रहते हैं। कृषि क्षेत्रों से आने वाले श्रमिक कृषि–मौसम में अथवा फसल पर, जब गांव में अधिक काम होता है, अपना काम छोडकर चले जाते हैं। इससे उनकी उपस्थिति कारखानें में अनियमित रहती है। निकटवर्ती गाँवों से आने वाले श्रमिक तो प्राय: प्रति माह ही अपने गाँव जाया करते हैं, जिससे कारखानों के काम में बड़ी बाधा पड़ती है। काम की अनुपस्थिति से एक ओर तो श्रमिकों की मजदूरी कम होती है और दूसरी ओर उनकी कार्यकुशलता घटती है। मिल मालिकों का विकल्प–स्वरूप और दूसरे मजदूर रखने पड़ते हैं जिससे उनका व्यय अधिक बढ़ जाता है। कभी–कभी इन मजदूरों के अतिरिक्त रखे गये श्रमिकों से झगडा भी हो जाता है। इससे अनेक समस्यायें पैदा होती हैं।

(3) अज्ञानता एवं अशिक्षा–

श्रमिक वर्ग अशिक्षा का शिकार है। सामान्य शिक्षा का अभाव होने के कारण श्रमजीवी पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपने कर्तव्य का निष्पादन नहीं कर पाते। साथ ही भारतीय श्रमजीवियों में जब सामान्य शिक्षा का अभाव है, तो औद्योगिक शिक्षा का अभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही कारण है कि श्रमजीवी लापरवाही के साथ यन्त्रों व उपकरणों का उपयोग करते है, तथा अपने काम का महत्व नहीं समझते। श्रमिकों की अशिक्षा व निर्धनता का प्रमुख कारण भारत में शिक्षण संस्थानों का प्रभाव, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली, तकनीकी व वोकेशनल शिक्षा का सर्वथा अभाव, उद्योग धन्धों के विकास में कमी, घरेलू उद्योग धन्धों का अभाव तथा असमान धन का वितरण है। उनकी इस विशेषता के परिणामस्वरूप एक तो उनका जीवन–स्तर निम्न है तथा दूसरे उनकी सौदा करने

की क्षमता का न्यून है। उनकी इस विशेषता के कारण भारतीय श्रम का पारितोषण पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है।

(4) गरीबी तथा रहन–सहन का निम्न स्तर–

भारतीय श्रमजीवियों के रहन–सहन का स्तर अन्य वर्गो की तुलना में निम्न है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनको मजदूरी बहुत कम मिलती है। कोई भी व्यक्ति जब तक उसके पास अपनी समस्त आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु साधन न हों, अपने रहन–सहन का स्तर ऊँचा नहीं कर सकता। निर्धनता का कारण कम वास्तविक आय और कम वास्तविक आय के कारण क्रमश: कम उत्पादकता, कम विनियोग, कम बचत तथा कम आय है। अत: यह दोष श्रमिकों का नहीं, वरन उन परिस्थितियो एवं वातावरण का है जिनके अन्तर्गत वे पले हैं और अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

(5) भारतीय श्रमिकों की पूर्ति उद्योगों की आवश्यकतानुसार न होना

भारतीय श्रमिकों की अपेक्षा, अकुशल श्रमिकों की संख्या अधिक है। इसका कारण की अपेक्षा अकुशल श्रमिकों की संख्या अधिक है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी अधिकांश जनसंख्या कृषि उद्योगों में लगी हुई है। भारतीय श्रमिकों के कार्य में स्थायीपन का अभाव है। किसी भी[, समय उन्हें कार्य से पृथक किया जा सकता है। अत: एक स्थायी श्रम शक्ति का विकास नहीं हो सका है। काम मिलने की दशा में उन्हें विवश होकर गाँवों को वापस जाना पड़ता है। यही कारण है कि कृषि से सम्बन्ध बनाए रखना उनके लिए बहुत जरूरी है। दूसरे, भारतीय उद्योग–धन्धों में श्रमिकों के लिये काम करने की दशायें बहुत खराब है। औद्योगिक केन्द्रों में आवास की एक विकट समस्या है। मजदूरी की अपेक्षा रहन–सहन का लागत–व्यय बहुत ऊँचा है। अत: भारतीय श्रमिकों की पूर्ति उद्योगों की आवश्यकतानुसार नहीं है।

(6) श्रमिकों की अक्षमता–

भारतीय श्रमिकों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अन्य देशों की तुलना में हमारे श्रमिकों के कार्यक्षमता बहुत कम है। एलेक्लेण्डर मैकराबर्ट के अनुसार भारतीय श्रमिक की अपेक्षा एक अंग्रेज श्रमिक 4 गुना काम करता है। परन्तु भारतीय श्रमिकों की अक्षमता का विचार हुए हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रमिकों की कुशलता निम्न बातों पर निर्भर करती है– जलवायु, भत्ति–पद्धति काम करने की परिस्थिति, रहन सहन का तथा श्रम–प्रबन्ध। इन घटनाओं के विवेचन से ही किसी देश के श्रमिकों की अक्षमता के विषय में समुचित निर्णय किया जा सकता है। काम करने की दशायें काम के घण्टे, यन्त्र–सामग्री, औद्योगिक एवं श्रम प्रबन्ध आदि कुछ बातें हैं जो श्रमिकों के ऊपर निर्भर न रहते हुए उद्योगपतियों और निर्माताओं के ऊपर निर्भर करती हैं तथा जिनकी समुचित व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व उनके ऊपर ही होता है। इसलिए यह कहना यथार्थ है कि किसी भी देश की 'औद्योगिक क्षमता" की जिम्मेदारी उद्योगपतियों पर निर्भर करती है। भारतीय श्रमिकों के काम करने की परिस्थिति तथा उनको दी जाने वाली सुविधायें अन्य देशों की तुलना में नहीं के बराबर हैं। अत: श्रमिकों की क्षमता उनका वैयक्तिक दोष न होते हुए उस परिस्थिति का दोष है जिनमें भारतीय श्रमिक रहता है एवं जिसके अर्न्तगत् उसे काम करना पड़ता है।

(7) भाग्यवादिता

भारतवासी (विशेषत: यहाँ का श्रमिक वर्ग) बड़े भाग्यवादी हैं। अपने जीवन के सुख–दुख को वे भाग्य की देन समझते हैं। "होई है सोई जो राम रचि राखा" में उनका विश्वास है कि वे अपनी उन्नति के लिए पुरूषार्थ करने को भी प्रयत्नशील नहीं होते। भाग्य में होगा तो मिल जायेगा, ऐसा सोचकर वे कभी–कभी तो हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं।

(8) सामाजिक व धार्मिक दृष्टिकोण–

भारतीय श्रमिकों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उनका विशेष सामाजिक व आर्थिक दृष्टिकोण है। उदाहरण के लिए जाति प्रथा, श्रम की स्वतन्त्रता एवं पूर्ण गतिशीलता में बाधक है। यही नहीं श्रम संगठनों के संगठित रूप से विकास में भी यह बाधक है। प्राय: यह देखा जाता है कि विभिन्न जातियों के श्रमिक एक सामान्य अधिकार की माँग के लिए भी संगठित नहीं होते हैं। उनके सामाजिक व धार्मिक उत्तरदायित्व इतने अधिक होते है कि उनको निभाने में ही उनका बहुत अधिक समय, शक्ति व धन नष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप वे अपनी आर्थिक स्थिति को इतनी शीघ्रता से नहीं सुधार पाते जितनी शीघ्रता से सुधारने अथवा उन्नत करने की आशा लेकर वे नगरों को आते हैं अथवा जितनी शीघ्र से पश्चिमी देशों के श्रमिक ऐसा करने में सफल होते हैं। जाति प्रथा के अतिरिक्त, संयुक्त परिवार प्रणाली और इससे सम्बन्धित सभी प्रकार की चिन्तायें व दायित्व भारतीय श्रमिक के दृष्टिकोण को निराशवादी बनाने के लिये उत्तरदायी हैं। इस विशेषता का श्रमिकों की कार्यक्षमता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।

(9) गतिशीलता में कमी–

भारतीय औद्योगिक श्रम की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उनकी गतिशीलता में कमी है। एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में भारतीय श्रमिक प्राय: असमर्थ रहता है जन्म–स्थान से विशेष अनुराग, भाग्यवादिता, अशिक्षा, अज्ञानता, भौगोलिक बाधायें औद्योगीकरण की धीमी प्रगति, विभिन्न भाषायें, धर्म व जातियाँ, परिवहन व संदेश वाहन के साधनों की कमी, महत्वाकांक्षा का अभाव तथा औद्योगिक केन्द्रों में आवास की कठिनाई आदि, इस विशेषता के प्रमुख कारण है। भारतीय श्रम को इस विशेषता के कारण एक तो आवश्यकतानुसार कुशल श्रम उपलब्ध नहीं होता तथा दूसरे कुछ कुशल श्रम को उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता।

(10) प्रवासी प्रवृति –

हमारे औद्योगिक श्रमिकों की अन्तिम प्रमुख विशेषता यह है कि वे अधिकांशत: गाँवों से नगरों में काम करने आते है। भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के भार, अनार्थिक कृषि, गाँवों में बेरोजगारी, सामाजिक अयोग्यता सम्मिलित परिवार–प्रथा के दोष, महाजनों द्वारा शोषण आदि कारण हमारे ग्रामवासियों को नगरों में आजीविका की खोज के लिए भेजते है। परन्तु गाँव के वातावरण में पले होने के कारण ग्रामीण जीवन से ही उन्हें अधिक अनुराग होता है। अत: वे शीघ्र अवसर मिलने पर पुन: गाँव को वापिस लौट जाते है। नगरों में कृत्रिम वातावरण तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में उनका मन नहीं लगता। इससे अधिक परिवार का मोह उन्हें पुन: गाँव की ओर खींच लाता है वे मुख्यत: अधिक मजदूरी पाने के लोभ से नगरों में आते है; किन्तु कार्य की दशायें अधिक मकानों का भयंकर अकाल उन्हें नगरों में बसने से रोकता है।

12.06 'कृषि–श्रमिक' का अर्थ:

'कृषि श्रमिक' से हमारा तात्पर्य गाँव में काम करने वाले उन व्यक्तियों से है, जो कि खेती के धन्धे में मजदूरी पर काम करते है। भारतीय ग्राम्य जनता का एक बड़ा भाग इन्हीं कृषि श्रमिकों का है।

भूमिहीन श्रमिक की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and Definition of Lanless Labour)

भूमिहीन श्रमिकों को खेतिहर श्रमिक भी कहते है और इनसे तात्पर्य उन श्रमिकों से लगाया जाता है जो कृषि–कार्य करके जीवनयापन करते है। सन् 1950–51 की 'प्रथम खेतिहर श्रम जाँच समिति में उन व्यक्तियों को खेतिहर श्रमिक कहा जाता है, जो फसलों के उत्पादन का कार्य करते है। सन् 1955–57 की 'द्वितीय खेतिहर श्रम जाँच समिति में इस श्रेणी में उन श्रमिकों को भी सम्मिलित कर लिया गया, जो खेती के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धित कार्य में मजदूरी करते है, खास– बागवानी, पशु–पालन, कुक्कुट–पालन आदि।

राष्ट्रीय श्रम आयोग' (National Commission on Labour') के अनुसार खेतिहर मजदूरों में उन व्यक्तियों को लिया गया है जो वास्तव में अकुशल व अव्यवस्थित है और उनके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं है, केवल मजदूरी करके अपनी आजीविका चलाते है। इन श्रमिकों की आय का अधिकांश भाग खेती से प्राप्त मजदूरी पर निर्भर करता है। इस प्रकार खेतिहर श्रमिक दूसरों की भूमि पर खेती करते हैं, उसके बदले में इन्हें मजदूरी मिलती है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने खेतिहर श्रमिकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है – (1) भूमिहीन श्रमिक,, (2) बहुत छोटे किसान, जिनकी आय का मुख्य साधन कृषि जोतों के बहुत छोटे होने के कारण मजदूरी ही है। भूमिहीन श्रमिकों को पुन: दो भागों में विभाजित किया गया है – (1) स्थाई श्रमिक – जो कृषक परिवारों से बंधे है, व (2) अस्थाई श्रमिक – इनमें वे छोटे कृषक भी सम्मिलित है, जिनके पास थोड़ी–बहुत भूमि होती है, वे दूसरों की भूमि पर मजदूरी करते है अथवा दूसरों की भूमि को ठेके पर लेकर या बँटाई पर खेती करते है। ये सभी ग्रामीण कमजोर वर्ग के अन्तर्गत आते है। एक और श्रेणी है – वह है बहुत छोटे कृषक जिनकी आय का प्रमुख साधन कृषि जोतों के बहुत छोटे होने के कारण मजदूरी है।

किसानों को भूमि के स्वामित्व के आधार पर निम्नानुसार वर्गीकृत किया गया है सीमान्त, लघु, अर्द्ध–मध्यम, मध्यम तथा वृहद किसान (1) सीमान्त किसान ने कहलाते है, जिनके पास व हैक्टेयर से कम भू–जोत है। सन् 1990–91 के अनुसार ये देश में कुल जोतो का 59.0 प्रतिशत है। (2) लघु किसान के पास 1 से 2 हैक्टेयर भू–जोत होती है। ये देश में 19.0 प्रतिशत है। (3) अर्द्ध–मध्यम किसान के पास 2 से 4 हैक्टेयर भू–जोत होती है। ये देश में 13.2 प्रतिशत हैं। (4) मध्यम किसान के पास 4 से 10 हैक्टेयर भू–रजोत होती है। ये देश में 7.2 प्रतिशत हैं। (5) बड़े या वृहद किसान के पास 10 व इससे अधिक हैक्टेयर भू–जोत होती है। इनका प्रतिशत देश में 1.6 प्रतिशत है।

स्टेटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ इण्डिया, 1995–96 के अनुसार, हमारे देश में कृषि व सहायक क्रियाओं से सम्बन्धित कुल 66.7 प्रतिशत श्रमिक है जिनमें से कृषक श्रमिक 38.4 प्रतिशत, खेतिहर मजदूर 26.4 एवं पशुपालन, वन, मछली पालन, शिकार, बागान आदि से सम्बन्धित 1.9 प्रतिशत श्रमिक है। गैर–कृषि क्रियाओं में 33.3 प्रतिशत श्रमिक है। खेतिहर श्रमिक, जिनमें भूमिहीन श्रमिक सम्मिलित है और सीमान्त कृषक–कमजोर वर्ग में आते है, जिनकी अनेकानेक समस्याएँ है। इन समस्याओं को समझने के पूर्व भूमि के स्वामित्व को समझना आवश्यक है।

भूमि का स्वामित्व (Ownership of Land') – भारत एक कृषि–प्रधान देश है। जिसमें ग्रामीणों के जीवन पर भूमि के स्वामित्व के प्रकार का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उसको इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता है कि भारत की कृषि व्यवस्था इस प्रकार की है कि यही कोई व्यक्ति खेत पर अथक परिश्रम करता है, अनाज उपजाता है, किन्तु उस जमीन का वह व्यक्ति अधिकारी नहीं है, जमीन का मालिक कोई और है, जो उसका खूब शोषण करता है। इसीलिए किसानों की दशा अति शोचनीय है। जमींदारी और जागीरदारी प्रथा में कृषकों की दशा इसीलिए शोचनीय थी। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए सन् 1938 में बंगाल में काइड कमीशन नियुक्त किया गया था। सन् 1947 में 'कांग्रेस कृषि सुधार कमेटी' ने जमींदारों और मध्यस्थों के' अधिकारों को समाप्त करने की सिफारिश की – स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर देश में भूमि सुधार के लिए कुछ क्रूदम उठाए गए। नियोजकों द्वारा भूमि सुधार नीति के उदेश्यों को इस प्रकार निर्धारित किया गया कि कृषि के आधुनिकीकरण में संस्थागत व प्रोत्साहन सम्बन्धी बाधाएँ दूर हो, जो हमारी कृषि व्यवस्था में पहले ही विद्यमान थी और साथ ही भूमि पर असमान अधिकार से उत्पन्न कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर को कम किया जा सकें।

12.07 कृषि श्रमिकों की समस्यायें :

(1) सामाजिक

आर्थिक दशा (Socio– Economic Condition,) इन कृषि श्रमिकों की आर्थिक' दशा अति शोचनीय है। अधिक काम कराकर कम मजदूरी देना तथा अत्यधिक काम कराना–इसने इनकी जिन्दगी को नर्कमय बना रखा है। इन श्रमिकों में कुछ श्रमिक तो ऐसे हैं जो अस्थाई श्रमिक हैं, जिन्हें वर्ष में एक माह या कुछ अधिक समय के लिए काम मिलता है। कुछ श्रमिक आकस्मिक हैं, जिन्हें बहुत कम समय के लिए काम मिलता है, आकस्मिक श्रमिकों की संख्या भारत में अत्यधिक है। ये लोग फसलों की कटाई, निराई, जुताई, कुआँ खोदना आदि कार्य करते है। सन् 1990–91 में हमारे देश में कुल 10.53 करोड़ किसान थे, जिनमें सीमाप्त कृषकों की संख्या लगभग 62 करोड़ (59) थी तथा लघु कृषक 19: थे। इस प्रकार कुल कृषकों में 78 कृषक सीमान्त और लघु वर्ग के थे जिनके पास 2 हैक्टेयर से कम भूमि थी जो अलाभप्रद आकार की जोतो के स्वामी थे। ये तथ्य खेती के आँकड़े में गिरावट को स्पष्ट करते हैं तथा यह ग्रामीण कृषक श्रमिकों के असन्तोष का प्रमुख कारण भी है।

इनकी संख्या अत्यधिक है। इन्हें रोजगार नहीं मिल पाता। जब कभी मजदूरी मिलती है तो नकद या वस्तुओं के रूप में दी जाती है। यद्यपि सरकार द्वारा इनकी न्यूनतम मजदूरी तय की जा चुकी है, किन्तु उसकी परिपालना नहीं की जाती। केन्द्र सरकार द्वारा भी न्यूनतम मजदूरी के दिशा निर्देश दिये हैं जिसमें न्यूनतम मजदूरी को गरीबी रेखा से ऊपर होना बताया गया है। किन्तु केवल नियम बनाने से ही स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

(2) रोजगार की समस्या

इन श्रमिकों को वर्ष के 6 महीने एक तिहाई लोगों को, वर्ष के 7 महीने दो–तिहाई लोगों को एवं 4 लोगों को वर्ष में 9 माह काम उपलब्ध होता है। शेष महीनों या तो ये बेरोजगार रहते हैं या दो वक्त की रोटी के लिए अपना शोषण कराते हैं। 1990 में जवाहरलाल शताब्दी वर्ष में इनके लिए दो योजनाओं– (1) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार कार्यक्रम' व (2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम' को मिलाकर नेहरू रोजगार योजना' की घोषणा की गई थी जिसमें प्रत्येक परिवार को कम–से–कम 50 दिन से 100 दिन का रोजगार मुहैया कराने का प्रावधान रखा गया। किन्तु इन श्रमिकों को विशेष लाभ इन योजनाओं से भी नहीं पहुँच सका।

(3) ऋणग्रस्तता

इन श्रमिकों की समस्या ऋणग्रस्तता की भी है। अधिकांश श्रमिक अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेठों से ऋण ले लेते हैं। विवाह, मृत्यु–भोज आदि के लिए प्राय: प्रत्येक श्रमिक आवश्यक रूप से ऋण लेता है। उस ऋण को श्रमिक चुका नहीं पाते। अत: बदले में सेठ–साहूकार इनका शोषण करते हैं। अशिक्षित होने के कारण इनसे गलत अँगूठा लगवाकर साहूकार ऋण वृद्वि करते जाते हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी विपन्नता का अन्त होना अत्यन्त मुश्किल है। इन लोगों का जन्म ऋण में ही होता है और ऋण में ही ये मरे जाते हैं। इस प्रकार ऋणग्रस्तता की समस्या इनमें असन्तोष की सृष्टि करती है।

(4) कार्य की दशाएँ एवं निम्न जीवन स्तर

इन लोगों की कार्य करने की दशाएँ अति असुविधाजनक हैं। ये अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में कार्य करते हैं, कार्य की अधिकता होती है, कार्य के घण्टे अधिक होते हैं, अवकाश आदि सुविधाओं का अभाव रहता है। बीमारी आदि के समय कोई छुट्टी नहीं होती–इनका जीवन स्तर भी अतिनिम्न होता है। अपनी आय का 75: से अधिक ये लोग खाने पर खर्च कर देते है। कपड़े, मकान, चिकित्सा आदि सुविधाओं का अभाव रहता है। इन स्थितियों में रहने के कारण इनमें सदैव असन्तोष व्याप्त रहता है। सामान्यत: इनको न पर्याप्त वस्त्र मिलते हैं न रहने के लिए मकान ही उपलब्ध होते है।

(5) न्यूनतम आय (Minimum Income)

देश में खेतिहर श्रमिकों की औसत आय अत्यधिक न्यून है। ये वर्ष के कुछ महीनों ही काम कर के आय कर पाते हैं। जिन दिनों काम कर पाते हैं उन दिनों में इन्हें मजदूरी बहुत कम दी जाती है। इनको मजदूरी का भुगतान

कुछ वस्तुओं तथा कुछ नकदी के रूप में किया जाता है। सरकार समय–समय पर इनकी मजदूरी तय करती रहती है, परन्तु उसका कठोरता से पालन नहीं किया जाता है। इनकी आय इन्हें गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने के लिए बाध्य करती है।

(6) संगठन का अभाव (Lack of Occupations)

भूमिहीन श्रमिक, सीमान्त एवं लघु किसान अशिक्षित, अज्ञानी तथा देश के विभिन्न भागों में फैले होने के कारण अपनी माँगों को मनवाने के लिए कोई 'संगठन नहीं बना पाते हैं। इनके संगठन के अभाव के कारण वे अपनी मजदूरी में वृद्वि कराने, बेगार बन्द करवाने, कार्य के दिवस एवं घण्टे निश्चित कराने के लिए कुछ नहीं कर पाते है। संगठन या यूनियन के अभाव के कारण उनका शोषण हो रहा है।

(7) व्यवसायों का अभाव, (Lack of Occupations)

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अतिरिक्त अन्य सहायक व्यवसायों का अभाव है। किन्हीं कारणों से फसल नष्ट होने, पाला पड़ने, बाढ़, अकाल या सूखा आदि के कारण फसल नहीं होने पर ये कृषक अन्य व्यवसाय नहीं कर सकते हैं। इन परिस्थितियों में इनका शोषण साहूकार आदि करते हैं। ये ऋणग्रस्तता से कभी बाहर नहीं निकल पाते हैं।

12.08 बन्धुआ मजदूर (Bonded Labour)

श्रमिकों की विभिन्न कोटियाँ हैं – कुछ स्थाई श्रमिक होते हैं, कुछ अस्थाई होते हैं, और कुछ आकस्मिक होते हैं। इन्हीं में एक कोटि बन्धुआ मजदूरों की है। इसमें उन श्रमिकों अथवा मजदूरों को सम्मिलित किया जाता है जो देश में भंयकर निर्धनता एवं दासता के साक्षी हैं, यह बन्धुआ मजदूरी प्रथा अति प्राचीन है। प्राचीन समय में गरीब लोग सेठ–साहूकारों से अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेते थे और जब तक वह ऋण चुकता न हो जाता, ये लोग उन सेठ–साहूकारों के यहाँ कार्य करते थे। वह सेठ उनसे गुलामों जैसा व्यवहार करता था। घर पर, खेत पर, व्यवसाय में हर स्थान पर, हर प्रकार का कार्य इनसे लिया जाता था। चूँकि इनकी स्थिति इस प्रकार की कभी नहीं हो पाती थी कि वे उस ऋण से सच्छण हों, परिणामस्वरूप ये लोग आजीवन सेठों की गुलामी करते थे। फिर इनके बच्चे उसी परम्परा का निर्वाह करते थे। इस प्रकार बन्धुआ मजदूर निर्धनता की पराकाष्ठा और शोषण और दासता के प्रतीक हैं। आज भी ये बन्धुआ मजदूर विद्यमान हैं। अब इनके लिए सरकार द्वारा प्रयत्न किए जा रहे हैं कि इनका पुनर्वास करें। इसके लिए बड़ी समस्या उनका पता लगाने व उन्हें मुक्त कराने की है।

परिभाषा के रूप में यह कहा जा सकता है कि, ' 'बन्धुआ मजदूर वे मजदूर हूँ, जिन्होंने अपने मालिकों से ऋण के रूप में एक निश्चित व न्यूनतम राशि ले रखी है, किन्तु निर्धनता के परिणामस्वरूप ये लोग उसे आजीवन नहीं चुका पाते, और उसके बदले में मालिकों के यहाँ ऋणी के रूप में जीवशु भर दासों की तरह कार्य करते हैं। बन्धुआ श्रमिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है ये ऋणदाता के ऋणों की अदायगी न कर पाने के कारण उनके गुलाम बनकर जीवन बिताते हैं व उनके समस्त कार्यो को पूरा करते है। इन्हें रहने के लिए एक छोटी जगह ऋणदाता द्वारा दे दी जाती है, जिसमें इनका पूरा परिवार बसता है और हर समय पूरा परिवार सेठ की गुलामी करता है। ये कम से कम 18 घण्टे तो काम करते ही है। बदले में इनको दिन में दो बार खाना दिया जाता है। जो खाना इनको दिया जाता है वह बासी, बचा हुआ, जूठा व अपौष्टिक होता है। पहनने के लिए पुराने कपडे दे दिये जाते है, जमीन पर सोते हैं, मालिक पुरानी फटी रजाई दे देता है जिसे ये वर्षो ओढ़ते है। साबुन की सुविधा न होने से कपडे धोना, नहाना आदि क्रियाएँ कम करते है। अत: अत्यधिक गन्दगी के कारण इनका स्वास्थ्य बहुत जल्दी खराब हो जाता हैं। इनकी कार्यक्षमता अट जाती है। इनका दैनिक जीवन ही इनके पिछड़ेपन को दर्शाता है। इसके कारण इनकी सोचने–समझने व विरोध करने की क्षमता दब गई

इस प्रकार, इस स्थिति में ये लोग उनके विरोध में कानूनी दुहाई कैसे दें सकते है, जिनके हाथ में रोटी–रोजी है। ये तो उनकी दया के पात्र है। सरकारी कर्मचारियों का एक वर्ग समाज के उच्च व धनी वर्ग का समर्थक है और समाज के सत्ताधारी, पद–लोलुप–जन प्रतिनिधि व उच्च अधिकारी भी अपने उत्तरदायित्वों से विमुख हो गए है। इस कारण इन बन्धकों की दासता का अन्त निकट ही नहीं है।

सरकारी तौर पर अनेक बन्धक आजाद कर दिए गए हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ये लोग अभी भी स्वतन्त्र नहीं है। एक तो दासता की जडों की गहराई ने इनकी मानसिकता को गुलाम बना दिया है, जो स्वतन्त्र रहना जानते ही नहीं है, फिर बडे किसानों का उनकी भूमि पर अवैध अधिकार है। पटवारी भी उन पर अपनी कृपा–दृष्टि नहीं दिखा पाता। अत: ये अपनी ही भूमि पर बँटाई का कार्य करते है। उपज का आधा हिस्सा अवैध भू–स्वामियों को दे रहे है। और कुछ हिस्सा पटवारी प्राप्त कर रहे है।

बन्धुआ मजदूरों की समस्या के लिए कुछ समाधान :–

बन्धुआ मजदूरी की प्रणाली को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि –

(1) राज्य सरकारे केन्द्र द्वारा दी जाने ताली सहायता का पूरा–पूरा उपयोग करें;

(2) उनके पुनर्वास कार्यक्रम की क्रियान्विति पूर्ण मनोयोग से की जाए

(3) मुक्त किए हुए श्रमिकों को पुन: बन्धक न बना लिया जाए, इस बात की पूरी–पूरी सतर्कता बरती जाए;

(4) 'ग्रामीण ऋण–राहत' अधिनियम का सख्ती से पालन किया जाए, इसके लिए सरकारों एवं गैर सरकारी संगठन बाए जाएँ;

(5) बन्दुआ मजदूर प्रणाली के लिए उत्तरदायी उनकी निर्धनता हैं, अत: बेरोजगारी व गरीबी को दूर करने के प्रयास किए जाएँ;

(6) सरकार द्वारा इनके लिए बनाए गए कानूनों का सख्ती से पालना किया जाए, इसके लिए चारित्रिक व नैतिक मूल्यों का विकास किया जाए;

(7) जनसंख्या नियन्त्रण के उपाय किए जाए, इनके लिए शिक्षा–व्यवस्था की जाए जो इन्हें रोजगारन्मुखी बना सके;

(8) देश में उपलब्ध भूमि को कृषि योग्य बनाया जाए, तथा

(9) रोजगार के अवसर बढ़ाए जाए।

12.09 औद्योगिक श्रमिकों को स्थिति सुधारने के प्रयास :

(अ) कारखानों के अन्दर कल्याण–कार्य –

(1) वैज्ञानिक भर्ती पद्धति :–

श्रमिको को कारखानों में नियुक्त करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाए वह पूर्व निश्चित तथा वैज्ञानिक होनी चाहिए। हमारे देश में श्रमिकों की भर्ती कर्मकारियोजको (Jobber) द्वारा होती है। अपनी नौकरी को स्थिर रखने के लिए श्रमजीवियों को नाना प्रकार के कर्मकारियोजको की सेवा सुश्रूषा करनी पडती हैं। योजाकों की आय नई नियुक्तियों पर ही निर्भर करती है, अत: वे तरह–तरह के बहाने बनाकर पुराने श्रमिकों को निकालते तथा नये श्रमिकों की भर्ती करते रहते है इसका दुष्परिणाम यह होता है कि श्रमिकों की कार्यक्षमता कम हो जाती है। और उद्योंगों का उत्पादन व्यय बढ जाता हें अत: श्रमिकों की निपुणता के हित में एवं एक स्थायी श्रमिक वर्ग के लिए यह अति आवश्यक है कि भर्ती की पद्धति का एक वैज्ञानिक आधार पर पुन: संगठन हो, कर्ममारियोजको द्वारा भर्ती नहीं होनी चाहिए। मजदूरों को भर्ती के लिए कुछ नियम बना लेने चाहिए। अच्छा हो यदि इस काम के लिए

एक योग्य अधिकारी के अधीन एक पृथक विभाग हो। जो श्रमिक कहीं पहले काम कर चुके हो उनकी भर्ती पुराने सेवायोजकों के प्रमाण–पत्र के आधार पर होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में काम दिलाने वाले केन्द्र काफी सहायता दे सकते है। श्रमिकों की नियुक्ति के पश्चात उनको कारखानों में ले जाकर उनके साथियों तथा अफसरों से उनका परिचय करा देना चाहिए। काम के नियम भी उन्हें भली प्रकार समझा दिए जाएँ। श्रमिकों में मन की शंकाओं को दूर करने के लिए, छुट्टी (वेतन सहित और बिना वेतन के), उन्नति तथा स्थानान्तरण सम्बन्धी नियम बना देने चाहिए और भली प्रकार उनकों समझा भी देना चाहिए। श्रमिकों की मजदूरी में मनमानी कटौती नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक कार्य उचित आधार पर हो।

(2) स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु :–

कारखानों में आवश्यकतानुसार समय–समय पर सफाई और पुताई कराते रहना चाहिए। प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार हो कि श्रमिकों को पर्याप्त रोशनी मिल सके। धीमी तथा अधिक तेज रोशनी काम करने में बाधा डालती है, सिर में पीड़ा और आँखों को हानि पहुँचाती है। प्राय: दुर्घटना होने की भी आशंका रहती हैं। वायु के आने–जाने का सुप्रबन्ध होना चाहिए। कपड़े की मिलों में कृत्रिम नमी पहुँचाने की योजनाये विवेकपूर्ण होनी चाहिये और उनको इस प्रकार कार्यान्वित किया जाये कि श्रमिकों को न्यूनतम कष्ट हो। सामान्य सफाई के अतिरिक्त श्रमिकों की स्वच्छता का भी विशेष ध्यान रखा जाये। उनके लिए नहाने व धोने का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। यद्यपि जलवायु के दृष्टिकोण से ये सुविधाये बहुत आवश्यक है, फिर भी हमारे देश के कारखानों में इनकी व्यवस्था बहुत ही असन्तोषजनक है। प्रत्येक कारखाने में स्नान गृह तथा संडास का होना आवश्यक है। पीने के लिए स्वच्छ जल का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(3) औद्योगिक शिक्षण –

विज्ञान की उन्नति ने वर्तमान उत्पादन–क्षेत्र में क्रान्ति कर दी है। नवीन से नवीन कल एवं यन्त्र और सुगम से सुगम तथा अधिक से अधिक फलदायिनी कार्य पद्धतियाँ सुगम होती जा रही है, इसलिए समय–समय पर श्रमिकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी उचित आयोजन किये जायें, ताकि वे अपना काम सुचारु रूप से कर सकें। यदि वे आधुनिक कार्य–पद्धति से अनभिज्ञ है, तो उनकी कार्यक्षमता कम रहेगी। यदि वे मशीनों को भली प्रकार प्रयोग से परिचित एवं अभ्यस्त नहीं हैं, तो वे मशीनों को पूर्ण चाल से चलाने में भी असमर्थ रहेंगे। प्राय: मशीन के साथ साथ अपनी चाल न रख पाने के कारण उनके हाथ पैर मशीन में आकर कट जाते है। दुर्भाग्य से अपने देश में भी अभी तक औद्योगिक शिक्षण का बहुत ही अभाव हैं

(4) दुर्घटनाओं की रोक–थाम –

खतरनाक यन्त्रों से बचाव के लिए श्रमिकों को प्रशिक्षण देना चाहिए। यन्त्रों से बचाव के अन्य उपाय भी करने चाहिए, जैसे – आग बुझाने का प्रबन्ध, श्रमिकों के लिए रक्षात्मक पोशाक का प्रबन्ध आदि। नये व अनभिज्ञ श्रमिकों की रक्षा के उपाय भली प्रकार समझा देने चाहिए। आकस्मिक परिस्थितियों के लिए एक ऐसा डाक्टर भी होना चाहिए जो किसी भी समय सेवा के लिए प्रस्तुत हो सकें।

(ब) कारखाने के बाहर कल्याण–कार्य :

(5) सामान्य शिक्षण –

सामान्य शिक्षण से मस्तिष्क विकसित होते हैं और उनकी समझने की शक्ति बढ़ जाती है। सामान्य शिक्षा केवल औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करने में ही सहायक नहीं देती, वरन् अन्य समस्याओं को समझाने में भी बड़ी सहायता देती है। हमारे देश में अधिकतर हड़ताले श्रमिकों के अज्ञान एवं उनकी अनभिज्ञता के कारण होती है। भोले श्रमिकों को अन्य पक्ष के लोग बहका देते है और वे रास्ता भटक जाते है, इसलिए यदि इस अनभिलाषा को दूर कर दिया जाये तो सेवायोजक एक समझदार और कुशल श्रमिक वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। शिक्षा की सुविधाये प्रदान करना

सेवायोजकों की ओर से एक बहुत बडी सेवा होगी। उनको चाहिए कि वे अपने–अपने औद्योगिक क्षेत्र में प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य कर दें और उनका उचित प्रबन्ध करें। प्रौढो के लिए भी उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। उनके लिए रात्रि–पाठशलायें खोली जा सकती है।

(6) गृह–व्यवस्था –

प्रत्येक बड़े औद्योगिक नगर में 'घर की समस्या बड़ी विकट है। एक इंच भूमि कहीं खाली नहीं और आबादी बहुत घनी है। छोटे से मकान में अनेक कुटुम्ब रहते है। घरों के अन्दर की दशा का वर्णन करते हुए रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मकानों के दरवाजे बहुत नीचे है, जिनमें से निकलने के लिए झुकना पड़ता है। एक ही कोठरी में श्रमिक खाते–पीते व उठते–बैठते है, वहाँ बीमारी की दशा में इलाज भी नहीं होता है। वायु और प्रकाश के प्रवेश के लिए कहीं उपयुक्त स्थान नहीं है। अन्य नगरों में भी समान ही दशाये है। चारों और गन्दगी का साम्राज्य हैं। मलेरिया अयै तपेदिक का काफी जोर हो रहा है। घरों में न तो नल है और न संडास। पूरे मुहल्ले के लिए एक या दो नल या एक संडास होगा जिन पर बेचारे श्रमजीवी लाइन लगाकर खड़े रहते है। छोटी–छोटी बातों पर (जैसे जल के लिए) नित्य झगड़े फसाद होते रहते हैं सड़कें और गलियाँ खराब, पतली और प्रकाशहीन हैं जिन पर रात में चलना बड़ा खतरनाक है।

ऐसे अनुपयुक्त एवं सुविधाहीन घरों के कारण श्रमिकों का घरेलू जीवन नीरस एवं आनन्दरहित हो गया है। गन्दगी के कारण मलेरिया और तपेदिक जैसी भयानक बीमारियों का जोर रहता है, श्रमिकों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, उनके मस्तिष्क संकुचित हो जाते है और मानसिक विकास का कोई अवसर नहीं रहता। उनमें अनेक बुरी आदतें भी पैदा हो जाती है, अत: श्रमजीवियों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए, उनके रहने के लिए सुन्दर घरों की व्यवस्था करना अति आवश्यक है।

(7) चिकित्सा –

श्रमिकों की कार्यक्षमता पर उनके स्वास्थ्य का परोक्ष प्रभाव पड़ता है, अत: उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना सेवायोजकों का कर्तव्य हो जाता है। हमारे कारखानों में मजदूरों की अनुपस्थिति प्राय: उनके बुरे स्वास्थ्य क ही कारण है। इससे उनको स्वयं तो हानि होती है, उद्योग को भी हानि उठानी पड़ती है। हमारे देश का मजदूर कम आय के कारण अपना इलाज नहीं करा सकता, इसलिए उसके लिए सुन्दर चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिए, जो केवल श्रमिकों की सेवा के लिए ही हो। डाक्टरों को चाहिए कि वे सहानुभूति से अपना कर्तव्य पालन करें। चिकित्सालयों में सब प्रकार की आवश्यक दवाइयों का पर्याप्त स्टॉक रहना चाहिए।

(8) भोजन –

श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए भोजन सम्बन्धी सुविधायें उनको प्रदान की जायें तो सचमुच ही उनका बड़ा कल्याण हो। भारतीय श्रमिकों की आय बहुत थोड़ी है, पौष्टिक पदार्थो के सेवन की बात को दूर रही उनको मोटे, अनाज की भरपेट रोटियाँ भी नहीं मिलती। वर्तमान महँगाई ने तो उन पर और भी वजपात कर दिया। सेवायोजकों का कर्तव्य है कि वे सहकारिता के सिद्धान्तों पर श्रमजीवियों के लिए उपभोक्ता सहकारी भण्डारों की स्थापना करें तथा राशन के लिए ऐसी दुकानें खोलें जहाँ सस्ते दामों पर और उचित रीति से श्रमिकों को वस्तुयें मिल सकें। कैन्टीन की भी व्यवस्था हो सकती है, जहाँ मजदूर मध्यान्तर अवकाश में खा–पी सकें और विश्राम ले सकें। यदि सम्भव हो तो सस्ते चाय एवं जलपाल–गृह भी खोलें जायें। उन औद्योगिक संस्थाओं में जिनमें "स्त्रियाँ श्रमिक अधिक मात्रा में हों, शिशु सदनों का होना आवश्यक है, जहाँ कि औरतों के काम के समय उनके बच्चों की उचित देखभाल हो सके। यदि बच्चे माँ के साथ रहेंगे तो दुर्घटनाये हो सकती है और उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(9) मनोरंजन –

दिन भर के कड़े परिश्रम के पश्चात् प्राय: सभी श्रमिक थक जाते हैं क्षुत एवं यदि उनके शारीरिक एवं मानसिक मनोरंजन की उचित व्यवस्था हो तो वास्तव में उनका बड़ा कल्याण होगा। उन्हें प्रति सप्ताह सवेतन अवकाश मिलना आवश्यक है। कार्य की नीरसता को दूर करने के लिए मनोरंजन के अनेक साधन हो सकते है। भजन–कीर्तन व कबाली का आयोजन किया जाये। व्यायाम एवं खेल–कूद के लिए मैदान भी हों। नुमाईश, नाटक, वाद–विवाद, संगीत, सिनेमा आदि का समय–समय पर प्रबन्ध होना चाहिए। बच्चों के लिए तथा अन्य लोगों के लिए भी पार्क,पुस्तकालय एवं वाचनालयों की व्यवस्था हों। इन सारी सुविधाओं का उत्तदायित्व सेवायोजकों पर ही है।

(10) मितव्ययिता –

सेवायोजकों को चाहिए कि वे श्रमिकों के अपव्यय को रोकने के लिए पूर्ण प्रयत्न करें। भविष्य निधि की व्यवस्था की जाये। सहकारी साख–समितियाँ खोली जायें, जिनसे उन्हें आवश्यकता पड़ने पर नर्म शर्तो तथा न्यूनतम ब्याज पर क्या मिल सके। नशे की दुकानों पर प्रतिबन्ध लगा दिए–जायें जिससे कि वे अपना रूपया नष्ट न कर सकें।

12.10 कृषि श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के प्रयास :

भारतीय कृषि श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए 'निम्न सुझाव दिए जा सकते है।

(1) **कृषि श्रमिकों में संगठन की आवश्यकता** :

भारतीय कृषि–श्रमिकों की दुर्बल आर्थिक स्थिति का प्रधान कारण उनकी स्वयं की कमजोरी है। यह लोग हमारे 51/2 लाख गाँवों में बिखरे हैं. अत: पारस्परिक संगठन नहों हो पाता। परिणामस्वरूप अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए वे अपने स्वामियों सें संगठित रूप में कोई सौदा नहीं कर सकते। किसान सुधार समिति ने यह सुझाव दिया था कि एक सुयोजनाबद्व कृषि अधिनियम बनाए जाए और कृषि–श्रमिकों का देशव्यापी संगठन किया जाए, जिसका उद्वेश्य जनसंख्या के इस विशाल भाग को जीवन–निर्वाह की वर्तमान अमानवीय श्रेणी से ऊपर उठाना हो। इन श्रमिकों का अब अधिक भीषण विद्रोह उत्पन्न करके आपस में क्रान्ति और मार–काट को प्रोत्साहन दे सकता है। अत: सहकारिता की भावना से कार्य करना सीखें और धनी किसानों तथा अन्य भूमिपतियों के शक्तिशाली संगठन द्वारा टक्कर ली जा सके। साथ ही साथ हमको वह भी स्वीकार करना होगा कि कृषि श्रमिकों में उनका संगठन, उनकी विशाल संख्या, उनके बिखरे होने, उनकी अशिक्षा, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता तथा उनमें से अधिकांश का दलित वर्ग होने के कारण इतना सरल नहीं है। जिस प्रकार औद्योगिक श्रमजीवियों के संगठन को शक्तिशाली बनाने के लिए राजनीतिक क्षेत्र के नेता लगे हुये हैं, उसी प्रकार गाँव–गाँव में जाकर कृषि श्रमिकों के हितों का संरक्षण कराते हुये इन कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि वे इनमें भी संगठन स्थापित करें।

(2) श्रम–सहकारिता :

भारतीय योजना आयोग ने यह सुझाव दिया है कि सिंचाई, सहकारिता, कृषि एवं वन विभाग तथा राज्य की अन्य सरकारी एजेन्सियों की सहायता से कृषि श्रमिकों के लिए सहकारी समितियों का संगठन किया जाय। कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशा को ऊँचा करने के लिए सहकारिता' को यदि हम राम–बाण' या 'संजीवनी' कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कृषि उत्पादन में वृद्वि करने के लिए सहकारिता के सिद्वान्तों पर संयुक्त कृषि समितियाँ, सिंचाई समितियाँ, बहुद्वेशीय समितियाँ, विपण समितियाँ, एवं कृषकों को बीज, औजार, खाद, ऋण तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें प्रदान करने के लिये समितियों की स्थापना करना आधुनिक सहकारी संगठन की प्रधान विशेषता है। सहकारिता की भावना से श्रमिकों में आत्म–विश्वास की भावना जागत हो उठेगी और निराशा की भावना लोप हो जाएगी। इसी आधार पर एक अर्थशास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि यदि सहकारिता असफल होती है, तो भारत की एकमात्र आशा रू जायेगी। वास्तव में सहकारी संगठन के विकास में ही भारतीय कृषि एवं

कृषि श्रमिकों की आर्थिक सम्पन्नता निहित है। सहकारिता से केवल बेकारी के कल्याण की ही समस्या हल न होगी, वरन् सामाजिक योजनायें भी सफल होंगी।

(3) भूमि रहित कृषि श्रमिकों को खेती के लिये भूमि देना :

योजना आयोग का यह भी सुझाव है कि जहाँ भी संभव हो, वही पुन: सुधारे गये भूमि खण्डों तथा कृषि–योग्य खाली भूमि को भूमि–रहित तथा अनार्थिक भूमि–खण्ड वाले कृषि–श्रमिकों के समुदायों को बसाने के लिए अलग रखी जाय। संभव है कि प्रत्येक राज्य में ऐसे भूमि खण्ड समस्त कृषि श्रमिकों के लिए अपर्याप्त हों, किन्तु इस योजना से उनमें विश्वास बढ़ेगा। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक बहुत बड़ी धन– राशि की भी व्यवस्था की गई है। सहकारिता के सिद्वान्तों पर बनाये गये कृषि श्रमिकों के समुदायों को मकान बनाने, बैल तथा कृषि के लिये अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने तथा छोटे–मोटे उद्योग–धन्धों को चलाने के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

(4) भूदान यज्ञ :

भूमि रहित कृषि श्रमिकों की भूमि सम्बन्धी आर्थिक समस्या को हल करने के लिए स्वर्गीय बापू का मार्ग अपनाने वाले सन्त विनोबा द्वारा संचालित भूदान यज्ञ से भी कुछ अंशों में इस समस्या को हल किया जा सकता है। भूमिपतियों से प्रार्थना करके उनके अधिकार में आवश्यकता से अधिक भूमि को दान में लेकर भूमि रहित कृषि श्रमिकों में वितरण करके भूमि के असमान वितरण की सामाजिक समस्या को सुलझाया जा सकता है। इन श्रमिकों को भूमि के साथ ही साथ खेती करनें के अन्य साधन तथा आवश्यक आर्थिक सहायता भी दी जाय, जिससे कि वे कृषि–कार्य आरम्भ कर सकें। भूमिपतियों से दान में केवल उनकी भूमि ही नहीं, वरन् धन, बैल, कुएँ और कृषि के लिए अन्य आवश्यक सामग्री भी स्वीकार की जा सकती है तथा तत्पश्चात् उसका श्रमिकों में आवंटन किया जा सकता है। भूदान के अन्तर्गत भूमि रहित कृषि श्रमिकों को तो खेती के लिए भूमि मिलेगी ही किन्तु इसके साथ–साथ इस यज्ञ का नैतिक मूल्य भी है। हिंसा एवं उत्पीड़न के स्थान पर भूदान आन्दोलन अहिंसा एवं स्वेच्छा पर आधारित है। यह आन्दोलन त्याग की भावना से ओत–प्रोत है और इसके द्वारा भारतीय जन–समाज में समानता, सद्भावना, एवं सहकारिता की अमूल्य निधि एवं वातावरण उत्पन्न होगा। इसके साथ ही साथ श्रम–दान, वृद्वि–दान, सम्पत्ति दान तथा ग्राम–दान इत्यादि दान भी लिए जा रहे है। हमारे देश में भूमि सुधार के लिए भी इस यज्ञ द्वारा एक सुन्दर वातावरण का निर्माण हो रहा है। किन्तु यह आन्दोलन भूमि रहित कृषि श्रमिकों की समस्त समस्याओं को हल न कर सकेगा। फिर भी इससे बड़ी सहायता मिलेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन आन्दोलनों की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुये ही, योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि इस यज्ञ को पूरी तरह से सहयोग दिया जाये, जिससे कि भूमि रहित कृषि श्रमिकों की एक महत्वपूर्ण समस्या का कुछ हल हो सके।

(5) दासता की प्रथा का उन्मूलन :

भारत के अनेक भागों में कृषि श्रमिकों की स्थिति उनकी अत्यन्त दरिद्रता के कारण, दासों की भाँति हो गई है। इन स्थानों में जमींदार, जागीरदार, मालगुजार, महाजन तथा सुसम्पन्न कृषक इन श्रमिकों को उनकी आवश्यकता के समय कुछ ऋण देकर उन्हें वंश परम्परा के लिए दास बना लेते है। यह प्रथा उन स्थानों में अधिक पाई जाती है, जहाँ निम्न एवं दलित वर्ग के लोगों की अधिकता है। ऐसे क्षेत्रों में महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु केरल, मध्यप्रदेश इत्यादि मुख्य है। बम्बई राज्य में दुबला (Dublas) तथा कुली (Coolies) कहलाने वाले ऐसे लोग है, जिनमें से अनेक परिवार कई पीढ़ियों से अपने स्वामियों के यहाँ दासों की भाँति अपना नीरस जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इन श्रमिकों को विवाह के अवसर पर रूपया बिना ब्याज ऋण के रूप में दिया जाता है और जब तक यह ऋण वापस नहीं चुकाया जाता, तब तक उन्हें साहूकारों के यही दासों की भाँति सेवा करनी पड़ती है। खाने के लिये भोजन और पहनने को कपड़ा मालिकों की ओर से ही मिलता है। इसी प्रान्त में लोगों की स्थिति भी ऐसी

ही है। उन्हें सामान्यत: अनाज दिया जाता है और कभी–कभी गाय–भैंस के गोबर में से अनाज निकाल कर उसका उपयोग करने की अनुमति भी दे दी जाती है। अन्य मामलों में अपने स्वामी का जीवन भर दास बना रहता है और स्वामी उसके लिए एक पत्नी खरीद कर ले देता है। तमिलनाडु प्राप्त के दक्षिण पश्चिम भाग के इजवाह (Izhavas), चिरमस (Chermus), पुलिया (Puleyas) तथा होलिया (Hiliyas) इत्यादि की स्थिति भी दासों जैसी है। पूर्व किनारे की भूमि पर पेडिल मजदूरों को अपने या अपने परिवार के किसी सदस्य के विवाह खर्च के लिये कुछ ऋण दे दिया जाता है। उसके बदले में ये लोग ऋण चुकाने तक साहूकारों के यहाँ काम करने का वायदा करते हैं। उन्हें खाने के लिए निश्चित मात्रा में अनाज मिल जाता है एक बार व 8 वर्ष के बालक को 25 रूपये व कुछ अनाज देकर पेडिल मजदूर बना लिया गया। कर्जदारों की स्थिति इतनी कमजोर होती है कि वे ऋण को चुका नहीं पाते, फलत: इनके वंश के लोग पीढ़ी–दर पीढ़ी दास की तरह काम करते रहते है। जब कोई भूमिपति अपनी भूमि अन्य किसी व्यक्ति को बेच देता है तो इन मजदूरों को भी नये स्वामी के खेतों पर मजदूरी के लिए बदल दिया जाता है और नया स्वामी पुराने स्वामी को पेडिल द्वारा दिये गये ऋण का चुकारा कर देता है। मजदूर के भाग जाने पर ऋण एवं दासता दोनों ही समाप्त हो जाते है। ऐसे मजदूरों को सामन्यत: अनाज के रूप में मजदूरी मिलती है। कुछ गाँवों में खेती करने के लिए 14 एकड़ भूमि दे दी जाती है। बिहार में काम्या, उड़ीसा के चाकर या अन्य नित्य मजदूरों की, जिन्हें उनका मालिक व्यावहारिक रूप में खरीद लेता है, ऐसी स्थिति है। जमींदारी वाले क्षेत्रों में इन मजदूरों को बेगारी के लिए भी विवश किया जाता है। पुराने रियासतों में जहां अर्ध–सामन्त प्रथा है, मजदूरों को नकद नजराना जमींदार के यहां कुछ दिन बेगारी तथा अपने यहाँ की मुर्गियों, बकरियों तथा दूसरे घरेलु जानवरों का एक भाग मुफ्त में त्याग के रूप में जमींदार के यहीं देना पड़ता है।

कृषि–श्रमिकों की वर्तमान दासता को एकदम दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संविधान में दासता एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। काश्तकारी कानून भी बन गये हैं, जिसमें उनके हितों की रक्षा करने की व्यवस्था की गई है। फलत: यह आशा की जाती है कि धीरे– लोग और बेगारी की प्रथा तो समाप्त हो जायेगी किन्तु इन लोगों की अज्ञानता को दूर करने के लिए इन्हें करना भी आवश्यक है। इन मजदूरों में प्रचलित सामाजिक नियम, उनका पिछड़ापन तथा उनकी परवशता को दूर करने से भी दासता की प्रथा समाप्त की जा सकती है। इस नये भारत में सामाजिक लाने के लिए दासता को समाप्त करना एक मुख्य कार्य होना चाहिए। पिछड़े दलित तथा अनुसूचित के लोग ही विशेषकर कृषि मजदूर हैं, अत: प्रथम पंचवर्षिय योजना ने इनकी उन्नति के लिए जिस बड़ी रकम के खर्च करने की व्यवस्था की है, उससे उन्हें सहायता मिलेगी।

(6) मजदूरी की दरें बढ़ाना :

कृषि मजदूरों को वर्तमान समय में मिलने वाली बहुत ही कम मजदूरी की वरों को एक उचित सीमा तक बढ़ाना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में पास किए गए न्यूनतम पगार अधिनियम जोरों से लागू किए जायें और निरीक्षकों की सहायता से देखा जाये कि नियमों का बराबर पालन किया जाता है या नहीं।

(7) बेकारी को दूर करने के लिए.

बेकारी के निराकरण के लिए निम्न उपाय करने आवश्यक हैं–: (अ) देश के उद्योग–धन्धों का प्रादेशिक स्वावलम्बन के आधार पर विकास हो, जिससे कि कृषि पर निर्भर रहने वाली बेकार जनता को काम मिल सके। (आ) कृषि–योग्य बन्जर भूमि को ट्रैक्टरों की सहायता से पुन: कृषि योग्य बनाकर भूमि रहित कृषि– श्रमिकों को सहकारिता के आधार पर बसाया जाए। (इ) कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों–जैसे दुग्धशालाओं, तेल निकालने के कारखानों इत्यादि को खोला जाए। (ई) कृषि श्रमिकों को लगातार काम देने के लिए फसलों को अदल–बदल करने तथा मिश्रित खेती की प्रणाली को अपनाया जाए, जिससे कि वर्ष में एक से अधिक फसल पैदा की जा सके। (उ) कृषि–श्रमिकों को काम की जानकारी देने के श्रम–नियोजन केन्द्रों की स्थापना की जाए। (ऊ) महिला श्रमिकों

को घरेलु कार्यो के लिए सुरक्षित रखा जाए तथा उनके उपयुक्त हल्का–कार्य उन्हें दिया जाए। (ए) सिंचाई में विकास, गहरी खेती तथा कृषि के अंगों में सुधार करने से भी श्रमिकों को काम मिलेगा। दूसरी ओर भूमिपतियों के खेतों में भी उत्पादन में वृद्वि होने से वे अधिक मजदूरी देने में समर्थ हो सकेगें। (ऐ) राज्य का जन–कार्य विभाग भी अपने कार्यो की ठीक प्रकार से योजना। बनाकर कृषि–श्रमिकों को काम देकर उनकी बेकारी को कुछ अंशों में दूर कर सकता है। जंगल काटना सड़के बनाना, ड़हरें तथा कुएँ खोदना इत्यादि कार्य ऐसे समय में प्रारम्भ किये जायें, जबकि कृषि श्रमिकों में मौसमी बेकारी कैली रहती है और उन्हें खेतों में काम नहीं मिलता। (ओ) जैसा कि अनेक राज्यों में हो रहा है, इन लोगों को सामान्य–शिक्षा तथा व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा प्रदान करने के लिए विशेष व्यवस्था एवं सहायता दी जाये।

(8) भूमि प्रणाली का संगठन.

भूमि प्रणाली का सहकारी ग्राम्य प्रबन्ध के आधार पर पुन: संगठन किया जाए, जिससे गांव के अन्य वर्गो के समान कृषि–श्रमिकों का भी जीवन–स्तर ऊँचा हो एवं उनमें अनेक योग्यताएं भी आ सके।

(9) सामुदायिक विकास योजनायें तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा

2 अक्टूबर, 1952 ई. से प्रारम्भ की गई 55 सामुदायिक विकास योजना में तथा 2 अक्टूबर सन् 1953 ई. से प्रारम्भ की गई राष्ट्रीय विस्तार सेवा के कार्य से भी कृषि श्रमिकों की आर्थिक स्थिति के पुनर्सगठन में सहयोग प्राप्त होगा। ये योजनायें जो प्रत्येक जिले एवं गाँव में विकेन्द्रित हैं तथा? जो ग्रामीण जीवन के समस्त पहलुओं पर ध्यान देती हैं, कृषि श्रमिकों का कल्याण करने तथा उनको काम देने न किसी भी तरह पीछे न रहेंगी।

(10) वोकेशनल और तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध.

स्कूलों का ग्रामीणीकरण बेसिक शिक्षा एवं कृषि श्रमिकों के लिए तकनीकी पाठ्यक्रमों की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा बालकों में कृषि के प्रति। रूचि उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए, ग्रामीण बालिकाओं के लिए गृह–विज्ञान, गृहस्थी प्रबन्ध के विषय रखे जायें। कृषि शिक्षा केन्द्रों, रात्रि क्लबों और ग्रीष्म कैम्पों का संगठन किया जाए। ग्रामीण क्षेत्रों में वोकेशनल और तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करने का विशेष महत्व है, क्योंकि इससे कृषि श्रमिक उत्तम ढंग से जीविका कमा सकेंगे, बेकारी घटेगी. उत्पादन बढ़ेगा, शहरों को जाना घटेगा और भूमि रहित कृषि–श्रमिक स्वतन्त्र काश्तकार बन सकेंगे।

(11) ग्रामीण जीवन में आकर्षण की वृद्वि करना :

गाँव के जीवन को सुखी और आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न कार्य किए जा सकते है–अखाड़ों, कीर्तन मण्डलियो गायन–नाटक और खेलकूदों का संगठन करना, ग्रामीण बुजुर्गो और विद्वानों के भाषणों का आयोजन करना, रात्रि–स्कूल चलाना, ग्रामीण पुस्तकालय खोलना। इन कार्यक्रमों से ग्रामीण जनता को शहरी–जीवन की कुछ विशेषताओं का अनुभव होगा।

(12) सामाजिक सुधार–ग्रहो की स्थापना.

समाज की बुराईयों का अध्ययन करके, समाज के सदस्यों का आचरण ठीक रखने के लिए सामाजिक सुधार राह एवं राष्ट्रीय स्व–निर्देशन कार्यक्रम चलाने चाहिए। भारत में जनसंख्या का नियन्त्रण एक प्रमुख सामाजिक प्रश्न है। बर्थ कन्ट्रोल की अज्ञानता तथा अवकाश के दुरूपयोग के फलस्वरूप कृषि श्रमिक की संख्या तेजी से बढ़ रही है। सामाजिक सुधार राह इस विषय में समुचित उपचार कर सकते हैं।

(13) सामाजिक सुरक्षा :

कृषि श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमे की व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें असमर्थता की अवधि के लिए मजदूरी की हानि का हर्जाना और चिकित्सा–सुविधा सम्मिलित है।

(14) **काम के घण्टे व कार्य दशाओं में सुधार :**

कृषि श्रमिकों के कार्य के घन्टों को निश्चित करना चाहिये। इसके लिए आवश्यक कानून बनाया जाए। भूमि सुधार समिति ने इस दिशा में निम्न सुझाव दिये हैं– (1) काम के घन्टे विभिन्न मौसमों और स्थानों के अनुसार होने चाहियें (2) आठ घन्टे कार्य करने के बाद अतिरिक्त वेतन मिलना चाहिये (3) श्रम के घन्टे अधिक से अधिक गर्मी में 10, वर्षा में 11 तथा सर्दियों में 9 घन्टे होने चाहिए (4) बच्चों और महिलाओं को रात में काम नहीं करना चाहिये।

सुधार हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयास

(efforts made by Government for Improvement)

सरकार द्वारा इन लोगों की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए जाते रहे हैं। अनेक समितियाँ बनीं, विधान बने, कल्याणकारी योजनाऐं बनीं व पंचवर्षीय योजनाओं में इन पर पूरा ध्यान गया– इन सब पर विस्तार से विचार किया जा सकता है।

(1) कृषि श्रमिकों को भूमि पर बसाना (Rehabilitation of Landless Labours on Land)

सरकार ने इन श्रमिकों की समस्याओं पर स्वतन्त्रता–प्राप्ति के अन्तर से ही प्रयास आरम्भ कर दिए थे– (प) इनके लिए सन् 1984 में कृषि सुधार समिति की सिफारिश पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में मध्यस्थ को समाप्त कर दिया गया। इससे अतीत काल से चली आ रही भूमि–व्यवस्था के कारण भू–श्रमिकों का जो शोषण हो रहा था उसे रोकने का प्रयास किया गया है। सन् 1951 में प्रथम खेतिहर श्रम जाँच समिति बनी जिसने ग्रामीण समस्याओं का विस्तार से अध्ययन किया व फसलों का उत्पादन कर रहे व्यक्तियों को खेतिहर श्रमिक बताया। सन् 1957 में उन श्रमिकों को भी खेतिहर श्रमिकों में शामिल कर लिया गया जो खेती के अतिरिक्त पशुपालन आदि अन्य कार्य करते थे। इस प्रकार सन् 1957 में राष्ट्रीय विकास परिषद ने यह सुझाव दिया कि भूदान यश तथा अन्य उपायों से प्राप्त भूमि को भूमिहीनों में बाँटकर 300000 परिवारों का पुनर्वास किया जाए।

(2) मध्यस्थों की समाप्ति व काश्तकार कानूनों में सुधार

(Abolition of Mediatiors and Reforms in Cultivatin Act)

मध्यस्थों के कारण इन श्रमिकों का अत्यधिक शोषण हो रहा था– ने इन मध्यस्थों की समाप्ति अधिनियम बनाकर कर दी है, जिसके परिणामस्वरूप दो करोड़ से काश्तकार भूमि के स्वयं मालिक बन गए हैं। मध्यस्थ देश के 40: क्षेत्रों में फैले हुए थे। मध्यस्थों की समाप्ति से काश्तकारों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। लगभग 57.7 लाख हैक्टेयर भूमि को एक करोड़ काश्तकारों में बांटा गया। मध्यस्थों को भूमि के बदले क्षतिपूर्ति का भुगतान कुछ नकद व कुछ बॉण्डों के रूप में किया गया। (बौण्डों में 25: वार्षिक दर से व्याज भी दिया गया। (ll) सभी राज्यों में काश्तकारी कानूनों में सुधार किए गए है, जिनमें भू स्वामित्व की रक्षा, लगान में कमी व स्थायी सुधार हेतु मुआवजे की भी व्यवस्था की गई है। इसके साथ ही पहरेदारी की सुरक्षा और आसामी को स्वामित्व के अधिकार प्रदान किए गए (iii) चकबन्दी के अन्तर्गत भूमि के बिखरे हुए टुकड़ों को एकत्र किया गया। (iv) स्थ्यभिलेखों को आधुनिक बनाया गया है। इसके अतिरिक्त जमींदारी उन्मूलन अधिनियम एवं भूमि–सीलिंग एक्ट पारित किया गया।

(3) यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)

सन् 1948 में बने न्यूनतम मजदूरी कानून को कृषि के क्षेत्र में भी लाग किया गया लेकिन श्रमिकों के संगठित होकर प्रयास न करने के अभाव में यह कारगार सिद्व न हो सका। नवीन बीस सूत्री कार्यक्रम के अनुसार कृषि क्षेत्र में श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गई है उसको कड़ाई से लागू करना चाहिए। इसी प्रकार से

बन्धुआ श्रम–व्यवस्था (समाप्ति) कानून, 1976 को भी कड़ाई से लागू करना चाहिए। इनके द्वारा कृषि श्रमिकों एवं सीमान्त कृषकों की स्थिति सुधारने में सहायता मिलेगी।

(4) आवास सुविधा (Housing Facility)

कृषि श्रमिकों को मकान बनाने हेतु भूमि उपलब्ध कराने की योजना–रष्ट्रिय कार्यक्रम का एक अंग है। 30 सितम्बर, 1981 तक 86.77 लाख भूमिहीन श्रमिक परिवारों को मकान बनाने के लिए भूमि दी जा चुकी है। इनमें से 15.50 लाख परिवारों ने अपने मकान बना लिए हैं। छठी पंचवर्षिय योजना में शेष 68 लाख भूमिहीन परिवारों को मकान बनाने के लिए 353.50 करोड़ रूपये देने का कार्यक्रम रखा गया था, प्रति परिवार–निर्माण के लिए 500 रूपये देने का प्रावधान है।

(5) श्रम संगठन (Labour Organisation,)

खेतीहर श्रमिकों को संगठित करने के लिए छठी पंचवर्षीय योजना में 65 ' रूपयों का प्रावधान रखा गया है। इसके लिए एक कार्यकर्त्ता की नियुक्ति का प्रावधान था जिसका श्रमिकों के अधिकारों व उत्तरदायित्वों के महत्व को स्पष्ट करना था जिससे उनमें जागृति आ सके। इस कार्यकर्त्ता को बदले में कुछ मानदेय प्रदान करना होगा।

अन्य उपाय (Other Remedias) खेतिहार श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से सरकार ने अन्य उपाय किए हैं। पाँचवीं व छठी योजना में कृषि भूमि की चकबन्दी सम्बन्धी कानून पास किये हैं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में देश के भूमि बंजर–1 करोड़ 70 लाख हैक्टेयर कृषि योग्य परती भूमि व 2 करोड़ हैक्टेयर पुरानी और बंजर भूमि को शामिल करके बढ़ाये जाने का प्रावधान है। इरा तरह अनुमानत: 35 करोड़ से 4 करोड़ हैक्टेयर तक कृषियोग्य भूमि उपलब्ध हो सकती है। 20 सूत्री कार्यक्रम में पुन: भूमि सुधारों को प्रमुखता दी गई है।

इसके अतिरिक्त वाणिज्य के आधार पर चलाये जा रहे कृषि फार्मो पर भी औद्योगिक विवाद अधिनियम, 947 लागू किया गया। कर्मचारी भविष्य निधि और विभिन्न प्रावधान अधिनियम, 1952 उन खेतीहर श्रमिकों र लागू होता है, जो विशिष्ट बागानों में काम करते हैं। क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1921 भी इन पर लागू किया गया

25 जनवरी, 1978 को ग्रामीण असंगठित श्रमिकों से सम्बन्धित एक सम्मेलन श्रमिकों की समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया गया, जिसमें इनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए सरकार को सुझाव देने के लिए एक केन्द्रीय समिति बुलाई गई। भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ कन्वेन्शन संख्या 141 पर हस्ताक्षर किए हैं जिससे वे देश ग्रामीण श्रमिकों के लिए एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र संस्था की स्थापना करेंगे। इसके अतिरिक्त सिंचाई सुविधाओं का विस्तार, ग्रामों में उद्योगों का विकास, श्रमिकों के लिए शिक्षा व प्रशिक्षण, चिकित्सा, मनोरंजन, जल एवं सहकारी संगठन की व्यवस्था की गई है।

12.11 सारांश :

इस प्रकार सम्पूर्ण इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह आपने जान लिया होगा कि अर्थव्यवस्था कोई भी हो स्वतन्त्र, मिश्रित या समाजीकृत श्रम समस्यायें सभी में विद्यमान हैं। हमारे देश की अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था है। यहाँ केवल निजी क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सार्वजनिक अथवा सरकारी क्षेत्र में ही अनेक कारखाने या उद्योग धन्धे हैं। यदि 'श्रम' एक मानव तत्व न होता, तो उसका इतना अधिक महत्व नहीं था, किन्तु मानव तत्व से सम्बन्धित होने के कारण उसकी विशेषतायें सभी अर्थ व्यवस्थाओं में मौलिक रूप से बनी रहती है और श्रम समस्यायें अनिवार्यतः: उदय होती है।

12.12 शब्दावली :

1. श्रमिक– जो व्यक्ति शारीरिक श्रम के द्वारा अपना जीवन यापन करता है।

2. संगठित श्रमिक– श्रमिक संघों में एकत्रित होकर अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करते हैं।
3. असंगठित श्रमिक– जो श्रमिक बिखरे रहते हैं अर्थात् एकता का अभाव रहता है।
4. औद्योगिक श्रमिक– जो मजदूर उद्योगों में काम करते हैं।
5. कृषि श्रमिक– जो खेती के धन्धे में मजदूरी का काम करते हैं।
6. बन्धुआ मजदूर– कृषि श्रमिक जिनकी दशायें दासों की भाँति हैं।

12.13 बोध प्रश्न :

1. संगठित श्रमिकों से क्या तात्पर्य है? समझाइये।
2. भारत में श्रम समस्याओं के उत्पन्न होने के कारण बताइये।
3. कृषि श्रमिकों की समस्याओं को बताते हुए उनके निवारण के उपाय बताइये।

12.14 संदर्भ ग्रन्थ :

1. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश, 2007, समकालीन भारत में सामाजिक समस्यायें, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
2. गुप्ता, एम.एल., शर्मा, डी.डी, 2007, भारतीय सामाजिक समस्यायें, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा।
3. सक्सेना, एस.सी., 1974, श्रम समस्यायें और सामाजिक सुरक्षा, रस्तोगी एण्ड कम्पनी, मेरठ।
4. गुप्त, मुंशी, वर्ष औद्योगिक समाजशास्त्र, सरस्वती मुद्रण, दिल्ली।